लेखक

प्रेमचंद

अनुक्रम

दो शब्द

प्रेमचन्द के साहित्य और भाषा-संबंधी निबन्धों-भाषणो आदि का एक सग्रह 'कुछ विचार' के नाम से पहले छप चुका है। लेकिन उसमे दी गयी सामग्री के अलावा भी सामग्री थी जो 'हस' की पुरानी फाइलों मे दबी पड़ी थी और अब तक किसी संकलन मे नही आयी थी। वे अधिकाश मे सम्पादकीय टिप्पणियाँ हैं। उनमें कुछ टिप्पणियाँ बड़ी हैं और कुछ छोटी, कुछ टिप्पणियाँ एकदम स्वतन्त्र हैं और कुछ मे किसी तात्कालिक साहित्यिक घटना या वादविवाद ने निमित्त का काम किया है। वह जो भी हो, सब मे प्रेमचद की आवाज बोल रही है और सब किसी न किसी महत्वपूर्ण साहित्यिक-सास्कृतिक प्रश्न पर रोशनी डालती हैं। इसलिए इस सामग्री का सकलन करते समय हमने और सब बातों को छोड़कर अपनी दृष्टि केवल इस बात पर रक्खी है कि ऐसी एक पक्ति भी छूटने न पाये जिससे किसी साहित्यिक प्रश्न पर रोशनी पड़ती हो या प्रेमचद का स्पष्ट अभिमत मालूम होता हो। जो टिप्पणियाँ सामयिक विषयों को लेकर हैं, उनको लेते समय भी हमारी दृष्टि यही है कि यद्यपि उनकी सामयिकता अब कालप्रवाह मे बह गयी है तथापि उनके भीतर, किसी भी निमित्त से, कही हुई मूल बात का महत्व आज भी है और आगे भी रहेगा और इसलिए उसे पाठकों तक पहुँचना चाहिए।

हमे विश्वास है कि यह नया, पूर्णतर, सकलन साहित्यिक विचारक प्रेमचंद और साहित्यकार प्रेमचद को और अच्छी तरह समझने मे सहायक होगा ।

—संकलनकर्ता

साहित्यिक समस्याएं

साहित्य का उद्देश्य

सज्जनो,

यह सम्मेलन हमारे साहित्य के इतिहास मे एक स्मरणीय घटना है। हमारे सम्मेलनो और अजुमनो मे अब तक आम तौर पर भाषा और उसके प्रचार पर ही बहस की जाती रही है। यहाँ तक कि उर्दू और हिन्दी का जो आरम्भिक साहित्य मौजूद है, उसका उद्देश्य विचारों और भावो पर असर डालना नहीं, केवल भाषा का निर्माण करना था। वह भी एक बडे महत्व का कार्य था। जब तक भाषा एक स्थायी रूप न प्राप्त कर ले, उसमे विचारों और भावो को व्यक्त करने की शक्ति ही कहाँ से आयेगी? हमारी भाषा के 'पायनियरो' ने—रास्ता साफ करने वालों ने—हिन्दुस्तानी-भाषा का निर्माण करके जाति पर जो एहसान किया है, उसके लिए हम उनके कृतज्ञ न हों तो यह हमारी कृतघ्नता होगी।

भाषा साधन है, साध्य नहीं। अब हमारी भाषा ने वह रूप प्राप्त कर लिया है कि हम भाषा से आगे बढकर भाव की ओर ध्यान दें और इस पर विचार करे कि जिस उद्देश्य से यह निर्माण-कार्य आरम्भ किया गया था, वह क्योकर पूरा हो। वही भाषा, जिसमे आरम्भ मे 'बागो-बहार' और 'बैताल-पचीसी' की रचना ही सबसे बड़ी साहित्य-सेवा थी, अब इस योग्य हो गयी है कि उसमे शास्त्र और विज्ञान के प्रश्नों की भी विवेचना की जा सके और यह सम्मेलन इस सचाई की स्पष्ट स्वीकृति है।

भाषा बोल-चाल की भी होती है और लिखने की भी। बोल-चाल की भाषा तो मीर अम्मन और लल्लूलाल के जमाने मे भी मौजूद थी

पर उन्होंने जिस भाषा की दाग बेल डाली, वह लिखने की भाषा थी और वही साहित्य है। बोल-चाल से हम अपने करीब के लोगो पर अपने विचार प्रकट करते है—अपने हर्ष-शोक के भावो का चित्र खींचते है। साहित्यकार वही काम लेखनी-द्वारा करता है। हाँ, उसके श्रोताओ की परिधि बहुत विस्तृत होती है, और अगर उसके बयान मे सचाई है, तो शताब्दियो और युगो तक उसकी रचनाएँ हृदयो को प्रभावित करती रहती है।

परन्तु मेरा अभिप्राय यह नही है कि जो कुछ लिख दिया जाय, वह सब का सब साहित्य है। साहित्य उसी रचना को कहेगे जिसमे कोई सचाई प्रकट की गयी हो, जिसकी भाषा प्रौढ़, परिमार्जित एव सुन्दर हो और जिसमे दिल और दिमाग पर असर डालने का गुण हो। और साहित्य मे यह गुण पूर्ण रूप से उसी अवस्था मे उत्पन्न होता है, जब उसमे जीवन की सचाइयाँ और अनुभूतियाँ व्यक्त की गयी हों। तिलस्माती कहानियो, भूत-प्रेत की कथाओ और प्रेम-वियोग के आख्यानो से किसी जमाने मे हम भले ही प्रभावित हुए हो; पर अब उनमे हमारे लिए बहुत कम दिलचस्पी है। इसमे सन्देह नही कि मानव-प्रकृति का मर्मज्ञ साहित्यकार राजकुमारो की प्रेम-गाथाओ और तिलस्माती कहानियो मे भी जीवन की सचाइयाँ वर्णन कर सकता है, और सौन्दर्य की सृष्टि कर सकता है, परन्तु इससे भी इस सत्य की पुष्टि ही होती है कि साहित्य मे प्रभाव उत्पन्न करने के लिए यह आवश्यक है कि वह जीवन की सचाइयो का दर्पण हो। फिर आप उसे जिस चौखटे मे चाहे, लगा सकते है—चिड़े की कहानी और गुलोबुलबुल की दास्तान भी उसके लिए उपयुक्त हो सकती है।

साहित्य की बहुत-सी परिभाषाएँ की गयी है; पर मेरे विचार से उसकी सर्वोत्तम परिभाषा 'जीवन की आलोचना' है। चाहे वह निबन्ध के रूप मे हो, चाहे कहानियो के, या काव्य के, उसे हमारे जीवन की आलोचना और व्याख्या करनी चाहिए।

हमने जिस युग को अभी पार किया है, उसे जीवन से कोई मतलब न था। हमारे साहित्यकार कल्पना की एक सृष्टि खड़ी करके उसमें मनमाने तिलस्म बाँधा करते थे। कहीं फिसानये अजायब की दास्तान थी, कहीं बोस्ताने ख़याल की और कहीं चन्द्रकान्ता-सन्तति की। इन आख्यानो का उद्देश्य केवल मनोरञ्जन था और हमारे अद्भुत-रस-प्रेम की तृप्ति, साहित्य का जीवन से कोई लगाव है, यह कल्पनातीत था। कहानी कहानी है, जीवन जीवन। दोनो परस्पर-विरोधी वस्तुएँ समझी जाती थीं। कवियो पर भी व्यक्तिवाद का रग चढ़ा हुआ था। प्रेम का आदर्श वासनाओ को तृप्त करना था, और सौन्दर्य का आँखों को। इन्ही शृङ्गारिक भावो को प्रकट करने मे कवि-मडली अपनी प्रतिभा और कल्पना के चमत्कार दिखाया करती थी। पद्य मे कोई नयी शब्द-योजना, नयी कल्पना का होना दाद पाने के लिए काफी था—चाहे वह वस्तु-स्थिति से कितनी ही दूर क्यों न हो। आशियाना और क़फस, बर्क़ और खिरमन की कल्पनाएँ, विरह दशाओ के वर्णन मे निराशा और वेदना की विविध अवस्थाएँ, इस खूबी से दिखायी जाती थीं कि सुनने वाले दिल थाम लेते थे। और आज भी इस ढग की कविता कितना लोक-प्रिय है, इसे हम और आप खूब जानते हैं।

निस्सन्देह, काव्य और साहित्य का उद्देश्य हमारी अनुभूतियों की तीव्रता को बढाना है, पर मनुष्य का जीवन केवल स्त्री-पुरुष-प्रेम का जीवन नही है। क्या वह साहित्य, जिसका विषय शृङ्गारिक मनोभावों और उनसे उत्पन्न होनेवाली विरह व्यथा निराशा आदि तक ही सीमित हो—जिसमे दुनिया और दुनिया की कठिनाइयो से दूर भागना ही जीवन की सार्थकता समझी गयी हो, हमारी विचार-और भाव-सम्बन्धी आवश्यकताओ को पूरा कर सकता है? शृङ्गारिक मनोभाव मानव-जीवन का एक अंग मात्र है, और जिस साहित्य का अधिकाश इसी से सम्बन्ध रखता हो, वह उस जाति और उस युग के लिए गर्व करने की वस्तु नहीं हो सकता और न उसकी सुरुचि का ही प्रमाण हो सकता है।

क्या हिन्दी और क्या उर्दू—कविता मे दोनो की एक ही हालत थी। उस समय साहित्य और काव्य के विषय मे जो लोक-रुचि थी, उसके प्रभाव से अलिप्त रहना सहज न था। सराहना और कद्रदानी की हवस तो हर एक को होती है। कवियों के लिए उनकी रचना ही जीविका का साधन थी। और कविता की कद्रदानी रईसो और अमीरो के सिवा और कौन कर सकता है? हमारे कवियो को साधारण जीवन का सामना करने और उसकी सचाइयो से प्रभावित होने के या तो अवसर ही न थे, या हर छोटे-बड़े पर कुछ ऐसी मानसिक गिरावट छायी हुई थी कि मानसिक और बौद्धिक जीवन रह ही न गया था।

हम इसका दोष उस समय के साहित्यकारो पर ही नहीं रख सकते। साहित्य अपने काल का प्रतिबिम्ब होता है। जो भाव और विचार लोगो के हृदयो को स्पन्दित करते है, वही साहित्य पर भी अपनी छाया डालते है। ऐसे पतन के काल में लोग या तो आशिकी करते है, या अध्यात्म और वैराग्य मे मन रमाते है। जब साहित्य पर ससार की नश्वरता का रंग चढ़ा हो, और उसका एक एक शब्द नैराश्य मे डूबा हो, समय की प्रतिकूलता के रोने से भरा हो और शृङ्गारिक भावो का प्रतिबिम्ब बन गया हो, तो समझ लीजिये कि जाति जड़ता और ह्रास के पजे मे फॅस चुकी है और उसमे उद्योग तथा संघर्ष का बल बाकी नही रहा; उसने ऊॅचे लक्ष्यों की ओर से ऑखें बन्द कर ली है और उसमे से दुनिया को देखने-समझने की शक्ति लुप्त हो गयी है।

परन्तु हमारी साहित्यिक रुचि बड़ी तेजी से बदल रही है। अब साहित्य केवल मन-बहलाव की चीज नही है, मनोरञ्जन के सिवा उसका और भी कुछ उद्देश्य है। अब वह केवल नायक-नायिका के संयोग-वियोग की कहानी नहीं सुनाता; किन्तु जीवन की समस्याओ पर भी विचार करता है, और उन्हे हल करता है। अब वह स्फूर्ति या प्रेरणा के लिए

अद्भुत आश्चर्यजनक घटनाएँ नही ढूँढ़ता और न अनुप्रास का अन्वेषण करता है; किन्तु उसे उन प्रश्नो से दिलचस्पी है, जिनसे समाज या व्यक्ति प्रभावित होते हैं। उसकी उत्कृष्टता की वर्तमान कसौटी अनुभूति की वह तीव्रता है, जिससे वह हमारे भावो और विचारो मे गति पैदा करता है।

नीति-शास्त्र और साहित्य-शास्त्र का लक्ष्य एक ही है—केवल उपदेश की विधि मे अन्तर है। नीति-शास्त्र तर्कों और उपदेशो के द्वारा बुद्धि और मन पर प्रभाव डालने का यत्न करता है, साहित्य ने अपने लिए मानसिक अवस्थाओ और भावों का क्षेत्र चुन लिया है। हम जीवन मे जो कुछ देखते है, या जो कुछ हम पर गुजरती है, वही अनुभव और वही चोटे कल्पना मे पहुँचकर साहित्य सृजन की प्रेरणा करती हैं। कवि या साहित्यकार मे अनुभूति की जितनी तीव्रता होती है, उसकी रचना उतनी ही आकर्षक और ऊँचे दर्जे की होती है। जिस साहित्य से हमारी सुरुचि न जागे, आध्यात्मिक और मानसिक तृप्ति न मिले, हममें शक्ति और गति न पैदा हो, हमारा सौन्दर्य-प्रेम न जाग्रत हो—जो हममे सच्चा सङ्कल्प और कठिनाइयो पर विजय पाने की सच्ची दृढता न उत्पन्न करे, वह आज हमारे लिए बेकार है, वह साहित्य कहाने का अधिकारी नही।

पुराने जमाने मे समाज की लगाम मजहब के हाथ मे थी। मनुष्य की आध्यात्मिक और नैतिक सभ्यता का आधार धार्मिक आदेश था और वह भय या प्रलोभन से काम लेता था—पुण्य-पाप के मसले उसके साधन थे।

अब साहित्य ने यह काम अपने जिम्मे ले लिया है और उसका साधन सौन्दर्य-प्रेम है। वह मनुष्य मे इसी सौन्दर्य-प्रेम को जगाने का यत्न करता है। ऐसा कोई मनुष्य नहीं जिसमे सौन्दर्य की अनुभूति न हो। साहित्यकार मे यह वृत्ति जितनी ही जाग्रत और सक्रिय होती है, उसकी रचना उतनी ही प्रभावमयी होती है। प्रकृति-निरीक्षण और

अपनी अनुभूति की तीक्ष्णता की बदौलत उसके सौन्दर्य-बोध मे इतनी तीव्रता आ जाती है कि जा कुछ असुन्दर है, अभद्र है, मनुष्यता से रहित है, वह उसके लिए असह्य हो जाता है। उस पर वह शब्दो और भावो की सारी शक्ति से वार करता है। यो कहिये कि वह मानवता, दिव्यता और भद्रता का बाना बाँधे होता है। जो दलित है, पीड़ित है, वञ्चित है—चाहे वह व्यक्ति हो या समूह, उसकी हिमायत और वकालत करना उसका फर्ज है। उसकी अदालत समाज है। इसी अदालत के सामने वह अपना इस्तगासा पेश करता है और उसकी न्याय-वृत्ति तथा सौन्दर्य-वृत्ति को जाग्रत करके अपना यत्न सफल समझता है।

पर साधारण वकीलो की तरह साहित्यकार अपने मुवक्किल की ओर से उचित-अनुचित सब तरह के दावे नहीं पेश करता, अति-रञ्जना से काम नहीं लेता, अपनी ओर से बातें गढ़ता नही। वह जानता है कि इन युक्तियो से वह समाज की अदालत पर असर नहीं डाल सकता। उस अदालत का हृदय-परिवर्तन तभी सम्भव है, जब आप सत्य से तनिक भी विमुख न हों, नही तो अदालत की धारणा आपकी ओर से खराब हो जायगी और वह आपके खिलाफ फैसला सुना देगी। वह कहानी लिखता है, पर वास्तविकता का ध्यान रखते हुए; मूर्ति बनाता है पर ऐसी कि उसमे सजीवता हो और भावव्यञ्जकता भी—वह मानव-प्रकृति का सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करता है, मनो-विज्ञान का अध्ययन करता है और इसका यत्न करता है कि उसके पात्र हर हालत मे और हर मौके पर इस तरह आचरण करे, जैसे रक्त मास का बना मनुष्य करता है। अपनी सहज सहानुभूति और सौन्दर्य-प्रेम के कारण वह जीवन के उन सूक्ष्म स्थानो तक जा पहुँचता है, जहाँ मनुष्य अपनी मनुष्यता के कारण पहुचने मे असमर्थ होता है।

आधुनिक साहित्य मे वस्तु-स्थिति-चित्रण की प्रवृत्ति इतनी बढ़ रही है कि आज की कहानी यथासम्भव प्रत्यक्ष अनुभवो की सीमा के बाहर

नहीं जाती। हमे केवल इतना सोचने से ही सन्तोष नहीं होता कि मनोविज्ञान की दृष्टि से सभी पात्र मनुष्यों से मिलते-जुलते है; बल्कि हम यह इत्मीनान चाहते हैं कि वे सचमुच के मनुष्य हैं, और लेखक ने यथासम्भव उनका जीवन-चरित्र ही लिखा है क्योंकि कल्पना के गढे हुए आदमियों मे हमारा विश्वास नहीं है : उनके कार्यो और विचारों से हम प्रभावित नही होते। हमे इसका निश्चय हो जाना चाहिये कि लेखक ने जो सृष्टि की है, वह प्रत्यक्ष अनुभवो के आधार पर की गई है और अपने पात्रो की जबान से वह खुद बोल रहा है। इसीलिए साहित्य को कुछ समालोचको ने लेखक का मनोवैज्ञानिक जीवन चरित्र कहा है।

एक ही घटना या स्थिति से सभी मनुष्य समान रूप मे प्रभावित नहीं होते। हर आदमी की मनोवृत्ति और दृष्टिकोण अलग है। रचना कौशल इसी मे है कि लेखक जिस मनोवृत्ति या दृष्टिकोण से किसी बात को देखे, पाठक भी उसमे उससे सहमत हो जाय। यही उसकी सफलता है। इसके साथ ही हम साहित्यकार से यह भी आशा रखते हैं कि वह अपनी बहुज्ञता और अपने विचारो की विस्तृति से हमे जाग्रत करे, हमारी दृष्टि तथा मानसिक परिधि को विस्तृत करे—उसकी दृष्टि इतनी सूक्ष्म, इतनी गहरी और इतनी विस्तृत हो कि उसकी रचना से हमे आध्यात्मिक आनन्द और बल मिले।

सुधार को जिस अवस्था मे वह हो, उससे अच्छी अवस्था आने की प्रेरणा हर आदमी मे मौजूद रहती है। हममे जो कमजोरियाँ है वह मर्ज की तरह हमसे चिमटी हुई है। जैसे शारीरिक स्वास्थ्य एक प्राकृतिक बात है और रोग उसका उलटा उसी तरह नैतिक और मानसिक स्वास्थ्य भी प्राकृतिक बात है और हम मानसिक तथा नैतिक गिरावट से उसी तरह सन्तुष्ट नहीं रहते, जैसे कोई रोगी अपने रोग से सन्तुष्ट नहीं रहता। जैसे वह सदा किसी चिकित्सक की तलाश मे रहता है, उसी तरह हम भी इस फिक्र मे रहते हैं कि किसी तरह अपनी कमजोरियों

को परे फेंककर अधिक अच्छे मनुष्य बने। इसीलिए हम साधु-फकीरों की खोज मे रहते है, पूजा-पाठ करते है, बड़े-बूढ़ो के पास बैठते हैं, विद्वानों के व्याख्यान सुनते है और साहित्य का अध्ययन करते है।

और हमारी सारी कमजोरियो की जिम्मेदारी हमारी कुरुचि और प्रेम-भाव से वञ्चित होने पर है। जहाँ सच्चा सौन्दर्य-प्रेम है, जहाँ प्रेम की विस्तृति है, वहाँ कमजोरियाँ कहाँ रह सकती है? प्रेम ही तो आध्यात्मिक भोजन है और सारी कमजोरियाँ इसी भोजन के न मिलने अथवा दूषित भोजन के मिलने से पैदा होती हैं। कलाकार हममे सौन्दर्य की अनुभूति उत्पन्न करता है और प्रेम की उष्णता। उसका एक वाक्य, एक शब्द, एक सकेत, इस तरह हमारे अन्दर जा बैठता है कि हमारा अन्तःकरण प्रकाशित हो जाता है। पर जब तक कलाकार खुद सौन्दर्य-प्रेम से छककर मस्त न हो और उसकी आत्मा स्वय इस ज्योति से प्रकाशित न हो, वह हमे यह प्रकाश क्योकर दे सकता है?

प्रश्न यह है कि सौन्दर्य है क्या वस्तु? प्रकटतः यह प्रश्न निरर्थक सा मालूम होता है क्योंकि सौन्दर्य के विषय मे हमारे मन मे कोई शंका-सन्देह नहीं। हमने सूरज का उगना और डूबना देखा है, ऊषा और सन्ध्या की लालिमा देखी है, सुन्दर सुगन्धि-भरे फूल देखे हैं, मीठी बोलियाँ बोलनेवाली चिड़ियाँ देखी हैं, कल-कल निनादिनी नदियाँ देखी हैं, नाचते हुए झरने देखे है—यही सौन्दर्य है।

इन दृश्यो को देखकर हमारा अन्तःकरण क्यो खिल उठता है? इसलिए कि इनमे रंग या ध्वनि का सामजस्य है। बाजो का स्वर-साम्य अथवा मेल ही संगीत की मोहकता का कारण है। हमारी रचना ही तत्त्वो के समानुपात मे सयोग से हुई है; इसलिए हमारी आत्मा सदा उसी साम्य तथा सामंजस्य की खोज मे रहती है। साहित्य कलाकार के आध्यात्मिक सामंजस्य का व्यक्त रूप है और सामजस्य सौन्दर्य की सृष्टि करता है, नाश नहीं। वह हममे वफादारी, सचाई, सहानुभूति, न्यायप्रियता और ममता के भावो की पुष्टि करता है। जहाँ ये भाव

है, वहीं दृढ़ता है और जीवन है, जहाँ इनका अभाव है वहीं फूट, विरोध, स्वार्थपरता है—द्वेष, शत्रुता और मृत्यु है। यह बिलगाव, विरोध, प्रकृति-विरुद्ध जीवन के लक्षण हैं, जैसे रोग प्रकृति-विरुद्ध आहार-विहार का चिह्न है। जहाँ प्रकृति से अनुकूलता और साम्य है, वहाँ सकीर्णता और स्वार्थ का अस्तित्व कैसे सम्भव होगा ? जब हमारी आत्मा प्रकृति के मुक्त वायुमण्डल मे पालित-पोषित होती है, तो नीचता-दुष्टता के कीडे अपने आप हवा और रोशनी से मर जाते है। प्रकृति से अलग होकर अपने को सीमित कर लेने से ही ये सारी मानसिक और भावगत बीमारियाँ पैदा होती हैं। साहित्य हमारे जीवन को स्वाभाविक और स्वाधीन बनाता है। दूसरे शब्दो में, उसी की बदौलत मन का सस्कार होता है। यही उसका मुख्य उद्देश्य है।

'प्रगतिशील लेखक-संघ', यह नाम ही मेरे विचार से गलत है। साहित्यकार या कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है। अगर यह उसका स्वभाव न होता, तो शायद वह साहित्यकार ही न होता। उसे अपने अन्दर भी एक कमी महसूस होती है और बाहर भी। इसी कमी को पूरा करने के लिए उसकी आत्मा बेचैन रहती है। अपनी कल्पना में वह व्यक्ति और समाज को सुख और स्वच्छन्दता की जिस अवस्था मे देखना चाहता है, वह उसे दिखाई नहीं देती। इसलिए, वर्तमान मानसिक और सामाजिक अवस्थाओ से उसका दिल कुढता रहता है। वह इन अप्रिय अवस्थाओं का अन्त कर देना चाहता है, जिससे दुनिया मे जीने और मरने के लिये इससे अधिक अच्छा स्थान हो जाय। यही वेदना और यही भाव उसके हृदय और मस्तिष्क को सक्रिय बनाये रखता है। उसका दर्द से भरा हृदय इसे सहन नहीं कर सकता कि एक समुदाय क्यो सामाजिक नियमो और रूढ़ियो के बन्धन मे पड़कर कष्ट भोगता रहे ? क्यो न ऐसे सामान इकट्ठा किये जायँ कि वह गुलामी और गरीबी से छुटकारा पा जाय ? वह इस वेदना को जितनी बेचैनी के साथ अनुभव करता है, उतना ही उसकी रचना मे जोर और सचाई

पैदा होती है। अपनी अनुभूतियो को वह जिस क्रमानुपात मे व्यक्त करता है, वही उसकी कला-कुशलता का रहस्य है। पर शायद इस विशेषता पर जोर देने की जरूरत इसलिए पडी कि प्रगति या उन्नति से प्रत्येक लेखक या ग्रन्थकार एक ही अर्थ नही ग्रहण करता। जिन अवस्थाओ को एक समुदाय उन्नति समझ सकता है, दूसरा समुदाय असन्दिग्ध अवनति मान सकता है, इसलिए कि यह साहित्यकार अपनी कला को किसी उद्देश्य के अधीन नहीं करना चाहता। उसके विचारो मे कला केवल मनोभावो के व्यक्तीकरण का नाम है, चाहे उन भावो से व्यक्ति या समाज पर कैसा ही असर क्यो न पडे।

उन्नति से हमारा तात्पर्य उस स्थिति से है, जिससे हममे दृढता और कर्म-शक्ति उत्पन्न हो, जिससे हमे अपनी दुःखावस्था की अनुभूति हो, हम देखें कि किन अन्तर्बाह्य कारणो से हम इस निर्जीवता और ह्रास की अवस्था को पहुँच गये, और उन्हे दूर करने की कोशिश करें।

हमारे लिए कविता के वे भाव निरर्थक हैं, जिनसे संसार की नश्वरता का आधिपत्य हमारे हृदय पर और दृढ हो जाय, जिनसे हमारे हृदयो मे नैराश्य छा जाय। वे प्रेम-कहानियाँ, जिनसे हमारे मासिक-पत्रों के पृष्ठ भरे रहते है, हमारे लिए अर्थहीन है, अगर वे हममे हरकत और गरमी नहीं पैदा करतीं। अगर हमने दो नवयुवको की प्रेम-कहानी कह डाली, पर उससे हमारे सौन्दर्य-प्रेम पर कोई असर न पडा और पडा भी तो केवल इतना ही कि हम उनकी विरह व्यथा पर रोये, तो इसमे हममे कौन-सी मानसिक या रुचि सम्बन्धी गति पैदा हुई? इन बातों से किसी जमाने मे हमे भावावेश हो जाता रहा हो तो हो जाता रहा हो पर आज के लिए वे बेकार हैं। इस भावोत्तेजक कला का अब जमाना नहीं रहा। अब तो हमे उस कला की आवश्यकता है, जिसमे कर्म का सन्देश हो। अब तो हजरते इकबाल के साथ हम भी कहते हैं—

रमूज़े हयात जोई जुज़दर तपिश नयाबी,
दरकुलज़ुम आरमीदन नगस्त आबे जूरा।

ब आशियाँ न नशीनम जे लज्ज़ते परवाज,
गहे बशाखे गुलम गहे बरलबे जूयम।

[अर्थात्, अगर तुझे जीवन के रहस्य की खोज है, तो वह तुझे सघर्ष के सिवा और कही नहीं मिलने का—सागर मे जाकर विश्राम करना नदी के लिए लज्जा की बात है। आनन्द पाने के लिए मैं घोसले मे कभी बैठता नहीं,—कभी फूलो की टहनियो पर, तो कभी नदी-तट पर होता हूँ।]

अतः हमारे पथ मे अहवाद अथवा अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण को प्रधानता देना वह वस्तु है, जो हमे जडता, पतन और लापरवाही की ओर ले जाती है और ऐसी कला हमारे लिए न व्यक्ति-रूप मे उपयोगी है और न समुदाय-रूप मे।

मुझे यह कहने मे हिचक नहीं कि मै और चीजो की तरह कला को भी उपयोगिता की तुला पर तोलता हूँ। निस्सन्देह कला का उद्देश्य सौन्दर्य-वृत्ति की पुष्टि करना है और वह हमारे आध्यात्मिक आनन्द की कुञ्जी है; पर ऐसा कोई रुचिगत मानसिक तथा आध्यात्मिक आनन्द नहीं, जो अपनी उपयोगिता का पहलू न रखता हो। आनन्द स्वतः एक उपयोगिता-युक्त वस्तु है और उपयोगिता की दृष्टि से एक ही वस्तु से हमे सुख भी होता है, और दुःख भी। आसमान पर छायी लालिमा निस्सन्देह बडा सुन्दर दृश्य है, परन्तु आषाढ मे अगर आकाश पर वैसी लालिमा छा जाय, तो वह हमे प्रसन्नता देनेवाली नही हो सकती। उस समय तो हम आसमान पर काली-काली घटाएँ देखकर ही आनन्दित होते है। फूलों को देखकर हमे इसलिए आनन्द होता है कि उनसे फलों की आशा होती है। प्रकृति से अपने जीवन का सुर मिलाकर रहने मे हमे इसीलिए आध्यात्मिक सुख मिलता है कि उससे हमारा जीवन विकसित और पुष्ट होता है। प्रकृति का विधान वृद्धि और विकास है, और जिन भावो, अनुभूतियो और विचारो से हमे आनन्द मिलता है,

वे इसी वृद्धि और विकास के सहायक है। कलाकार अपनी कला से सौन्दर्य की सृष्टि करके परिस्थिति को विकास के उपयोगी बनाता है।

परन्तु सौन्दर्य भी और पदार्थों की तरह स्वरूपस्थ और निरपेक्ष नहीं, उसकी स्थिति भी सापेक्ष है। एक रईस के लिए जो वस्तु सुख का साधन है, वही दूसरे के लिए दुःख का कारण हो सकती है। एक रईस अपने सुरभित सुरम्य उद्यान मे बैठकर जब चिड़ियो का कल गान सुनता है तो उसे स्वर्गीय सुख की प्राप्ति होती है, परन्तु एक दूसरा सज्ञान मनुष्य वैभव की इस सामग्री को घृणिततम वस्तु समझता है।

बन्धुत्व और समता, सभ्यता तथा प्रेम सामाजिक जीवन के आरम्भ से ही, आदर्शवादियों का सुनहला स्वप्न रहे है। धर्म-प्रवर्तकों ने धार्मिक, नैतिक और आध्यात्मिक बन्धनों से इस स्वप्न को सचाई बनाने का सतत किन्तु निष्फल यत्न किया है। महात्मा बुद्ध, हजरत ईसा, हजरत मुहम्मद आदि सभी पैगम्बरो और धर्म प्रवर्तको ने नीति की नीव पर इस समता की इमारत खड़ी करनी चाही, पर किसी को सफलता न मिली और छोटे-बड़े का भेद जिस निष्ठुर रूप मे आज प्रकट हो रहा है, शायद कभी न हुआ था।

'आजमाये को आजमाना मूर्खता है', इस कहावत के अनुसार यदि हम अब भी धर्म और नीति का दामन पकड़कर समानता के ऊँचे लक्ष्य पर पहुँचना चाहे, तो विफलता ही मिलेगी। क्या हम इस सपने को उत्तेजित मस्तिष्क की सृष्टि समझकर भूल जायँ? तब तो मनुष्य की उन्नति और पूर्णता के लिए कोई आदर्श ही बाकी न रह जायगा। इससे कहीं अच्छा है कि मनुष्य का अस्तित्व ही मिट जाय। जिस आदर्श को हमने सभ्यता के आरम्भ से पाला है, जिसके लिए मनुष्य ने, ईश्वर जाने कितनी कुरबानियाँ की हैं, जिसकी परिणति के लिए धर्मों का आविर्भाव हुआ, मानव-समाज का इतिहास जिस आदर्श की प्राप्ति का इतिहास है, उसे सर्वमान्य समझकर, एक अमिट सचाई समझकर, हमे उन्नति के मैदान मे कदम रखना है। हमे एक ऐसे नये संघटन को

सर्वाङ्गपूर्ण बनाना है, जहाँ समानता केवल नैतिक बन्धनो पर आश्रित न रहकर अधिक ठोस रूप प्राप्त कर ले। हमारे साहित्य को उसी आदर्श को अपने सामने रखना है।

हमे सुन्दरता की कसौटी बदलनी होगी। अभी तक यह कसौटी अमीरी और विलासिता के ढंग की थी। हमारा कलाकार अमीरो का पल्ला पकडे रहना चाहता था, उन्हीं की कद्रदानी पर उसका अस्तित्व अवलम्बित था और उन्ही के सुख-दुःख, आशा-निराशा, प्रतियोगिता और प्रतिद्वन्द्विता की व्याख्या कला का उद्देश्य था। उसकी निगाह अन्तःपुर और बॅगलो की ओर उठती थी। झोपडे और खॅडहर उसके ध्यान के अधिकारी न थे। उन्हे वह मनुष्यता की परिधि के बाहर समझता था। कभी इनकी चर्चा करता भी था, तो इनका मजाक उड़ाने के लिए, ग्रामवासी की देहाती वेश भूषा और तौर-तरीके पर हॅसने के लिए। उसका शीन-काफ दुरुस्त न होना या मुहाविरों का गलत उपयोग उसके व्यंग्य-विद्रूप की स्थायी सामग्री थी। वह भी मनुष्य है, उसके भी हृदय है, और उसमे भी आकाक्षाऍ है,—यह कला की कल्पना के बाहर की बात थी।

कला नाम था और अब भी है, संकुचित रूप-पूजा का, शब्द योजना का, भाव-निबन्धन का। उसके लिए कोई आदर्श नहीं है, जीवन का कोई ऊॅचा उद्देश्य नहीं है,—भक्ति, वैराग्य, अध्यात्म और दुनिया से किनाराकशी उसकी सबसे ऊॅची कल्पनाऍ है। हमारे उस कलाकार के विचार से जीवन का चरम लक्ष्य यही है। उसकी दृष्टि अभी इतनी व्यापक नही कि जीवन-संग्राम मे सौदर्य का परमोत्कर्ष देखे। उपवास और नग्नता मे भी सौदर्य का अस्तित्व सम्भव है, इसे कदाचित् वह स्वीकार नही करता। उसके लिए सौन्दर्य सुन्दर स्त्री मे है—उस बच्चोंवाली गरीब रूप-रहित स्त्री मे नहीं, जो बच्चे को खेत की मेड़ पर सुलाये पसीना बहा रही है। उसने निश्चय कर लिया है कि रॅगे होठों, कपोलो और भौहो मे निस्सन्देह

सुन्दरता का वास है,—उसके उलझे हुए बालों, पपड़ियाँ पड़े हुए होठों और कुम्हलाये हुए गालों मे सौन्दर्य का प्रवेश कहाँ?

पर यह सकीर्ण दृष्टि का दोष है। अगर उसकी सौन्दर्य देखनेवाली दृष्टि मे विस्तृति आ जाय तो वह देखेगा कि रँगे होठो और कपोलो की आड मे अगर रूप-गर्व और निष्ठुरता छिपी है, तो इन मुरझाये हुए होठो और कुम्हलाये हुए गालो के आँसुओ मे त्याग, श्रद्धा और कष्ट-सहिष्णुता है। हाँ, उसमे नफासत नहीं, दिखावा नहीं, सुकुमारता नहीं।

हमारी कला यौवन के प्रेम मे पागल है और यह नही जानती कि जवानी छाती पर हाथ रखकर कविता पढने, नायिका की निष्ठुरता का रोना रोने या उसके रूप-गर्व और चोचलो पर सिर धुनने मे नहीं है। जवानी नाम है आदर्शवाद का, हिम्मत का, कठिनाई से मिलने की इच्छा का, आत्म-त्याग का। उसे तो इक़बाल के साथ कहना होगा—

अज़ दस्ते जुनूने मन जिब्रील जबूँ सैदे,
यज़दाँ बकमन्द आवर ऐ हिम्मते मरदाना।

[अर्थात् मेरे उन्मत्त हाथो के लिए जिब्रील एक घटिया शिकार है। ऐ हिम्मते मरदाना, क्यों न अपनी कमन्द मे तू खुदा को ही फाँस लाये!]

अथवा

चूँ मौज साजे बजूदम जे सैल बेपरवास्त,
गुमा मबर कि दरी बहर साहिले जोयम।

[अर्थात् तरंग की भाँति मेरे जीवन की तरी भी प्रवाह की ओर से बेपरवाह है, यह न सोचो कि इस समुद्र मे मै किनारा ढूँढ रहा हूँ।]

और यह अवस्था उस समय पैदा होगी, जब हमारा सौंदर्य व्यापक हो जायगा, जब सारी सृष्टि उसकी परिधि मे आ जायगी। वह किसी विशेष श्रेणी तक ही सीमित न होगा, उसकी उड़ान के लिए केवल बाग की चहारदीवारी न होगी, किन्तु वह वायु-मण्डल होगा जो सारे भूमडल को

घेरे हुए है। तब कुरुचि हमारे लिए सह्य न होगी, तब हम उसकी जड़ खोदने के लिए कमर कसकर तैयार हो जायँगे। हम जब ऐसी व्यवस्था को सहन न कर सकेंगे कि हजारों आदमी कुछ अत्याचारियों की गुलामी करें, तभी हम केवल कागज के पृष्ठों पर सृष्टि करके ही सन्तुष्ट न हो जायँगे, बल्कि उस विधान की सृष्टि करेंगे, जो सौन्दर्य, सुरुचि, आत्म-सम्मान और मनुष्यता का विरोधी न हो।

साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफिल सजाना और मनोरञ्जन का सामान जुटाना नहीं है—उसका दरजा इतना न गिराइये। वह देश-भक्ति और राजनीति के पीछे चलनेवाली सचाई भी नहीं, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलनेवाली सचाई है।

हमें अकसर यह शिकायत होती है कि साहित्यकारों के लिए समाज में कोई स्थान नहीं,—अर्थात् भारत के साहित्यकारों के लिए। सभ्य देशों में तो साहित्यकार समाज का सम्मानित सदस्य है, और बड़े-बड़े अमीर और मन्त्रि-मंडल के सदस्य उससे मिलने में अपना गौरव समझते है, परन्तु हिन्दुस्तान तो अभी मध्य-युग की अवस्था में पड़ा हुआ है। यदि साहित्य ने अमीरों का याचक बनने को जीवन का सहारा बना लिया हो, और उन आन्दोलनों, हलचलों और क्रान्तियों से बेखबर हो जो समाज में हो रही है—अपनी ही दुनिया बनाकर उसमें रोता और हँसता हो, तो इस दुनिया में उसके लिए जगह न होने में कोई अन्याय नहीं है। जब साहित्यकार बनने के लिए अनुकूल रुचि के सिवा और कोई कैद नहीं रही, जैसे महात्मा बनने के लिए किसी प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता नहीं, आध्यात्मिक उच्चता ही काफी है, तो महात्मा लोग दरदर फिरने लगे, उसी तरह साहित्यकार भी लाखों निकल आये।

इसमें शक नहीं कि साहित्यकार पैदा होता है, बनाया नहीं जाता, पर यदि हम शिक्षा और जिज्ञासा से प्रकृति की इस देन को बढ़ा सकें, तो निश्चय ही हम साहित्य की अधिक सेवा कर सकेंगे। अरस्तू ने और दूसरे विद्वानों ने भी साहित्यकार बननेवालों के लिए कड़ी शर्तें लगायी

है और उनकी मानसिक, नैतिक, आध्यात्मिक और भावगत सभ्यता तथा शिक्षा के लिए सिद्धान्त और विधियाँ निश्चित कर दी है; मगर आज तो हिन्दी मे साहित्यकार के लिए प्रवृत्तिमात्र अलम् समझी जाती है, और किसी प्रकार की तैयारी की उसके लिए आवश्यकता नही। वह राजनीति, समाज-शास्त्र या मनोविज्ञान से सर्वथा अपरिचित हो, फिर भी वह साहित्यकार है।

साहित्यकार के सामने आजकल जो आदर्श रखा गया है, उसके अनुसार ये सभी विद्याएँ उसका विशेष अग बन गयी है और साहित्य की प्रवृत्ति अहवाद या व्यक्तिवाद तक परिमित नहीं रही, बल्कि वह मनोवैज्ञानिक और सामाजिक होता जाता है। अब वह व्यक्ति को समाज से अलग नहीं देखता, किन्तु उसे समाज के एक अग-रूप मे देखता है। इसलिए नहीं कि वह समाज पर हुकूमत करे, उसे अपने स्वार्थ-साधन का औजार बनाये, मानो उसमे और समाज मे सनातन शत्रुता है, बल्कि इसलिए कि समाज के अस्तित्व के साथ उसका अस्तित्व कायम है और समाज से अलग होकर उसका मूल्य शून्य के बराबर हो जाता है।

हममे से जिन्हे सर्वोत्तम शिक्षा और सर्वोत्तम मानसिक शक्तियाँ मिली है, उन पर समाज के प्रति उतनी ही जिम्मेदारी भी है। हम उस मानसिक पूँजीपति को पूजा के योग्य समझेंगे, जा समाज के पैसे से ऊँची शिक्षा प्राप्त कर उसे स्वार्थ साधन मे लगाता है? समाज से निजी लाभ उठाना ऐसा काम है, जिसे कोई साहित्यकार कभी पसन्द न करेगा। उस मानसिक पूँजीपति का कर्तव्य है कि वह समाज के लाभ को अपने निजी लाभ से अधिक ध्यान देने योग्य समझे—अपनी विद्या और योग्यता से समाज को अधिक से अधिक लाभ पहुँचाने की कोशिश करे। वह साहित्य के किसी भी विभाग मे प्रवेश क्यो न करे, उसे उस विभाग से विशेषतः और सब विभागों से सामान्यतः परिचय हो।

अगर हम अन्तर्राष्ट्रीय साहित्यकार-सम्मेलनो की रिपोर्ट पढ़ें, तो हम देखेंगे कि ऐसा कोई शास्त्रीय, सामाजिक, ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक

प्रश्न नहीं है, जिस पर उसमे विचार-विनिमय न होता हो। इसके विरुद्ध, हम अपनी ज्ञानसीमा को देखते है तो हमे अपने अज्ञान पर लज्जा आती है। हमने समझ रखा है कि साहित्य रचना के लिए आशुबुद्धि और तेज कलम काफी है। पर यही विचार हमारी साहित्यिक अवनति का कारण है। हमे अपने साहित्य का मान-दण्ड ऊँचा करना होगा जिसमे वह समाज की अधिक मूल्यवान् सेवा कर सके, जिसमे समाज मे उसे वह पद मिले जिसका वह अधिकारी है, जिसमे वह जीवन के प्रत्येक विभाग की आलोचना-विवेचना कर सके और हम दूसरी भाषाओं तथा साहित्यों का जूठा खाकर ही सन्तोष न करे, किन्तु खुद भी उस पूँजी को बढ़ाये।

हमे अपनी रुचि और प्रवृत्ति के अनुकूल विषय चुन लेने चाहिए और विषय पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करना चाहिए। हम जिस आर्थिक अवस्था मे जिन्दगी बिता रहे है, उसमे यह काम कठिन अवश्य है, पर हमारा आदर्श ऊँचा रहना चाहिए। हम पहाड़ की चोटी तक न पहुँच सकेंगे, तो कमर तक तो पहुँच ही जायँगे, जो जमीन पर पड़े रहने से कहीं अच्छा है। अगर हमारा अन्तर प्रेम की ज्योति से प्रकाशित हो और सेवा का आदर्श हमारे सामने हो, तो ऐसी कोई कठिनाई नही जिस पर हम विजय न प्राप्त कर सके।

जिन्हे धन-वैभव प्यारा है, साहित्य-मन्दिर मे उनके लिए स्थान नहीं है। यहाँ तो उन उपासको की आवश्यकता है, जिन्होने सेवा को ही अपने जीवन की सार्थकता मान लिया हो, जिनके दिल मे दर्द की तड़प हो और मुहब्बत का जोश हा। अपनी इज्जत तो अपने हाथ है। अगर हम सच्चे दिल से समाज की सेवा करेगे तो मान, प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि सभी हमारे पाँव चूमेगी। फिर मान-प्रतिष्ठा की चिन्ता हमे क्यों सताये? और उसके न मिलने से हम निराश क्यो हो? सेवा मे जो आध्यात्मिक आनन्द है, वही हमारा पुरस्कार है—हमे समाज पर अपना बड़प्पन जताने, उस पर रोब जमाने की हवस क्यो हो? दूसरो से ज्यादा आराम

के साथ रहने की इच्छा भी हमे क्यो सताये ? हम अमीरो की श्रेणी मे अपनी गिनती क्यो कराये ? हम तो समाज के झण्डा लेकर चलनेवाले सिपाही है और सादी जिन्दगी के साथ ऊँची निगाह हमारे जीवन का लक्ष्य है। जो आदमी सच्चा कलाकार है, वह स्वार्थमय जीवन का प्रेमी नही हो सकता। उसे अपनी मनस्तुष्टि के लिए दिखावे की आवश्यकता नहीं—उससे तो उसे घृणा होती है। वह तो इकबाल के साथ कहता है—

मर्दुम आजादम आगूना रायूरम कि मरा,
मीतवा कुश्तब येक जामे जुलाले दीगरा।

[अर्थात् मै आजाद हूँ और इतना हयादार हूँ कि मुझे दूसरों के निथरे हुए पानी के एक प्याले से मारा जा सकता है।]

हमारी परिषद् ने कुछ इसी प्रकार के सिद्धान्तों के साथ कर्म-क्षेत्र में प्रवेश किया है। साहित्य का शराब-कबाब और राग-रंग का मुखापेक्षी बना रहना उसे पसन्द नही। वह उसे उद्योग और कर्म का सन्देश-वाहक बनाने का दावेदार है। उसे भाषा से बहस नहीं। आदर्श व्यापक होने से भाषा अपने-आप सरल हो जाती है। भाव-सौन्दर्य बनाव-सिंगार से बेपरवाही ही दिखा सकता है। जो साहित्यकार अमीरों का मुँह जोहनेवाला है, वह रईसी रचना-शैली स्वीकार करता है; जो जन-साधारण का है वह जन-साधारण की भाषा मे लिखता है। हमारा उद्देश्य देश मे ऐसा वायु-मण्डल उत्पन्न कर देना है, जिसमे अभीष्ट प्रकार का साहित्य उत्पन्न हो सके और पनप सके। हम चाहते है कि साहित्य-केन्द्रो मे हमारी परिषदे स्थापित हों और वहाँ साहित्य की रचनात्मक प्रवृत्तियो पर नियम-पूर्वक चर्चा हो, निबध पढ़े जायँ, बहस हो, आलोचना-प्रत्यालोचना हो। तभी वह वायु-मंडल तैयार होगा। तभी साहित्य मे नये युग का आविर्भाव होगा।

हम हर एक सूबे मे, हर एक जबान मे, ऐसी परिषदे स्थापित कराना चाहते हैं, जिसमे हर एक भाषा मे हम अपना सन्देश पहुँचा सकें। यह

समझना भूल होगी कि यह हमारी कोई नयी कल्पना है। नहीं, देश के साहित्य-सेवियों के हृदयो मे सामुदायिक भावनाएँ विद्यमान है। भारत की हर एक भाषा मे इस विचार के बीज प्रकृति और परिस्थिति ने पहले से बो रखे हैं, जगह-जगह उसके अँकुए भी निकलने लगे हैं। उसको सींचना एव उसके लक्ष्य को पुष्ट करना हमारा उद्देश्य है।

हम साहित्यकारो में कर्मशक्ति का अभाव है। यह एक कड़वी सचाई है; पर हम उसकी ओर से आँखे नही बन्द कर सकते। अभी तक हमने साहित्य का जो आदर्श अपने सामने रखा था, उसके लिए कर्म की आवश्यकता न थी, कर्माभाव ही उसका गुण था क्योंकि अक-सर कर्म अपने साथ पक्षपात और सकीर्णता को भी लाता है। अगर कोई आदमी धार्मिक होकर अपनी धार्मिकता पर गर्व करे, तो इससे कहीं अच्छा है कि वह धार्मिक न होकर 'खाओ पियो मौज करो', का कायल हो। ऐसा स्वच्छन्दचारी तो ईश्वर की दया का अधिकारी हो भी सकता है; पर धार्मिकता का अभिमान रखने वाले के लिए इसकी संभावना नहीं।

जो हो, जब तक साहित्य का काम केवल मनबहलाव का सामान जुटाना, केवल लोरियाँ गा-गाकर सुलाना, केवल आँसू बहाकर जी हलका करना था, तब तक उसके लिए कर्म की आवश्यकता न थी। वह एक दीवाना था जिसका गम दूसरे खाते थे। मगर हम साहित्य को केवल मनोरंजन और विलासिता की वस्तु नही समझते। हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा जिसमे उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सचाइयों का प्रकाश हो—जो हममे गति, सघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाये नही क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।†

१६३६]

———

†लखनऊ मे होने वाले प्रगतिशील लेखक सघ के पहले अधि-वेशन मे सभापति आसन से दिया गया भाषण।

जीवन में साहित्य का स्थान

साहित्य का आधार जीवन है। इसी नींव पर साहित्य की दीवार खड़ी होती है, उसकी अटारियाँ, मीनार और गुम्बद बनते है; लेकिन बुनियाद मिट्टी के नीचे दबी पड़ी है। उसे देखने को भी जी नहीं चाहेगा। जीवन परमात्मा की सृष्टि है; इसलिए अनन्त है, अबोध है, अगम्य है। साहित्य मनुष्य की सृष्टि है; इसलिए सुबोध है, सुगम है और मर्यादाओं से परिमित है। जीवन परमात्मा को अपने कामो का जवाबदेह है या नही,हमे मालूम नहीं, लेकिन साहित्य तो मनुष्य के सामने जवाबदेह है। इसके लिए कानून है जिनसे वह इधर-उधर नहीं हो सकता। जीवन का उद्देश्य ही आनन्द है। मनुष्य जीवनपर्यन्त आनन्द ही की खोज मे पड़ा रहता है। किसी को वह रत्न-द्रव्य मे मिलता है, किसी को भरे-पूरे परिवार मे, किसी को लम्बे-चौडे भवन मे, किसी को ऐश्वर्य मे। लेकिन साहित्य का आनन्द, इस आनन्द से ऊँचा है, इससे पवित्र है, उसका आधार सुन्दर और सत्य है। वास्तव मे सच्चा आनन्द सुन्दर और सत्य से मिलता है। उसी आनन्द को दर्साना, वही आनन्द उत्पन्न करना, साहित्य का उद्देश्य है। ऐश्वर्य या भोग के आनन्द मे ग्लानि छिपी होती है। उससे अरुचि भी हो सकती है, पश्चात्ताप भी हो सकता है; पर सुन्दर से जो आनन्द प्राप्त होता है, वह अखंड है, अमर है।

साहित्य के नौ रस कहे गये हैं। प्रश्न होगा, वीभत्स मे भी कोई आनन्द है? अगर ऐसा न होता, तो वह रसो मे गिना ही क्यो जाता।

हाँ, है। वीभत्स में सुन्दर और सत्य मौजूद है। भारतेन्दु ने श्मशान का जो वर्णन किया है, वह कितना वीभत्स है। प्रेतो और पिशाचो का अधजले मास के लोथडे नोचना, हड्डियो को चटर-चटर चबाना, वीभत्स की पराकाष्ठा है; लेकिन वह वीभत्स होते हुए भी सुन्दर है, क्योंकि उसकी सृष्टि पीछे आनेवाले स्वर्गीय दृश्य के आनन्द को तीव्र करने के लिए ही हुई है। साहित्य तो हर एक रस मे सुन्दर खोजता है—राजा के महल मे, रंक की झोपडी मे, पहाड़ के शिखर पर, गंदे नालो के अदर, उषा की लाली मे, सावन-भादो की अँधेरी रात मे। और यह आश्चर्य की बात है कि रक की झोपडी मे जितनी आसानी से सुन्दर मूर्तिमान दिखाई देता है उतना महलो मे नहीं। महलो मे तो वह खोजने से मुश्किलों से मिलता है। जहाँ मनुष्य अपने मौलिक, यथार्थ अकृत्रिम रूप मे है, वहीं आनन्द है। आनन्द कृत्रिमता और आडम्बर से कोसों भागता है। सत्य का कृत्रिम से क्या सम्बन्ध। अतएव हमारा विचार है कि साहित्य मे केवल एक रस है और वह शृङ्गार है। कोई रस साहित्यिक-दृष्टि से रस नहीं रहता और न उस रचना की गणना साहित्य में की जा सकती है जो शृङ्गार-विहीन और असुन्दर हो। जो रचना केवल वासना-प्रधान हो, जिसका उद्देश्य कुत्सित भावो को जगाना हो, जो केवल वाह्य जगत् से सम्बन्ध रखे, वह साहित्य नहीं है। जासूसी उपन्यास अद्भुत होता है; लेकिन हम उसे साहित्य उसी वक्त कहेंगे, जब उसमे सुन्दर का समावेश हो, खूनी का पता लगाने के लिए सतत उद्योग, नाना प्रकार के कष्टों का झेलना, न्याय-मर्यादा की रक्षा करना, ये भाव रहे, जो इस अद्भुत रस की रचना को सुन्दर बना देते है।

सत्य से आत्मा का सम्बन्ध तीन प्रकार का है। एक जिज्ञासा का सम्बन्ध है, दूसरा प्रयोजन का सम्बन्ध है और तीसरा आनन्द का। जिज्ञासा का सम्बन्ध दर्शन का विषय है, प्रयोजन का सम्बन्ध विज्ञान का विषय है और साहित्य का विषय केवल आनन्द का सम्बन्ध है। सत्य

जहाँ आनन्द का स्रोत बन जाता है, वहीं वह साहित्य हो जाता है। जिज्ञासा का सम्बन्ध विचार से है, प्रयोजन का सम्बन्ध स्वार्थ-बुद्धि से। आनन्द का सम्बन्ध मनोभावों से है। साहित्य का विकास मनोभावों द्वारा ही होता है। एक दृश्य या घटना या काड को हम तीनो ही भिन्न-भिन्न नजरो से देख सकते है। हिम से ढॅके हुए पर्वत पर ऊषा का दृश्य दार्शनिक के गहरे विचार की वस्तु है, वैज्ञानिक के लिए अनुसन्धान की, और साहित्यिक के लिए विह्वलता की। विह्वलता एक प्रकार का आत्म-समर्पण है। यहाँ हम पृथक्ता का अनुभव नही करते। यहाँ ऊँच-नीच, भले-बुरे का भेद नहीं रह जाता। श्रीरामचन्द्र शबरी के जूठे बेर क्यो प्रेम से खाते है, कृष्ण भगवान विदुर के शाक को क्यो नाना व्यञ्जनो से रुचिकर समझते है? इसीलिए कि उन्होंने इस पार्थक्य को मिटा दिया है। उनकी आत्मा विशाल है। उसमे समस्त जगत् के लिए स्थान है। आत्मा आत्मा से मिल गयी है। जिसकी आत्मा जितनी ही विशाल है, वह उतना ही महान् पुरुष है। यहाँ तक कि ऐसे महान् पुरुष भी हो गये हैं, जो जड जगत् से भी अपनी आत्मा का मेल कर सके है।

आइये देखें, जीवन क्या है? जीवन केवल जीना, खाना, सोना और मर जाना नहीं है। यह तो पशुओ का जीवन है। मानव-जीवन मे भी यह सभी प्रवृत्तियाँ होती हैं, क्योकि वह भी तो पशु है। पर इनके उपरान्त कुछ और भी होता है। उनमे कुछ ऐसी मनोवृत्तियाँ होती हैं, जो प्रकृति के साथ हमारे मेल मे बाधक होती है, कुछ ऐसी होती हैं, जो इस मेल मे सहायक बन जाती है। जिन प्रवृत्तियो मे प्रकृति के साथ हमारा सामजस्य बढ़ता है, वह वाछनीय होती है, जिनसे सामंजस्य मे बाधा उत्पन्न होती है, वे दूषित है। अहङ्कार, क्रोध या द्वेष हमारे मन की बाधक प्रवृत्तियाँ है। यदि हम इनको बेरोक-टोक चलने दे, तो निस्सदेह वह हमे नाश और पतन की ओर ले जायॅगी, इसलिए हमे उनकी लगाम रोकनी पड़ती है, उन पर संयम रखना पड़ता है, जिसमे वे अपनी

सीमा से बाहर न जा सके । हम उन पर जितना कठोर सयम रख सकते हैं, उतना ही मगलमय हमारा जीवन हो जाता है ।

किन्तु नटखट लड़को से डॉटकर कहना—तुम बडे बदमाश हो, हम तुम्हारे कान पकड़कर उखाड लेगे—अक्सर व्यर्थ ही होता है, बल्कि उस प्रवृत्ति को और हठ की ओर ले जाकर पुष्ट कर देता है । जरूरत यह होती है, कि बालक मे जो सद्वृत्तियाँ है उन्हे ऐसा उत्तेजित किया जाय, कि दूषित वृत्तियाँ स्वाभाविक रूप से शान्त हो जायँ । इसी प्रकार मनुष्य को भी आत्मविकास के लिए सयम की आवश्यकता होती है । साहित्य ही मनोविकारो के रहस्य खोलकर सद्वृत्तियो को जगाता है । सत्य को रसो-द्वारा हम जितनी आसानी से प्राप्त कर सकते है, ज्ञान और विवेक द्वारा नही कर सकते, उसी भॉति जैसे दुलार-चुमकारकर बच्चो को जितनी सफलता से वश मे किया जा सकता है, डॉट-फटकार से सम्भव नहीं। कौन नहीं जानता कि प्रेम से कठोर-से-कठोर प्रकृति को नरम किया जा सकता है । साहित्य मस्तिष्क की वस्तु नहीं, हृदय की वस्तु है । जहाँ ज्ञान और उपदेश असफल होता है, वहाँ साहित्य बाजी ले जाता है । यही कारण है, कि हम उपनिपदो और अन्य धर्म-ग्रथो को साहित्य की सहायता लेते देखते है । हमारे धर्माचार्यों ने देखा कि मनुष्य पर सबसे अधिक प्रभाव मानव-जीवन के दुःख-सुख के वर्णन से ही हो सकता है और उन्होने मानव-जीवन की वे कथाऍ रचीं,जो आज भी हमारे आनंद की वस्तु है । बौद्धो की जातक-कथाऍ, तौरेह, कुरान, इञ्जील ये सभी मानवी कथाओ के सग्रहमात्र है। उन्हीं कथाओ पर हमारे बडे-बडे धर्म स्थिर है । वही कथाऍ धर्मों की आत्मा है । उन कथाओ को निकाल दीजिए, तो उस धर्म का अस्तित्व मिट जायगा । क्या उन धर्म-प्रवर्त्तकों ने अकारण ही मानवी जीवन की कथाओ का आश्रय लिया ? नहीं, उन्होने देखा कि हृदय द्वारा ही जनता की आत्मा तक अपना सन्देशा पहुँचाया जा सकता है । वे स्वय विशाल हृदय के मनुष्य थे । उन्होने मानव जीवन

से अपनी आत्मा का मेल कर लिया था। समस्त मानवजाति से उनके जीवन का सामञ्जस्य था, फिर वे मानव-चरित्र की उपेक्षा कैसे करते ?

आदि काल से मनुष्य के लिए सबसे समीप मनुष्य है। हम जिसके सुख दुःख, हँसने-रोने का मर्म समझ सकते है, उसी से हमारी आत्मा का अधिक मेल होता है। विद्यार्थी को विद्यार्थी-जीवन से, कृषक को कृषक-जीवन से जितनी रुचि है, उतनी अन्य जातियों से नहीं, लेकिन साहित्य-जगत् मे प्रवेश पाते ही यह भेद, यह पार्थक्य मिट जाता है। हमारी मानवता जैसे विशाल और विराट् होकर समस्त मानव-जाति पर अधिकार पा जानी है। मानव-जाति ही नही, चर और अचर, जड़ और चेतन सभी उसके अधिकार मे आ जाते हैं। उसे मानो विश्व की आत्मा पर साम्राज्य प्राप्त हो जाता है। श्री रामचन्द्र राजा थे; पर आज रंक भी उनके दुःख से उतना ही प्रभावित होता है, जितना कोई राजा हो सकता है। साहित्य वह जादू की लकड़ी है, जो पशुओ मे, ईंट-पत्थरों मे, पेड-पौधों मे विश्व की आत्मा का दर्शन करा देती है। मानव हृदय का जगत्, इस प्रत्यक्ष जगत् जैसा नही है। हम मनुष्य होने के कारण मानव-जगत् के प्राणियो मे अपने को अधिक पाते है, उनके सुख-दुःख, हर्ष और विषाद से ज्यादा विचलित होते है। हम अपने निकटतम बन्धु-बाधवों से अपने को इतना निकट नहीं पाते, इसलिए कि हम उनके एक एक विचार, एक-एक उद्गार को जानते हैं, उनका मन हमारी नजरो के सामने आईने की तरह खुला हुआ है। जीवन मे ऐसे प्राणी हमे कहाँ मिलते हैं, जिनके अन्तःकरण मे हम इतनी स्वाधीनता से विचर सकें। सच्चे साहित्यकार का यही लक्षण है कि उसके भावो मे व्यापकता हो, उसने विश्व की आत्मा से ऐसी Harmony प्राप्त कर ली हो कि उसके भाव प्रत्येक प्राणी को अपने ही भाव मालूम हो।

साहित्यकार बहुधा अपने देश काल से प्रभावित होता है। जब कोई लहर देश मे उठती है, तो साहित्यकार के लिए उससे अविचलित रहना असंभव हो जाता है और उसकी विशाल आत्मा अपने देश-बन्धुओं के

कष्टो से विकल हो उठती है और इस तीव्र विकलता मे वह रो उठता है, पर उसके रुदन मे भी व्यापकता होती है। वह स्वदेश का होकर भी सार्वभौमिक रहता है। 'टाम काका की कुटिया' गुलामी की प्रथा से व्यथित हृदय की रचना है; पर आज उस प्रथा के उठ जाने पर भी उसमे वह व्यापकता है कि हम लोग भी उसे पढकर मुग्ध हो जाते है। सच्चा साहित्य कभी पुराना नही होता। वह सदा नया बना रहता है। दर्शन और विज्ञान समय की गति के अनुसार बदले रहते हैं, पर साहित्य तो हृदय की वस्तु है और मानव हृदय मे तबदीलियाँ नहीं होतीं। हर्ष और विस्मय, क्रोध और द्वेष, आशा और भय, आज भी हमारे मन पर उसी तरह अधिकृत हैं, जैसे आदिकवि वाल्मीकि के समय मे थे और कदाचित् अनन्त तक रहेगे। रामायण के समय का समय अब नहीं है; महाभारत का समय भी अतीत हो गया; पर ये ग्रन्थ अभी तक नये है। साहित्य ही सच्चा इतिहास है क्योंकि उसमे अपने देश और काल का जैसा चित्र होता है, वैसा कोरे इतिहास मे नहीं हो सकता। घटनाओ की तालिका इतिहास नही है और न राजाओ की लडाइयाँ ही इतिहास है। इतिहास जीवन के विभिन्न अङ्गों की प्रगति का नाम है, और जीवन पर साहित्य से अधिक प्रकाश और कौन वस्तु डाल सकती है क्योंकि साहित्य अपने देश काल का प्रतिबिम्ब होता है।

जीवन मे साहित्य की उपयोगिता के विषय मे कभी-कभी सन्देह किया जाता है। कहा जाता है, जो स्वभाव से अच्छे है, वह अच्छे ही रहेगे, चाहे कुछ भी पढें। जो स्वभाव के बुरे हैं, वह बुरे ही रहेंगे, चाहे कुछ भी पढ़े। इस कथन मे सत्य की मात्रा बहुत कम है। इसे सत्य मान लेना मानव-चरित्र को बदल लेना होगा। जो सुन्दर है, उसकी ओर मनुष्य का स्वाभाविक आकर्षण होता है। हम कितने ही पतित हो जायँ पर असुन्दर की ओर हमारा आकर्षण नहीं हो सकता। हम कर्म चाहे कितने ही बुरे करें पर यह असम्भव है कि करुणा और दया और प्रेम और भक्ति का हमारे दिलो पर असर न हो। नादिरशाह से ज्यादा निर्दयी मनुष्य और

कौन हो सकता है—हमारा आशय दिल्ली मे कतलाम करानेवाले नादिरशाह से है। अगर दिल्ली का कतलाम सत्य घटना है, तो नादिरशाह के निर्दय होने मे कोई सन्देह नही रहता। उस समय आपको मालूम है, किस बात से प्रभावित होकर उसने कतलाम को बन्द करने का हुक्म दिया था? दिल्ली के बादशाह का वजीर एक रसिक मनुष्य था। जब उसने देखा कि नादिरशाह का क्रोध किसी तरह नही शान्त होता और दिल्लीवालो के खून की नदी बहती चली जाती है, यहाँ तक कि खुद नादिरशाह के मुँहलगे अफसर भी उसके सामने आने का साहस नहीं करते, तो वह हथेलियो पर जान रखकर नादिरशाह के पास पहुँचा और यह शेर पढ़ा—

'कसे न मॉद कि दीगर ब तेगे नाज़ कुशी।
मगर कि ज़िन्दा कुनी खल्क रा व बाज़ कुशी।'

इसका अर्थ यह है कि तेरे प्रेम की तलवार ने अब किसी को जिन्दा न छोडा। अब तो तेरे लिए इसके सिवा और कोई उपाय नहीं है कि तू मुर्दों को फिर जिला दे और फिर उन्हे मारना शुरू करे। यह फारसी के एक प्रसिद्ध कवि का शृङ्गार-विषयक शेर है; पर इसे सुनकर कातिल के दिल मे मनुष्य जाग उठा। इस शेर ने उसके हृदय के कोमल भाग को स्पर्श कर दिया और कतलाम तुरन्त बन्द करा दिया गया। नेपोलियन के जीवन की यह घटना भी प्रसिद्ध है, जब उसने एक अँग्रेज मल्लाह को भाऊ की नाव पर कैले का समुद्र पार करते देखा। जब फ्रासीसी अपराधी मल्लाह को पकड़कर, नेपोलियन के सामने लाये और उससे पूछा—तू इस भगुर नौका पर क्यो समुद्र पार कर रहा था, तो अपराधी ने कहा—इसलिए कि मेरी वृद्धा माता घर पर अकेली है, मै उसे एक बार देखना चाहता था। नेपोलियन की आँखो मे आँसू छलछला आये। मनुष्य का कोमल भाग स्पन्दित हो उठा। उसने उस सैनिक को फ्रासीसी नौका पर इगलैड भेज दिया। मनुष्य स्वभाव से देव तुल्य है। जमाने के छल प्रपञ्च और परिस्थितियो के वशीभूत

होकर वह अपना देवत्व खो बैठता है। साहित्य इसी देवत्व को अपने स्थान पर प्रतिष्ठित करने की चेष्टा करता है—उपदेशो से नहीं, नसीहतो से नहीं, भावो को स्पन्दित करके, मन के कोमल तारो पर चोट लगाकर, प्रकृति से सामजस्य उत्पन्न करके। हमारी सभ्यता साहित्य पर ही आधारित है। हम जो कुछ है, साहित्य के ही बनाये है। विश्व की आत्मा के अन्तर्गत भी राष्ट्र या देश की एक आत्मा होती है। इसी आत्मा की प्रतिध्वनि है—साहित्य। योरप का साहित्य उठा लीजिए। आप वहाँ सघर्ष पायेगे। कही खूनी काडो का प्रदर्शन है, कही जासूसी कमाल का। जैसे सारी संस्कृति उन्मत्त होकर मरु मे जल खोज रही है। उस साहित्य का परिणाम यही है कि वैयक्तिक स्वार्थ-परायणता दिन दिन बढती जाती है, अर्थ-लोलुपता की कही सीमा नहीं, नित्य दगे, नित्य लडाइयाँ। प्रत्येक वस्तु स्वार्थ के काँटे पर तौली जा रही है। यहाँ तक कि अब किसी युरोपियन महात्मा का उपदेश सुनकर भी सन्देह होता है कि इसके परदे मे स्वार्थ न हो। साहित्य सामाजिक आदर्शों का स्रष्टा है। जब आदर्श ही भ्रष्ट हो गया, तो समाज के पतन मे बहुत दिन नहीं लगते। नयी सभ्यता का जीवन डेढ सौ साल से अधिक नहीं पर अभी से संसार उससे तग आ गया है। पर इसके बदले मे उसे कोई ऐसी वस्तु नही मिल रही है, जिसे वहाँ स्थापित कर सके। उसकी दशा उस मनुष्य की-सी है, जो यह तो समझ रहा है कि वह जिस रास्ते पर जा रहा है, वह ठीक रास्ता नही है; पर वह इतनी दूर आ चुका है, कि अब लौटने की उसमे सामर्थ्य नहीं है। वह आगे ही जायगा। चाहे उधर कोई समुद्र ही क्यो न लहरे मार रहा हो। उसमे नैराश्य का हिंसक बल है, आशा की उदार शक्ति नहीं। भारतीय साहित्य का आदर्श उसका त्याग और उत्सर्ग है। योरप का कोई व्यक्ति लखपती होकर, जायदाद खरीदकर, कम्पनियो मे हिस्से लेकर, और ऊँची सोसायटी मे मिलकर अपने को कृतकार्य समझता है। भारत अपने को उस समय कृतकार्य समझता है, जब वह इस माया-बन्धन से मुक्त हो जाता है,

जब उसमे भोग और अधिकार का मोह नही रहता। किसी राष्ट्र की सबसे मूल्यवान् सम्पत्ति उसके साहित्यिक आदर्श होते हैं। व्यास और वाल्मीकि ने जिन आदर्शों की सृष्टि की, वह आज भी भारत का सिर ऊँचा किये हुए हैं। राम अगर वाल्मीकि के साँचे मे न ढलते, तो राम न रहते। सीता भी उसी साँचे मे ढलकर सीता हुईं। यह सत्य है कि हम सब ऐसे चरित्रो का निर्माण नही कर सकते; पर एक धन्वन्तरि के होने पर भी संसार मे वैद्यो की आवश्यकता रही है और रहेगी।

ऐसा महान् दायित्व जिस वस्तु पर है, उसके निर्माताओं का पद कुछ कम जिम्मेदारी का नहीं है। कलम हाथ मे लेते ही हमारे सिर बड़ी भारी जिम्मेदारी आ जाती है। साधारणतः युवावस्था मे हमारी निगाह पहले विध्वंस करने की ओर उठ जाती है। हम सुधार करने की धुन मे अंधाधुंध शर चलाना शुरू करते है। खुदाई फौजदार बन जाते है। तुरन्त आँखे काले धब्बो की ओर पहुँच जाती है। यथार्थवाद के प्रवाह मे बहने लगते हैं। बुराइयों के नग्न चित्र खींचने मे कला की कृतकार्यता समझते है। यह सत्य है कि कोई मकान गिराकर ही उसकी जगह नया मकान बनाया जाता है। पुराने ढकोसलों और बन्धनो को तोड़ने की जरूरत है; पर इसे साहित्य नही कह सकते। साहित्य तो वही है, जो साहित्य की मर्यादाओं का पालन करे। हम अक्सर साहित्य का मर्म समझे बिना ही लिखना शुरू कर देते है। शायद हम समझते है कि मजेदार, चटपटी और ओजपूर्ण भाषा लिखना ही साहित्य है। भाषा भी साहित्य का एक अंग है; पर साहित्य विध्वस नहीं करता, निर्माण करता है। वह मानव-चरित्र की कालिमाएँ नहीं दिखाता, उसकी उज्ज्वलताएँ दिखाता है। मकान गिरानेवाला इन्जीनियर नही कहलाता। इन्जीनियर तो निर्माण ही करता है। हममे जो युवक साहित्य को अपने जीवन का ध्येय बनाना चाहते है, उन्हे बहुत आत्म संयम की आवश्यकता है, क्योकि वह अपने

को एक महान् पद के लिए तैयार कर रहा है, जो अदालतों मे बहस करने या कुरसी पर बैठकर मुकदमे का फैसला करने से कहीं ऊँचा है। उसके लिये केवल डिग्रियाँ और ऊँची शिक्षा काफी नहीं। चित्त की साधना, संयम, सौन्दर्य, तत्व का ज्ञान, इसकी कहीं ज्यादा जरूरत है। साहित्यकार को आदर्शवादी होना चाहिए। भावो का परिमार्जन भी उतना ही वाञ्छनीय है जब तक हमारे साहित्य-सेवी इस आदर्श तक न पहुँचेगे तब तक हमारे साहित्य से मंगल की आशा नही की जा सकती। अमर साहित्य के निर्माता विलासी प्रवृत्ति के मनुष्य नहीं थे। वाल्मीकि और व्यास दोनो तपस्वी थे। सूर और तुलसी भी विलासिता के उपासक न थे। कबीर भी तपस्वी ही थे। हमारा साहित्य अगर आज उन्नति नहीं करता तो इसका कारण यह है कि हमने साहित्य-रचना के लिये कोई तैयारी नही की। दो-चार नुस्खे याद करके हकीम बन बैठे। साहित्य का उत्थान राष्ट्र का उत्थान है और हमारी ईश्वर से यही याचना है कि हममे सच्चे साहित्य सेवी उत्पन्न हो, सच्चे तपस्वी, सच्चे आत्मज्ञानी।

———

साहित्य का आधार

साहित्य का सम्बन्ध बुद्धि से उतना नही जितना भावों से है। बुद्धि के लिए दर्शन है, विज्ञान है, नीति है। भावो के लिए कविता है, उपन्यास है, गद्यकाव्य है।

आलोचना भी साहित्य का एक अंग मानी जाती है, इसीलिए कि वह साहित्य को अपनी सीमा के अन्दर रखने की व्यवस्था करती है। साहित्य मे जब कोई ऐसी वस्तु सम्मिलित हो जाती है, जो उसके रस प्रवाह मे बाधक होती है, तो वहीं साहित्य मे दोष का प्रवेश हो जाता है। उसी तरह जैसे संगीत मे कोई बेसुरी ध्वनि उसे दूषित कर देती है। बुद्धि और मनोभाव का भेद काल्पनिक ही समझना चाहिए। आत्मा मे विचार, तुलना, निर्णय का अंश, बुद्धि और प्रेम, भक्ति, आनन्द, कृतज्ञता आदि का अश भाव है। ईर्ष्या, दम्भ, द्वेष, मत्सर आदि मनोविकार हैं। साहित्य का इनसे इतना ही प्रयोजन है कि वह भावो को तीव्र और आनन्दवर्द्धक बनाने के लिए इनकी सहायता लेता है, उसी तरह, जैसे कोई कारीगर श्वेत को और श्वेत बनाने के लिए श्याम की सहायता लेता है। हमारे सत्य भावो का प्रकाश ही आनन्द है। असत्य भावो मे तो दुःख का ही अनुभव होता है। हो सकता है कि किसी व्यक्ति को असत्य भावो मे भी आनन्द का अनुभव हो। हिंसा करके, या किसी के धन का अपहरण करके या अपने स्वाथ के लिए किसी का अहित करके भी कुछ लोगो को आनन्द प्राप्त होता है, लेकिन यह मन की स्वाभाविक वृत्ति नही है। चोर को प्रकाश से अँधेरा कही अधिक प्रिय है। इससे प्रकाश की श्रेष्ठता मे कोई बाधा नही पड़ती। हमारा जैसा मानसिक सगठन है,

उसमे असत्य भावो के प्रति घृणामय दया ही का उदय होता है। जिन भावो द्वारा हम अपने को दूसरो मे मिला सकते है, वही सत्य भाव है, प्रेम हमे अन्य वस्तुओं से मिलाता है, अहङ्कार पृथक् करता है। जिसमे अहङ्कार की मात्रा अधिक है वह दूसरो से कैसे मिलेगा? अतएव प्रेम सत्य भाव है, अहङ्कार असत्य भाव है। प्रकृति से मेल रखने मे ही जीवन है। जिसके प्रेम की परिधि जितनी ही विस्तृत है, उसका जीवन उतना ही महान है।

जब साहित्य की सृष्टि भावोत्कर्ष द्वारा होती है, तो यह अनिवार्य है कि उसका कोई आधार हो। हमारे अन्तःकरण का सामञ्जस्य जब तक बाहर के पदार्थों या वस्तुओ या प्राणियो से न होगा, जागृति हो ही नहीं सकती। भक्ति करने के लिए कोई प्रत्यक्ष वस्तु चाहिए। दया करने के लिए भी किसी पात्र की आवश्यकता है। धैर्य और साहस के लिए भी किसी सहारे की जरूरत है। तात्पर्य यह है कि हमारे भावों को जगाने के लिए उनका बाहर की वस्तुओ मे सामञ्जस्य होना चाहिए। अगर बाह्य प्रकृति का हमारे ऊपर कोई असर न पड़े, अगर हम किसी को पुत्र शोक मे विलाप करते देखकर आँसू की चार बूँदें नहीं गिरा सकते, अगर हम किसी आनन्दोत्सव मे मिलकर आनन्दित नही हो सकते, तो यह समझना चाहिए कि हम निर्वाण प्राप्त कर चुके हैं। उस दशा के लिए साहित्य का कोई मूल्य नहीं। साहित्यकार तो वही हो सकता है जो दुनिया के सुख-दुःख से सुखी या दुखी हो सके और दूसरो मे सुख या दुःख पैदा कर सके। स्वय दुःख अनुभव कर लेना काफी नहीं है। कलाकार मे उसे प्रकट करने का सामर्थ्य होना चाहिए। लेकिन परिस्थितियाँ मनुष्य को भिन्न दिशाओ मे डालती है। मनुष्य मात्र मे भावों की समानता होते हुए भी परिस्थितियों मे भेद होता ही है। हमे तो मिठास से काम है, चाहे वह ऊख में मिले या खजूर मे या चुकन्दर मे। अगर हम किसानो में रहते है या हमे उनके साथ रहने के अवसर मिले

है, तो स्वभावतः हम उनके सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझने लगते है और उससे उसी मात्रा मे प्रभावित होते है जितनी हमारे भावो मे गहराई है। इसी तरह अन्य परिस्थितियो को भी समझना चाहिए। अगर इसका अर्थ यह लगाया जाय कि अमुक प्राणी किसानों का, या मजदूरो का या किसी आन्दोलन का प्रोपागेंडा करता है. तो यह अन्याय है। साहित्य और प्रोपागेंडा मे क्या अन्तर है, इसे यहाँ प्रकट कर देना जरूरी मालूम होता है। प्रोपागेंडे मे अगर आत्म-विज्ञापन न भी हो तो एक विशेष उद्देश्य को पूरा करने की वह उत्सुकता होती है जो साधनो की परवा नहीं करती। साहित्य शीतल, मन्द समीर है, जो सभी को शीतल और आनदित करती है। प्रोपागेंडा आँधी है, जो आँखो में धूल झोंकती है, हरे-भरे वृक्षो को उखाड उखाड़ फेकती है, और झोपडे तथा महल दोनो को ही हिला देती है। वह रस-विहीन होने के कारण आनन्द की वस्तु नहीं। लेकिन यदि कोई चतुर कलाकार उसमे सौन्दर्य और रस भर सके, तो वह प्रोपागेंडा की चीज न होकर सद्साहित्य की वस्तु बन जाती है। 'अकिल टॉम्स केबिन" दास प्रथा के विरुद्ध प्रोपागेंडा है, लेकिन कैसा प्रोपागेंडा है? जिसके एक एक शब्द मे रस भरा हुआ है। इसलिए वह प्रोपागेंडा की चीज नहीं रहा। बर्नार्ड शा के ड्रामे, वेल्स के उपन्यास, गाल्सवर्दी के ड्रामे और उपन्यास, डिकेन्स, मेरी कारेली, रोमा रोला, टाल्स्टाय, चेस्टरटन, डास्टावेस्की, मैक्सिम गोर्की, सिंक्लेयर, कहाँ तक गिनाये। इन सभी की रचनाओ मे प्रोपागेंडा और साहित्य का सम्मिश्रण है। जितना शुष्क विषय-प्रतिपादन है वह प्रोपागेंडा है, जितनी सौन्दर्य की अनुभूति है, वह सच्चा साहित्य है। हम इसलिए किसी कलाकार से जवाब तलब नहीं कर सकते कि वह अमुक प्रसग से ही क्यो अनुराग रखता है। यह उसकी रुचि या परिस्थितियो से पैदा हुई परवशता है। हमारे लिए तो उसकी परीक्षा की एक ही कसौटी है : वह हमे सत्य और सुन्दर के समीप ले जाता है या नही? यदि ले जाता है तो वह साहित्य है, नही ले जाता तो प्रोपागेंडा या उससे भी निकृष्ट है।

हम अकसर किसी लेखक की आलोचना करते समय अपनी रुचि से पराभूत हो जाते हैं। ओह, इस लेखक की रचनायें कौड़ी काम की नहीं, यह तो प्रोपागेन्डिस्ट है, यह जो कुछ लिखता है, किसी उद्देश्य से लिखता है, इसके यहाँ विचारो का दारिद्रय है। इसकी रचनाओं में स्वानुभूत दर्शन नही, इत्यादि। हमे किसी लेखक के विषय मे अपनी राय रखने का अधिकार है, इसी तरह औरो को भी है, लेकिन सद्साहित्य की परख वही है जिसका हम उल्लेख कर आये है। उसके सिवा कोई दूसरी कसौटी हो ही नहीं सकती। लेखक का एक एक शब्द दर्शन मे डूबा हो, एक एक वाक्य मे विचार भरे हो, लेकिन उसे हम उस वक्त तक सद्साहित्य नहीं कह सकते, जब तक उसमे रस का स्रोत न बहता हो, उसमे भावों का उत्कर्ष न हो, वह हमे सत्य की ओर न ले जाता हो, अर्थात् ..बाह्य प्रकृति से हमारा मेल न कराता हो। केवल विचार और दर्शन का आधार लेकर वह दर्शन का शुष्क ग्रन्थ हो सकता है, सरस साहित्य नहीं हो सकता। जिस तरह किसी आन्दोलन या किसी सामाजिक अत्याचार के पक्ष या विपक्ष मे लिखा गया रसहीन साहित्य प्रोपागेंडा है, उसी तरह किसी तात्विक विचार या अनुभूत दर्शन से भरी हुई रचना भी प्रोपागेंडा है। साहित्य जहाँ रसो से पृथक् हुआ, वहीं वह साहित्य के पद से गिर जाता है और प्रोपागेंडा के क्षेत्र मे जा पहुँचता है। आस्कर वाइल्ड या शा आदि की रचनायें जहाँ तक विचार प्रधान हो, वहाँ तक रसहीन है। हम रामायण को इसलिए सद्साहित्य नहीं समझते कि उसमे विचार या दर्शन भरा हुआ है, बल्कि इसलिए कि उसका एक एक अक्षर सौन्दर्य के रस मे डूबा हुआ है, इसलिए कि उसमे त्याग और प्रेम और बन्धुत्व और मैत्री और साहस आदि मनोभावों की पूर्णता का रूप दिखाने वाले चरित्र है। हमारी आत्मा अपने अन्दर जिस अपूर्णता का अनुभव करती है, उसकी पूर्णता को पाकर वह मानो अपने को पा जाती है और यही उसके आनन्द की चरम सीमा है।

इसके साथ यह भी याद रखना चाहिए कि बहुधा एक लेखक की कलम से जो चीज प्रोपागेंडा होकर निकलती है, वही दूसरे लेखक की कलम से सद्साहित्य बन जाती है। बहुत कुछ लेखक के व्यक्तित्व पर मुनहसर है। हम जो कुछ लिखते है, यदि उसमे रहते भी है, तो हमारा शुष्क विचार भी अपने अन्दर आत्म प्रकाश का सन्देश रखता है और पाठक को उसमें आनन्द की प्राप्ति होती है। वह श्रद्धा जो हममे है, मानो अपना कुछ अंश हमारे लेखो मे भी डाल देती है। एक ऐसा लेखक जो विश्व बन्धुत्व की दुहाई देता हो, पर तुच्छ स्वार्थ के लिये लडने पर कमर कस लेता हो, कभी अपने ऊँचे आदर्श की सत्यता से हमे प्रभावित नहीं कर सकता। उसकी रचना मे तो विश्व बन्धुत्व की गन्ध आते ही हम ऊब जाते हैं, हमे उसमे कृत्रिमता की गन्ध आती है। और पाठक सब कुछ क्षमा कर सकता है, लेखक मे बनावट या दिखावा या प्रशंसा की लालसा को क्षमा नहीं कर सकता। हाँ, अगर उसे लेखक मे कुछ श्रद्धा है, तो वह उसके दर्शन, विचार, उपदेश, शिक्षा, सभी असाहित्यिक प्रसंगो मे सौन्दर्य का आभास पाता है। अतएव बहुत कुछ लेखक के व्यक्तित्व पर निर्भर है। लेकिन हम लेखक से परिचित हो या न हों, अगर वह सौन्दर्य की सृष्टि कर सकता है, तो हम उसकी रचना मे आनन्द प्राप्त करने से अपने को रोक नहीं सकते। साहित्य का आधार भावों का सौन्दर्य है, इससे परे जो कुछ है वह साहित्य नहीं कहा जा सकता।

कहानी-कला : १

गल्प, आख्यायिका या छोटी कहानी लिखने की प्रथा प्राचीन काल से चली आती है। धर्म-ग्रन्थो मे जो दृष्टान्त भरे पडे है, वे छोटी कहानियाँ ही है, पर कितनी उच्च-कोटि की। महाभारत, उपनिषद्, बुद्ध जातक, बाइबिल, सभी सद्ग्रथों मे जन-शिक्षा का यही साधन उपयुक्त समझा गया है। ज्ञान और तत्व की बाते इतनी सरल रीति से और क्योकर समझायी जाती? किन्तु प्राचीन ऋषि इन दृष्टान्तों द्वारा केवल आध्यात्मिक और नैतिक तत्वो का निरूपण करते थे। उनका अभिप्राय केवल मनोरञ्जन न होता था। सद्ग्रथो के रूपको और बाइबिल के Parables देखकर तो यही कहना पड़ता है कि अगले जो कुछ कर गये, वह हमारी शक्ति से बाहर है, कितनी विशुद्ध कल्पना, कितना मौलिक निरूपण, कितनी ओजस्विनी रचना-शैली है कि उसे देखकर वर्तमान साहित्यिक की बुद्धि चकरा जाती है। आजकल आख्यायिका का अर्थ बहुत व्यापक हो गया है। उसमे प्रेम की कहानियाँ, जासूसी किस्से, भ्रमण-वृत्तान्त, अद्भुत घटना, विज्ञान की बातें, यहाँ तक कि मित्रों की गप-शप भी शामिल कर दी जाती हैं। एक अँगरेजी समालोचक के मतानुसार तो कोई रचना, जो पन्द्रह मिनटो मे पढ़ी जा सके, गल्प कही जा सकती है। और तो और, उसका यथार्थ उद्देश्य इतना अनिश्चित हो गया है कि उसमे किसी प्रकार का उपदेश होना दूषण समझा जाने लगा है। वह कहानी सबसे नाकिस समझी जाता है, जिसमे उपदेश की छाया भी पड़ जाय।

आख्यायिकाओं द्वारा नैतिक उपदेश देने की प्रथा धर्मग्रंथों ही मे नहीं, साहित्य-ग्रंथो मे भी प्रचलित थो। कथा-सरित्सागर इसका उदाहरण

है। इसके पश्चात् बहुत-सी आख्यायिकाओ को एक शृङ्खला मे बाँधने की प्रथा चली। बैताल-पचीसी और सिंहासन-बत्तीसी इसी श्रेणी की पुस्तकें हैं। उनमे कितनी नैतिक और धार्मिक समस्याएँ हल की गयी है, यह उन लोगो से छिपा नही है, जिन्होने उनका अध्ययन किया है। अरबी मे सहस्र-रजनी-चरित्र इसी भाँति का अद्भुत संग्रह है; किन्तु उसमे किसी प्रकार का उपदेश देने की चेष्टा नहीं की गयी है। उसमे सभी रसो का समावेश है, पर अद्भुत रस ही की प्रधानता है, और अद्भुत रस मे उपदेश की गुञ्जाइश नहीं रहती। कदाचित् उसी आदर्श को लेकर इस देश मे शुक बहत्तरी के ढङ्ग की कथाएँ रची गयीं, जिनमे स्त्रियो की बेवफाई का राग अलापा गया है। यूनान मे हकीम ईसप ने एक नया ही ढङ्ग निकाला। उन्होने पशुपक्षियो की कहानियो द्वारा उपदेश देने का आविष्कार किया।

मध्यकाल काव्य और नाटक-रचना का काल था; आख्यायिकाओं की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया। उस समय कहीं तो भक्ति-काव्य की प्रधानता रही, कही राजाओ के कीर्तिगान की। हाँ, शेखसादी ने फारसी मे गुलिस्ताँ-बोस्ताँ की रचना करके आख्यायिकाओ की मर्यादा रखी। यह उपदेश-कुसुम इतना मनोहर और सुन्दर है कि चिरकाल तक प्रेमियो के हृदय इसके सुगन्ध से रञ्जित होते रहेगे। उन्नीसवीं शताब्दी मे फिर आख्यायिकाओ की ओर साहित्यकारो की प्रवृत्ति हुई; और तभी से सभ्य-साहित्य मे इनका विशेष महत्व है। योरप की सभी भाषाओं मे गल्पो का यथेष्ट प्रचार है; पर मेरे विचार मे फ्रान्स और रूस के साहित्य मे जितनी उच्च-कोटि की गल्पे पायी जाती है, उतनी अन्य योरपीय भाषाओ मे नही। अँगरेजी में भी डिकेंस, वेल्स, हार्डी, किप्लिङ्ग, शार्लट ब्राटी आदि ने कहानियाँ लिखी है, लेकिन इनकी रचनाएँ गी द मोपासाँ, बालजक या पियेर लोती के टक्कर की नहीं। फ्रान्सीसी कहानियो मे सरसता की मात्रा बहुत अधिक रहती है। इसके अतिरिक्त

मोपासाँ और बालजक ने आख्यायिका के आदर्श को हाथ से नहीं जाने दिया है। उनमे आध्यात्मिक या सामाजिक गुत्थियाँ अवश्य सुलझायी गयी है। रूस मे सबसे उत्तम कहानियाँ काउंट टालस्टाय की है। इनमे कई तो ऐसी है, जो प्राचीन काल के दृष्टान्तो की कोटि की है। चेकाफ ने बहुत कहानियाँ लिखी है, और योरप मे उनका प्रचार भी बहुत है; किन्तु उनमे रूस के विलास प्रिय समाज के जीवन-चित्रों के सिवा और कोई विशेषता नही। डास्टावेस्की ने भी उपन्यासो के अतिरिक्त कहानियाँ लिखी है, पर उनमे मनोभावो की दुर्बलता दिखाने ही की चेष्टा की गयी है। भारत मे बंकिमचन्द्र और डाक्टर रवीन्द्रनाथ ने कहानियाँ लिखी हैं, और उनमे से कितनी ही बहुत उच्च-कोटि की है।

प्रश्न यह हो सकता है कि आख्यायिका और उपन्यास मे आकार के अतिरिक्त और भी कोई अन्तर है? हाँ, है और बहुत बड़ा अन्तर है। उपन्यास घटनाओं, पात्रों और चरित्रों का समूह है, आख्यायिका केवल एक घटना है—अन्य बाते सब उसी घटना के अन्तर्गत होती है। इस विचार से उसकी तुलना ड्रामा से की जा सकती है। उपन्यास मे आप चाहे जितने स्थान लायें, चाहे जितने दृश्य दिखाये, चाहे जितने चरित्र खींचें, पर यह कोई आवश्यक बात नहीं कि वे सब घटनाएँ और चरित्र एक ही केन्द्र पर मिल जायँ। उनमे कितने ही चरित्र तो केवल मनोभाव दिखाने के लिए ही रहते हैं, पर आख्यायिका मे इस बाहुल्य की गुञ्जाइश नहीं, बल्कि कई सुविज्ञ जनो की सम्मति तो यह है कि उसमे केवल एक ही घटना या चरित्र का उल्लेख होना चाहिए। उपन्यास मे आपकी कलम मे जितनी शक्ति हो उतना जोर दिखाइये, राजनीति पर तर्क कीजिए, किसी महफिल के वर्णन मे दस-बीस पृष्ठ लिख डालिये; (भाषा सरस होनी चाहिए) ये कोई दूषण नहीं। आख्यायिका मे आप महफिल के सामने से चले जायँगे, और बहुत उत्सुक होने पर भी आप उसकी ओर निगाह नही उठा सकते। वहाँ तो एक शब्द, एक वाक्य भी ऐसा न होना चाहिए, जो गल्प के उद्देश्य को

स्पष्ट न करता हो। इसके सिवा, कहानी की भाषा बहुत ही सरल और सुबोध होनी चाहिए। उपन्यास वे लोग पढ़ते हैं, जिनके पास रुपया है; और समय भी उन्हीं के पास रहता है, जिनके पास धन होता है। आख्यायिका साधारण जनता के लिए लिखी जाती है, जिनके पास न धन है, न समय। यहाँ तो सरलता पैदा कीजिए, यही कमाल है। कहानी वह ध्रुपद की तान है जिसमे गायक महफिल शुरू होते ही अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा दिखा देता है, एक क्षण में चित्त को इतने माधुर्य से परिपूरित कर देता है, जितना रात भर गाना सुनने से भी नहीं हो सकता।

हम जब किसी अपरिचित प्राणी से मिलते है, तो स्वभावतः यह जानना चाहते है कि यह कौन है। पहले उससे परिचय करना आवश्यक समझते हैं। पर आजकल कथा भिन्न-भिन्न रूप से आरम्भ को जाती है। कहीं दो मित्रो की बातचीत से कथा आरम्भ हो जाती है, कहीं पुलिस-कोर्ट के एक दृश्य से। परिचय पीछे आता है। यह अँग्रेजी आख्यायिकाओ की नकल है। इनसे कहानी अनायास ही जटिल और दुर्बोध हो जाती है। योरपवालों की देखा-देखी यन्त्रो-द्वारा, डायरी या टिप्पणियों-द्वारा भी कहानियाँ लिखी जाती हैं। मैने स्वयं इन सभी प्रथाओं पर रचना की है; पर वास्तव मे इससे कहानी की सरलता मे बाधा पड़ती है। योरप के विज्ञ समालोचक कहानियो के लिए किसी अन्त की भी जरूरत नहीं समझते। इसका कारण यही है कि वे लोग कहानियाँ केवल मनोरंजन के लिए पढते है। आपको एक लेडी लन्दन के किसी होटल मे मिल जाती है। उसके साथ उसकी वृद्धा माता भी है। माता कन्या से किसी विशेष पुरुष से विवाह करने के लिए आग्रह करती है। लडकी ने अपना दूसरा वर ठीक कर रखा है। माँ बिगड़कर कहती है, मै तुझे अपना धन न दूँगी। कन्या कहती है, मुझे इसकी परवा नहीं। अन्त मे माता अपनी लड़की से रूठकर चली जाती है। लड़की निराशा की दशा मे बैठी है कि उसका अपना पसन्द किया युवक आता है। दोनों में बातचीत होती है। युवक का प्रेम सच्चा है। वह बिना धन के ही

विवाह करने पर राजी हो जाता है। विवाह होता है। कुछ दिनो तक स्त्री-पुरुष सुख-पूर्वक रहते है। इसके बाद पुरुष धनाभाव से किसी दूसरी धनवान् स्त्री की टोह लेने लगता है। उसकी स्त्री को इसकी खबर हो जाती है, और वह एक दिन घर से निकल जाती है। बस, कहानी समाप्त कर दी जाती है। क्योकि realists अर्थात् यथार्थवादियो का कथन है कि ससार मे नेकी-बदी का फल कहीं मिलता नजर नहीं आता; बल्कि बहुधा बुराई का परिणाम अच्छा और भलाई का बुरा होता है। आदर्शवादी कहता है, यथार्थ का यथार्थ रूप दिखाने से फायदा ही क्या, वह तो अपनी आँखों से देखते ही है। कुछ देर के लिए तो हमे इन कुत्सित व्यवहारो से अलग रहना चाहिए, नहीं तो साहित्य का मुख्य उद्देश्य ही गायब हो जाता है। वह साहित्य को समाज का दर्पण-मात्र नहीं मानता, बल्कि दीपक मानता है, जिसका काम प्रकाश फैलाना है। भारत का प्राचीन साहित्य आदर्शवाद ही का समर्थक है। हमे भी आदर्श ही की मर्यादा का पालन करना चाहिए। हाँ, यथार्थ का उसमे ऐसा सम्मिश्रण होना चाहिए कि सत्य से दूर न जाना पड़े।

कहानी-कला : २

एक आलोचक ने लिखा है कि इतिहास मे सब-कुछ यथार्थ होते हुए भी वह असत्य है, और कथा-साहित्य मे सब-कुछ काल्पनिक होते हुए भी वह सत्य है।

इस कथन का आशय इसके सिवा और क्या हो सकता है कि इतिहास आदि से अन्त तक हत्या, संग्राम और धोखे का ही प्रदर्शन है, जो असुन्दर है, इसलिए असत्य है। लोभ की क्रूर से क्रूर, अहङ्कार की नीच से नीच, ईर्ष्या की अधम से अधम घटनाएँ आपको वहाँ मिलेंगी, और आप सोचने लगेंगे, 'मनुष्य इतना अमानुष है! थोड़े-से स्वार्थ के लिए भाई भाई की हत्या कर डालता है, बेटा बाप की हत्या कर डालता है और राजा असंख्य प्रजा की हत्या कर डालता है!' उसे पढ़कर मन मे ग्लानि होती है, आनन्द नहीं। और जो वस्तु आनन्द नहीं प्रदान कर सकती वह सुन्दर नहीं हो सकती, और जो सुन्दर नहीं हो सकती वह सत्य भी नहीं हो सकती। जहाँ आनन्द है, वहीं सत्य है। साहित्य काल्पनिक वस्तु है; पर उसका प्रधान गुण है आनन्द प्रदान करना, और इसीलिए वह सत्य है।

मनुष्य ने जगत् में जो कुछ सत्य और सुन्दर पाया है और पा रहा है उसी को साहित्य कहते है, और कहानी भी साहित्य का एक भाग है।

मनुष्य-जाति के लिए मनुष्य ही सबसे विकट पहेली है। वह खुद अपनी समझ मे नहीं आता। किसी-न-किसी रूप मे वह अपनी ही आलो-

चना किया करता है—अपने ही मनोरहस्य खोला करता है। मानव-सस्कृति का विकास ही इसलिए हुआ है कि मनुष्य अपने को समझे। अध्यात्म और दर्शन की भॉति साहित्य भी इसी सत्य की खोज मे लगा हुआ है—अन्तर इतना ही है कि वह इस उद्योग मे रस का मिश्रण करके उसे आनन्दप्रद बना देता है, इसीलिए अध्यात्म और दर्शन केवल ज्ञानियो के लिए है, साहित्य मनुष्य-मात्र के लिए।

जैसा हम ऊपर कह चुके है, कहानी या आख्यायिका साहित्य का एक प्रधान अग है, आज से नही, आदि काल से ही। हॉ, आजकल की आख्यायिका और प्राचीन काल की आख्यायिका मे समय की गति और रुचि के परिवर्तन से, बहुत-कुछ अन्तर हो गया है। प्राचीन आख्यायिका कुतूहल-प्रधान होती थी या अध्यात्म-विषयक। उपनिषद् और महाभारत मे आध्यात्मिक रहस्यों को समझाने के लिए आख्यायिकाओ का आश्रय लिया गया है। बौद्ध-जातक भी आख्यायिका के सिवा और क्या है? बाइबिल मे भी दृष्टान्तो और आख्यायिकाओ के द्वार ही धर्म के तत्व समझाये गये हैं। सत्य इस रूप मे आकर साकार हो जाता है और तभी जनता उसे समझती है और उसका व्यवहार करती है।

वर्तमान आख्यायिका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और जीवन के यथार्थ और स्वाभाविक चित्रण को अपना ध्येय समझती है। उसमे कल्पना की मात्रा कम और अनुभूतियो की मात्रा अधिक होती है। इतना ही नहीं बल्कि अनुभूतियॉ ही रचनाशील भावना से अनुरञ्जित होकर कहानी बन जाती है।

मगर यह समझना भूल होगी कि कहानी जीवन का यथार्थ चित्र है। यथार्थ जीवन का चित्र तो मनुष्य स्वयं हो सकता है; मगर कहानी के पात्रो के सुख-दुःख से हम जितना प्रभावित होते है, उतना यथार्थ जीवन से नहीं होते—जब तक वह निजत्व की परिधि मे न आ जाय। कहानियों मे पात्रो से हमे एक ही दो मिनट के परिचय मे निजत्व हो

जाता है और हम उनके साथ हँसने और रोने लगते है। उनका हर्ष और विषाद हमारा अपना हर्ष और विषाद हो जाता है। इतना ही नहीं, बल्कि कहानी पढ़कर वे लोग भी रोते या हँसते देखे जाते है, जिन पर साधारणतः सुख-दुःख का कोई असर नही पडता। जिनकी आँखें श्मशान मे या कब्रिस्तान मे भी सजल नहीं होतीं, वे लोग भी उपन्यास के मर्म-स्पर्शी स्थलो पर पहुँचकर रोने लगते है।

शायद इसका यह भी कारण हो कि स्थूल प्राणी सूक्ष्म मन के उतने समीप नहीं पहुँच सकते, जितने कि कथा के सूक्ष्म चरित्र के। कथा के चरित्रो और मन के बीच मे जड़ता का वह पर्दा नहीं होता, जो एक मनुष्य के हृदय को दूसरे मनुष्य के हृदय से दूर रखता है और अगर हम यथार्थ को हूबहू खींचकर रख दे, तो उसमे कला कहाँ है? कला केवल यथार्थ की नकल का नाम नहीं है।

कला दीखती तो यथार्थ है; पर यथार्थ होती नहीं। उसकी खूबी यही है कि वह यथार्थ न होते हुए भी यथार्थ मालूम हो। उसका माप-दण्ड भी जीवन के माप-दण्ड से अलग है। जीवन मे बहुधा हमारा अन्त उस समय हो जाता है जब यह वाञ्छनीय नहीं होता। जीवन किसी का दायी नही है; उसके सुख-दुःख, हानि-लाभ, जीवन-मरण मे कोई क्रम, कोई सम्बन्ध नहीं ज्ञात होता—कम से कम मनुष्य के लिए वह अज्ञेय है। लेकिन कथा-साहित्य मनुष्य का रचा हुआ जगत् है और परिमित होने के कारण सम्पूर्णतः हमारे सामने आ जाता है, और जहाँ वह हमारी मानवी न्याय बुद्धि या अनुभूति का अतिक्रमण करता हुआ पाया जाता है, हम उसे दण्ड देने के लिए तैयार हो जाते हैं। कथा मे अगर किसी को सुख प्राप्त होता है तो इसका कारण बताना होगा, दुख भी मिलता है तो उसका कारण बताना होगा। यहाँ कोई चरित्र मर नहीं सकता, जब तक कि मानव-न्यायबुद्धि उसकी मौत न माँगे। स्रष्टा को जनता की अदालत मे अपनी हर एक कृति के लिए जवाब

देना पड़ेगा। कला का रहस्य भ्रान्ति है, जिस पर यथार्थ का आवरण पड़ा हो।

हमे यह स्वीकार कर लेने मे सकोच न होना चाहिए कि उपन्यासों ही की तरह आख्यायिका की कला भी हमने पच्छिम से ली है—कम-से-कम इसका आज का विकसित रूप तो पच्छिम का है ही। अनेक कारणों से जीवन की अन्य धाराओ की तरह ही साहित्य मे भी हमारी प्रगति रुक गयी और हमने प्राचीन से जौ-भर भी इधर-उधर हटना निषिद्ध समझ लिया। साहित्य के लिए प्राचीनो ने जो मर्यादाएँ बाँध दी थीं, उनका उल्लंघन करना वर्जित था। अतएव, काव्य, नाटक, कथा, किसी मे भी हम आगे कदम न बढ़ा सके। कोई वस्तु बहुत सुन्दर होने पर भी अरुचिकर हो जाती है, जब तक उसमे कुछ नवीनता न लायी जाय। एक ही तरह के नाटक, एक ही तरह के काव्य पढते-पढते आदमी ऊब जाता है और वह कोई नयी चीज चाहता है—चाहे वह उतनी सुन्दर और उत्कृष्ट न हो। हमारे यहाँ या तो यह इच्छा उठी ही नहीं, या हमने उसे इतना कुचला कि वह जड़ीभूत हो गयी। पश्चिम प्रगति करता रहा—उसे नवीनता की भूख थी, मर्यादाओं की बेडियों से चिढ़। जीवन के हर एक विभाग मे उसकी इस अस्थिरता तथा असन्तोष की बेडियो से मुक्त हो जाने की छाप लगी हुई है। साहित्य मे भी उसने क्रान्ति मचा दी।

शेक्सपियर के नाटक अनुपम है; पर आज उन नाटकों का जनता के जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं। आज के नाटक का उद्देश्य कुछ और है, आदर्श कुछ और है, विषय कुछ और है, शैली कुछ और है। कथा-साहित्य मे भी विकास हुआ और उसके विषय मे चाहे उतना बड़ा परिवर्तन न हुआ हो; पर शैली तो बिलकुल ही बदल गयी। अलिफलैला उस वक्त का आदर्श था—उसमे बहुरूपता थी, वैचित्र्य था, कुतूहल था, रोमान्स था—पर उसमे जीवन की समस्याएँ न थी, मनोविज्ञान के रहस्य न थे, अनुभूतियों की इतनी प्रचुरता न थी, जीवन अपने सत्य-

रूप मे इतना स्पष्ट न था। उसका रूपान्तर हुआ और उपन्यास का उदय हुआ, जो कथा और नाटक के बीच की वस्तु है। पुराने दृष्टान्त भी रूपान्तरित होकर कहानी बन गये।

मगर सौ बरस पहले यूरप भी इस कला से अनभिज्ञ था। बडे-बड़े उच्च कोटि के दार्शनिक, ऐतिहासिक तथा सामाजिक उपन्यास लिखे जाते थे; लेकिन छोटी-छोटी कहानियो की ओर किसी का ध्यान न जाता था। हॉ, परियो और भूतो की कहानियॉ लिखी जाती थीं। किन्तु इसी एक शताब्दी के अन्दर, या उससे भी कम मे समझिए, छोटी कहानियो ने साहित्य के और सभी अङ्गो पर विजय प्राप्त कर ली है, और यह कहना गलत न होगा कि जैसे किसी जमाने मे काव्य ही साहित्यिक अभिव्यक्ति का व्यापक रूप था, वैसे ही आज कहानी है। और उसे यह गौरव प्राप्त हुआ है यूरोप के कितने ही महान् कलाकारों की प्रतिभा से, जिनमे बालजक, मोपासॉ, चेखाफ, टॉल्स्टाय, मैक्सिम गोर्की आदि मुख्य हैं। हिन्दी मे पचीस-तीस साल पहले तक कहानी का जन्म न हुआ था। परन्तु आज तो कोई ऐसी पत्रिका नहीं जिसमे दो-चार कहानियॉ न हो—यहॉ तक कि कई पत्रिकाओ मे केवल कहानियॉ ही दी जाती है।

कहानियों के इस प्राबल्य का मुख्य कारण आजकल का जीवन-संग्राम और समयाभाव है। अब वह जमाना नहीं रहा कि हम 'बोस्ताने खयाल' लेकर बैठ जायॅ और सारे दिन उसी की कुजो मे विचरते रहें। अब तो हम जीवन-सग्राम मे इतने तन्मय हो गये हैं कि हमे मनोरंजन के लिए समय ही नहीं मिलता, अगर कुछ मनोरञ्जन स्वास्थ्याके लिए अनिवार्य न होता, और हम विक्षिप्त हुए बिना नित्य अठारह घटे काम कर सकते, तो शायद हम मनोरञ्जन का नाम भी न लेते। लेकिन प्रकृति ने हमे विवश कर दिया है। हम चाहते है कि थोडे से थोड़े समय मे अधिक मनोरञ्जन हो जाय—इसीलिए सिनेमा-गृहो की सख्या दिन-दिन बढ़ती जाती है। जिस उपन्यास के पढने मे महीनों लगते, उसका आनद हम दो घटो में उठा लेते है। कहानी के लिए पन्द्रह-बीस मिनट ही काफी

है। अतएव हम कहानी ऐसी चाहते हैं कि वह थोडे से थोडे शब्दो मे कही जाय, उसमे एक वाक्य, एक शब्द भी अनावश्यक न आने पाये, उसका पहला ही वाक्य मन को आकर्षित कर ले और अन्त तक उसे मुग्ध किये रहे, और उसमे कुछ चटपटापन हो, कुछ ताजगी हो, कुछ विकास हो, और इसके साथ ही कुछ तत्व भी हो। तत्वहीन कहानी से चाहे मनोरञ्जन भले ही हो जाय, मानसिक तृप्ति नहीं होती। यह सच है कि हम कहानियो मे उपदेश नही चाहते; लेकिन विचारो का उत्तेजित करने के लिए, मन के सुन्दर भावो को जाग्रत करने के लिए, कुछ-न-कुछ अवश्य चाहते है। वही कहानी सफल होती है, जिसमे इन दोनो मे से—मनोरञ्जन और मानसिक तृप्ति मे से—एक अवश्य उपलब्ध हो।

सबसे उत्तम कहानी वह होती है, जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो। साधु पिता का अपने कुव्यसनी पुत्र की दशा मे दुःखी होना मनोवैज्ञानिक सत्य है। इस आवेग मे पिता के मनोवेगो को चित्रित करना और तदनुकूल उसके व्यवहारो को प्रदर्शित करना कहानी को आकर्षक बना सकता है। बुरा आदमी भी बिलकुल बुरा नहीं होता, उसमे कही देवता अवश्य छिपा होता है—यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। उस देवता को खोलकर दिखा देना सफल आख्यायिका-लेखक का काम है। विपत्ति पर विपत्ति पडने से मनुष्य कितना दिलेर हो जाता है—यहाँ तक कि वह बडे से बडे संकट का सामना करने के लिए ताल ठोककर तैयार हो जाता है, उसकी दुर्वासना भाग जाती है, उसके हृदय के किसी गुप्त स्थान मे छिपे हुए जौहर निकल आते है और हमे चकित कर देते है—यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। एक ही घटना या दुर्घटना भिन्न-भिन्न प्रकृति के मनुष्यो को भिन्न-भिन्न रूप से प्रभावित करती है—हम कहानी मे इसको सफलता के साथ दिखा सके, तो कहानी अवश्य आकर्षक होगी। किसी समस्या का समावेश कहानी को आकर्षक बनाने का सबसे उत्तम साधन है। जीवन मे ऐसी समस्याएँ नित्य ही उपस्थित होती रहती हैं और उनसे पैदा होनेवाला द्वन्द्व आख्यायिका को चमका

देता है। सत्यवादी पिता को मालूम होता है कि उसके पुत्र ने हत्या की है। वह उसे न्याय की वेदी पर बलिदान कर दे, या अपने जीवन-सिद्धान्तो की हत्या कर डाले। कितना भीषण द्वन्द्व है ! पश्चात्ताप ऐसे द्वन्द्वों का अखण्ड स्रोत है एक भाई ने अपने दूसरे भाई की सम्पत्ति छल-कपट से अपहरण कर ली है, उसे भिक्षा माँगते देखकर क्या छली भाई को जरा भी पश्चात्ताप न होगा ? अगर ऐसा न हो, तो वह मनुष्य नहीं है।

उपन्यासों की भाँति कहानियाँ भी कुछ घटना-प्रधान होती है, कुछ चरित्र-प्रधान। चरित्र-प्रधान कहानी का पद ऊँचा समझा जाता है, मगर कहानी मे बहुत विस्तृत विश्लेषण की गुञ्जायश नही होती। यहाँ हमारा उद्देश्य सम्पूर्ण मनुष्य को चित्रित करना नहीं, वरन् उसके चरित्र का एक अग दिखाना है। यह परमावश्यक है कि हमारी कहानी से जो परिणाम या तत्व निकले, वह सर्वमान्य हो और उसमे कुछ बारीकी हो। यह एक साधारण नियम है कि हमे उसी बात मे आनन्द आता है जिससे हमारा कुछ सम्बन्ध हो। जूआ खेलनेवालो को जो उन्माद और उल्लास हाता है, वह दर्शक को कदापि नहीं हो सकता। जब हमारे चरित्र इतने सजीव और इतने आकर्षक होते है कि पाठक अपने को उनके स्थान पर समझ लेता है, तभी उस कहानी मे आनन्द प्राप्त होता है। अगर लेखक ने अपने पात्रों के प्रति पाठक मे यह सहानुभूति नहीं उत्पन्न कर दी, तो वह अपने उद्देश्य मे असफल है।

पाठको से यह कहने की जरूरत नहीं है कि इन थोड़े ही दिनों मे हिन्दी-कहानी-कला ने कितनी प्रौढ़ता प्राप्त कर ली है। पहले हमारे सामने केवल बँगला कहानियो का नमूना था। अब हम ससार के सभी प्रमुख कहानी-लेखकों की रचनाएँ पढ़ते है, उन पर विचार और बहस करते हैं, उनके गुण-दोष निकालते हैं और उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। अब हिन्दी कहानी-लेखको मे विषय, दृष्टिकोण और शैली का अलग अलग विकास होने लगा है—कहानी जीवन

से बहुत निकट आ गई है। उसकी जमीन अब उतनी लम्बी-चौड़ी नही है। उसमे कई रसो, कई चरित्रो और कई घटनाओ के लिए स्थान नहीं रहा। वह अब केवल एक प्रसग का, आत्मा की एक झलक का सजीव हृदय-स्पर्शी चित्रण है। इस एकतथ्यता ने उसमे प्रभाव, आकस्मिकता और तीव्रता भर दी है। अब उसमे व्याख्या का अश कम, सवेदना का अंश अधिक रहता है। उसकी शैली भी अब प्रभावमयी हो गई है। लेखक को जो कुछ कहना है, वह कम से कम शब्दो मे कह डालना चाहता है। वह अपने चरित्रों के मनोभावो की व्याख्या करने नहीं बैठता, केवल उसकी तरफ इशारा कर देता है। कभी-कभी तो सम्भाषणों मे एक दो शब्दों से ही काम निकाल देता है। ऐसे कितने ही अवसर होते है, जब पात्र के मुँह से एक शब्द सुनकर हम उसके मनोभावों का पूरा अनुमान कर लेते हैं, पूरे वाक्य की जरूरत ही नहीं रहती। अब हम कहानी का मूल्य उसके घटना-विन्यास से नही लगाते, हम चाहते हैं कि पात्रों की मनोगति स्वयं घटनाओ की सृष्टि करे। घटनाओ का स्वतन्त्र कोई महत्व ही नही रहा। उनका महत्व केवल पात्रो के मनोभावो को व्यक्त करने की दृष्टि से ही है—उसी तरह, जैसे शालिग्राम स्वतन्त्र रूप से केवल पत्थर का एक गोल टुकड़ा है, लेकिन उपासक की श्रद्धा से प्रतिष्ठित होकर देवता बन जाता है। खुलासा यह कि कहानी का आधार अब घटना नही, अनुभूति है। आज लेखक केवल कोई रोचक दृश्य देखकर कहानी लिखने नहीं बैठ जाता। उसका उद्देश्य स्थूल सौन्दर्य नही है। वह तो कोई ऐसी प्रेरणा चाहता है, जिसमे सौन्दर्य की झलक हो, और इसके द्वारा वह पाठक की सुन्दर भावनाओं को स्पर्श कर सके।

कहानी-कला : ३

कहानी सदैव से जीवन का एक विशेष अंग रही है। हर एक बालक को अपने बचपन की वे कहानियाँ याद होंगी, जो उसने अपनी माता या बहन से सुनी थीं। कहानियाँ सुनने को वह कितना लालायित रहता था, कहानी शुरू होते ही वह किस तरह सब-कुछ भूलकर सुनने मे तन्मय हो जाता था, कुत्ते और बिल्लियो की कहानियाँ सुनकर वह कितना प्रसन्न होता था—इसे शायद वह कभी नहीं भूल सकता। बाल-जीवन की मधुर स्मृतियो मे कहानी शायद सबसे मधुर है। वह खिलौने, मिठाइयाँ और तमाशे सब भूल गये; पर वे कहानियाँ अभी तक याद है और उन्ही कहानियों को आज उसके मुँह से उसके बालक उसी हर्ष और उत्सुकता से सुनते होगे। मनुष्य-जीवन की सबसे बड़ी लालसा यही है कि वह कहानी बन जाय और उसकी कीर्ति हर एक जबान पर हो।

कहानियों का जन्म तो उसी समय मे हुआ, जब आदमी ने बोलना सीखा; लेकिन प्राचीन कथा-साहित्य का हमे जो कुछ ज्ञान है, वह 'कथा-सरित्सागर,' 'ईसप की कहानियाँ' और 'अलिफ़-लैला' आदि पुस्तकों से हुआ है। ये सब उस समय के साहित्य के उज्ज्वल रत्न है। उनका मुख्य लक्षण उनका कथा-वैचित्र्य था। मानव-हृदय को वैचित्र्य से सदैव प्रेम रहा है। अनोखी घटनाओ और प्रसंगों को सुनकर हम, अपने बाप-दादा की भाँति ही, आज भी प्रसन्न होते है। हमारा ख्याल है कि जन-रुचि जितनी आसानी से अलिफ़-लैला की कथाओं का आनन्द उठाती

है, उतनी आसानी से नवीन उपन्यासो का आनन्द नहीं उठा सकती। और अगर काउट टॉल्सटॉय के कथनानुसार जनप्रियता ही कला का आदर्श मान लिया जाय, तो अलिफ-लैला के सामने स्वय टॉल्सटॉय के 'वार ऐंड पीस' और ह्यूगो के 'ले मिजरेबुल' की कोई गिनती नही। इस सिद्धान्त के अनुसार हमारी राग-रागिनियाँ, हमारी सुन्दर चित्रकारियाँ और कला के अनेक रूप, जिन पर मानव-जाति को गर्व है, कला के क्षेत्र से बाहर हो जायँगे। जन-रुचि परज और बिहाग की अपेक्षा बिरहे और दादरे को ज्यादा पसन्द करती है। बिरहो और ग्रामगीतो मे बहुधा बडे ऊँचे दरजे की कविता होती है, फिर भी यह कहना असत्य नहीं है कि विद्वानो और आचार्यों ने कला के विकास के लिए जो मर्यादाएँ बना दी है, उनसे कला का रूप अधिक सुन्दर और अधिक संयत हो गया है। प्रकृति मे जो कला है, वह प्रकृति की है, मनुष्य की नहीं। मनुष्य को तो वही कला मोहित करती है, जिस पर मनुष्य की आत्मा की छाप हो, जो गीली मिट्टी की भाँति मानव-हृदय के साँचे मे पड़कर संस्कृत हो गयी हो। प्रकृति का सौन्दर्य हमे अपने विस्तार और वैभव से पराभूत कर देता है। उससे हमे आध्यात्मिक उल्लास मिलता है, पर वही दृश्य जब मनुष्य की तूलिका एव रगो और मनोभावो से रजित होकर हमारे सामने आता है, तो वह जैसे हमारा अपना हो जाता है। उसमे हमे आत्मीयता का सन्देश मिलता है।

लेकिन भोजन जहाँ थोडे-से मसाले से अधिक रुचिकर हो जाता है, वहाँ यह भी आवश्यक है कि मसाले मात्रा से बढने न पाये। जिस तरह मसालो के बाहुल्य से भोजन का स्वाद और उपयोगिता कम हो जाती है, उसी भाँति साहित्य भी अलकारो के दुरुपयोग से विकृत हो जाता है। जो कुछ स्वाभाविक है, वही सत्य है और स्वाभाविक से दूर होकर कला अपना आनन्द खो देती है और उसे समझनेवाले थोडे-से कलाविद् ही रह जाते है, उसमे जनता के मर्म को स्पर्श करने की शक्ति नहीं रह जाती।

पुरानी कथा-कहानियाँ अपने घटना-वैचित्र्य के कारण मनोरञ्जक तो हैं; पर उनमे उस रस की कमी है जो शिक्षित रुचि साहित्य मे खोजती है। अब हमारी साहित्यिक रुचि कुछ परिष्कृत हो गयी है। हम हर एक विषय की भाँति साहित्य मे भी बौद्धिकता की तलाश करते है। अब हम किसी राजा की अलौकिक वीरता या रानी के हवा मे उड़कर राजा के पास पहुँचने, या भूत-प्रेतो के काल्पनिक चरित्रो को देखकर प्रसन्न नहीं होते। हम उन्हे यथार्थ के काँटे पर तौलते है और जौ-भर भी इधर-उधर नहीं देखना चाहते। आजकल के उपन्यासो और आख्यायिकाओ मे अस्वाभाविक बातो के लिए गुंजाइश नही है। उसमे हम अपने जीवन का ही प्रतिबिम्ब देखना चाहते है। उसके एक-एक वाक्य को, एक-एक पात्र को यथार्थ के रूप मे देखना चाहते है। उनमे जो कुछ भी हो, वह इस तरह लिखा जाय कि साधारण बुद्धि उसे यथार्थ समझे। घटना वर्तमान कहानी या उपन्यास का मुख्य अग नही है। उपन्यासो मे पात्रों का केवल बाह्य रूप देखकर हम सन्तुष्ट नही होते। हम उनके मनोगत भावो तक पहुँचना चाहते है और जो लेखक मानवी हृदय के रहस्यों को खोलने मे सफल होता है, उसी की रचना सफल समझी जाती है। हम केवल इतने ही से सन्तुष्ट नहीं होते कि अमुक व्यक्ति ने अमुक काम किया। हम देखना चाहते है कि किन मनोभावो से प्रेरित होकर उसने यह काम किया, अतएव मानसिक द्वन्द्व वर्तमान उपन्यास या गल्प का खास अङ्ग है।

प्राचीन कलाओ मे लेखक बिलकुल नेपथ्य मे छिपा रहता था। हम उसके विषय मे उतना ही जानते थे, जितना वह अपने को अपने पात्रों के मुख से व्यक्त करता था। जीवन पर उसके क्या विचार है, भिन्न-भिन्न परिस्थितियो मे उसके मनोभावो मे क्या परिवर्तन होते है, इसका हमे कुछ पता न चलता था, लेकिन आजकल उपन्यासो मे हमे लेखक के दृष्टिकोण का भी स्थल-स्थल पर परिचय मिलता रहता है। हम उसके मनोगत विचारों और भावों द्वारा उसका रूप देखते रहते हैं और ये

भाव जितने व्यापक और गहरे तथा अनुभव-पूर्ण होते हैं, उतनी ही लेखक के प्रति हमारे मन मे श्रद्धा उत्पन्न होती है। यो कहना चाहिए कि वर्तमान आख्यायिका या उपन्यास का आधार ही मनोविज्ञान है। घटनाएँ और पात्र तो उसी मनोवैज्ञानिक सत्य को स्थिर करने के निमित्त ही लाये जाते है। उनका स्थान बिलकुल गौण है। उदाहरणतः मेरी 'सुजान भगत,' 'मुक्तिमार्ग', 'पञ्च-परमेश्वर', 'शतरज के खिलाड़ी' और 'महातीर्थ' नामक सभी कहानियो मे एक न एक मनोवैज्ञानिक रहस्य को खोलने की चेष्टा की गयी है।

यह तो सभी मानते है कि आख्यायिका का प्रधान धर्म मनोरञ्जन है; पर साहित्यिक मनोरञ्जन वह है, जिससे हमारी कोमल और पवित्र भावनाओं को प्रोत्साहन मिले—हममे सत्य, निःस्वार्थ सेवा, न्याय आदि देवत्व के जो अंश हैं, वे जाग्रत हों। वास्तव मे मानवीय आत्मा की यह वह चेष्टा है, जो उसके मन में अपने-आपको पूर्णरूप मे देखने की होती है। अभिव्यक्ति मानव-हृदय का स्वाभाविक गुण है। मनुष्य जिस समाज मे रहता है, उसमे मिलकर रहता है, जिन मनोभावों से वह अपने मेल के क्षेत्र का बढ़ा सकता है, अर्थात् जीवन के अनन्त प्रवाह मे सम्मिलित हो सकता है, वही सत्य है। जो वस्तुएँ भावनाओ के इस प्रवाह मे बाधक होती है, वे सर्वथा अस्वाभाविक है; परन्तु यदि स्वार्थ, अहङ्कार और ईर्षा की ये बाधाएँ न होती, तो हमारी आत्मा के विकास को शक्ति कहाँ से मिलती? शक्ति तो संघर्ष मे है। हमारा मन इन बाधाओ का परास्त करके अपने स्वाभाविक कर्म का प्राप्त करने की सदैव चेष्टा करता रहता है। इसी सघर्ष से साहित्य की उत्पत्ति होती है। यहीं साहित्य की उपयागिता भी है। साहित्य मे कहानी का स्थान इसलिए ऊँचा है कि वह एक क्षण मे ही, बिना किसी घुमाव-फिराव के, आत्मा के किसी न किसी भाव को प्रकट कर देती है। और चाहे थोड़ी ही मात्रा मे क्यो न हो, वह हमारे परिचय का, दूसरो मे अपने को देखने का, दूसरो के हर्ष या शोक को अपना बना लेने का क्षेत्र बढ़ा देती है।

हिन्दी में इस नवीन शैली की कहानियो का प्रचार अभी थोडे ही दिनो से हुआ है, पर इन थोडे ही दिनों मे इसने साहित्य के अन्य सभी अङ्गों पर अपना सिक्का जमा लिया है। किसी पत्र को उठा लीजिए, उसमे कहानियों ही की प्रधानता होगी। हॉ जो पत्र किसी विशेष नीति या उद्देश्य से निकाले जाते है उनमे कहानियो का स्थान नहीं रहता। जब डाकिया कोई पत्रिका लाता है, तो हम सबसे पहले उसकी कहानियॉ पढ़ना शुरू करते हैं। इनसे हमारी वह क्षुधा तो नही मिटती, जो इच्छा-पूर्ण भोजन चाहती है पर फलो और मिठाइयो की जो क्षुधा हमे सदैव बनी रहती है, वह अवश्य कहानियो से तृप्त हो जाती है। हमारा खयाल है कि कहानियों ने अपने सार्वभौम आकर्षण के कारण, ससार के प्राणियो को एक दूसरे से जितना निकट कर दिया है, उनमे जो एकात्मभाव उत्पन्न कर दिया है, उतना और किसी चीज ने नहीं किया। हम आस्ट्रेलिया का गेहूँ खाकर, चीन की चाय पीकर, अमेरिका की मोटरों पर बैठकर भी उनको उत्पन्न करनेवाले प्राणियो से बिलकुल अपरिचित रहते है, लेकिन मोपासॉ, अनातोल फ्रान्स, चेखोव और टॉलस्टॉय की कहानियॉ पढकर हमने फ्रान्स और रूस से आत्मिक सम्बन्ध स्थापित कर लिया है। हमारे परिचय का क्षेत्र सागरो, द्वीपो और पहाडों को लॉघता हुआ फ्रान्स और रूस तक विस्तृत हो गया है। हम वहॉ भी अपनी ही आत्मा का प्रकाश देखने लगते है। वहॉ के किसान और मजदूर एवं विद्यार्थी हमे ऐसे लगते है, मानो उनसे हमारा घनिष्ट परिचय हो।

हिन्दी मे बीस-पच्चीस साल पहले कहानियों की कोई चर्चा न थी। कभी-कभी बँगला या ऑगरेजी कहानियों के अनुवाद छप जाते थे। परन्तु आज कोई ऐसा पत्र नहीं, जिसमे दो-चार कहानियॉ प्रतिमास न छपती हो। कहानियो के अच्छे-अच्छे सग्रह निकलते जा रहे हैं। अभी बहुत दिन नहीं हुए कि कहानियों का पढना समय का दुरुपयोग समझा जाता था। बचपन मे हम कभी कोई किस्सा पढ़ते पकड़ लिये जाते थे,

तो कडी डॉट पड़ती थी। यह ख्याल किया जाता था कि किस्सो से चरित्र भ्रष्ट हो जाता है। और उन 'फिसाना अजायब' और 'शुक-बहत्तरी' और 'तोता-मैना' के दिनो मे ऐसा ख्याल होना स्वाभाविक ही था। उस वक्त कहानियाँ कही स्कूल कैरिकुलम मे रख दी जाती, तो शायद पिताओ का एक डेपुटेशन इसके विरोध मे शिक्षा-विभाग के अध्यक्ष की सेवा मे पहुँचता। आज छोटे-बडे सभी क्लासो मे कहानियाँ पढायी जाती है और परीक्षाओ मे उन पर प्रश्न किये जाते है। यह मान लिया गया है कि सास्कृतिक विकास के लिए सरस साहित्य से उत्तम कोई साधन नहीं है। अब लोग यह भी स्वीकार करने लगे है कि कहानी कोरी गप नही है, और उसे मिथ्या समझना भूल है। आज से दो हजार बरस पहले यूनान के विख्यात फिलासफर अफलातूं ने कहा था कि हर एक काल्पनिक रचना मे मौलिक सत्य मौजूद रहता है। रामायण, महाभारत आज भी उतने ही सत्य है, जितने आज से पॉच हजार साल पहले थे, हालाँकि इतिहास, विज्ञान और दर्शन मे सदैव परिवर्तन होते रहते है। कितने ही सिद्धान्त, जो एक जमाने मे सत्य समझे जाते थे, आज असत्य सिद्ध हो गये हैं, पर कथाएँ आज भी उतनी ही सत्य हैं, क्योकि उनका सम्बन्ध मनोभावो से है और मनोभावों मे कभी परिवर्तन नही होता। किसी ने बहुत ठीक कहा है, कि कहानी मे नाम और सन् के सिवा और सब कुछ सत्य है; और इतिहास मे नाम और सन् के सिवा कुछ भी सत्य नही। गल्पकार अपनी रचनाओ को जिस सॉचे मे चाहे ढाल सकता है: पर किसी दशा मे भी वह उस महान् सत्य की अवहेलना नहीं कर सकता, जो जीवन सत्य कहलाता है।

उपन्यास

उपन्यास की परिभाषा विद्वानों ने कई प्रकार से की है, लेकिन यह कायदा है कि जो चीज जितनी ही सरल होती है, उसकी परिभाषा उतनी ही मुश्किल होती है। कविता की परिभाषा आज तक नहीं हो सकी। जितने विद्वान् हैं उतनी ही परिभाषाएँ है। किन्ही दो विद्वानो की राये नही मिलती। उपन्यास के विषय मे भी यही बात कही जा सकती है। इसकी कोई ऐसी परिभाषा नहीं है जिस पर सभी लोग सहमत हों।

मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र-मात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यो को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है।

किन्ही भी दो आदमियो की सूरतें नहीं मिलती, उसी भाँति आदमियो के चरित्र भी नहीं मिलते। जैसे सब आदमियों के हाथ, पाँव, आँखे, कान, नाक, मुँह होते है पर उतनी समानता पर भी जिस तरह उनमे विभिन्नता मौजूद रहती है, उसी भाँति सब आदमियो के चरित्र मे भी बहुत कुछ समानता होते हुए कुछ विभिन्नताएँ होती हैं। यही चरित्र-सम्बन्धी समानता और विभिन्नता, अभिन्नत्व मे भिन्नत्व और विभिन्नत्व मे अभिन्नत्व, दिखाना उपन्यास का मुख्य कर्त्तव्य है।

सन्तान-प्रेम मानव-चरित्र का एक व्यापक गुण है। ऐसा कौन प्राणी होगा, जिसे अपनी सन्तान प्यारी न हो ? लेकिन इस सन्तान-प्रेम की मात्राएँ है, उसके भेद है। कोई तो सन्तान के लिए मर मिटता

है, उसके लिए कुछ छोड जाने के लिए आप नाना प्रकार के कष्ट झेलता है, लेकिन धर्म-भीरुता के कारण अनुचित रीति से धन-सचय नहीं करता है। उसे शका होती है कि कही इसका परिणाम हमारी सन्तान के लिए बुरा न हो। कोई ऐसा होता है कि औचित्य का लेश-मात्र भी विचार नहीं करता—जिस तरह भी हो कुछ धन-संचय कर जाना अपना ध्येय समझता है, चाहे इसके लिए उसे दूसरो का गला ही क्यो न काटना पडे। वह सन्तान-प्रेम पर अपनी आत्मा को भी बलिदान कर देता है। एक तीसरा सन्तान-प्रेम वह है, जहाँ सन्तान का चरित्र प्रधान कारण होता है, जब कि पिता सन्तान का कुचरित्र देखकर उससे उदासीन हो जाता है—उसके लिए कुछ छोड़ जाना व्यर्थ समझता है। अगर आप विचार करेंगे तो इसी सन्तान-प्रेम के अगणित भेद आपको मिलेंगे। इसी भाँति अन्य मानव-गुणों की भी मात्राएँ और भेद है। हमारा चरित्राध्ययन जितना ही सूक्ष्म, जितना ही विस्तृत होगा, उतनी ही सफलता से हम चरित्रो का चित्रण कर सकेंगे। सन्तान-प्रेम की एक दशा यह भी है, जब पुत्र को कुमार्ग पर चलते देखकर पिता उसका घातक शत्रु हो जाता है। वह भी सन्तान-प्रेम ही है, जब पिता के लिए पुत्र घी का लड्डू होता है जिसका टेढापन उसके स्वाद मे बाधक नहीं होता। वह सन्तान-प्रेम भी देखने मे आता है जहाँ शराबी, जुआरी पिता पुत्र-प्रेम के वशीभूत होकर ये सारी बुरी आदते छोड़ देता है।

अब यहाँ प्रश्न होता है, उपन्यासकार को इन चरित्रो का अध्ययन करके उनको पाठक के सामने रख देना चाहिए, उसमे अपनी तरफ से काट छाँट कमी बेशी कुछ न करनी चाहिये, या किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए चरित्रो मे कुछ परिवर्तन भी कर देना चाहिए?

यहीं से उपन्यासो के दो गिरोह हो गये है। एक आदर्शवादी, दूसरा यथार्थवादी।

यथार्थवादी चरित्रो को पाठक के सामने उनके यथार्थ नग्न रूप मे रख देता है। उसे इससे कुछ मतलब नहीं कि सच्चरित्रता का परिणाम

बुरा होता है या कुचरित्रता का परिणाम अच्छा—उसके चरित्र अपनी कमजोरियाँ या खूबियाँ दिखाते हुए अपनी जीवन-लीला समाप्त करते हैं। संसार मे सदैव नेकी का फल नेक और बदी का फल बद नही होता, बल्कि इसके विपरीत हुआ करता है, नेक आदमी धक्के खाते है, यातनाएँ सहते है, मुसीबतें झेलते है, अपमानित होते है, उनको नेकी का फल उलटा मिलता है, और बुरे आदमी चैन करते है, नामवर होते है, यशस्वी बनते है, उनको बदी का फल उलटा मिलता है। (प्रकृति का नियम विचित्र है!) यथार्थवादी अनुभव की बेड़ियो मे जकड़ा होता है और चूँकि ससार मे बुरे चरित्रों की ही प्रधानता है—यहाँ तक कि उज्ज्वल से उज्ज्वल चरित्र मे भी कुछ न कुछ दाग-धब्बे रहते हैं, इस-लिए यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओं, हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओ का नग्न चित्र होता है और इस तरह यथार्थवाद हमको निराशा-वादी बना देता है, मानव-चरित्र पर से हमारा-विश्वास उठ जाता है, हमको अपने चारो तरफ बुराई ही बुराई नजर आने लगती है।

इसमे सन्देह नहीं कि समाज की कुप्रथा की ओर उसका ध्यान दिलाने के लिए यथार्थवाद अत्यन्त उपयुक्त है, क्योकि इसके बिना बहुत सम्भव है, हम उस बुराई को दिखाने मे अत्युक्ति से काम लें और चित्र को उससे कही काला दिखायें जितना वह वास्तव मे है। लेकिन जब वह दुर्बलताओं का चित्रण करने मे शिष्टता की सीमाओं से आगे बढ़ जाता है, तो आपत्तिजनक हो जाता है। फिर मानव स्वभाव की विशेषता यह भी है कि वह जिस छल, क्षुद्रता और कपट से घिरा हुआ है, उसी की पुनरावृत्ति उसके चित्त को प्रसन्न नही कर सकती। वह थोड़ी देर के लिए ऐसे ससार मे उड़कर पहुँच जाना चाहता है, जहाँ उसके चित्त को ऐसे कुत्सित भावों से नजात मिले—वह भूल जाय कि मै चिन्ताओ के बन्धन मे पड़ा हुआ हूँ, जहाँ उसे सज्जन, सहृदय, उदार प्राणियों के दर्शन हो; जहाँ छल और कपट, विरोध और वैमनस्य का ऐसा प्राधान्य न हो। उसके दिल मे ख्याल होता है कि जब हमे

किस्से-कहानियो मे भी उन्ही लोगो से साबका है जिनके साथ आठों पहर व्यवहार करना पड़ता है, तो फिर ऐसी पुस्तक पढे ही क्यो ?

अँधेरी गर्म कोठरी मे काम करते-करते जब हम थक जाते है तब इच्छा होती है कि किसी बाग मे निकलकर निर्मल स्वच्छ वायु का आनद उठाये। इसी कमी को आदर्शवाद पूरा करता है। वह हमे ऐसे चरित्रो से परिचित कराता है, जिनके हृदय पवित्र होते है, जो स्वार्थ और वासना से रहित होते है, जो साधु प्रकृति के होते हैं। यद्यपि ऐसे चरित्र व्यवहार-कुशल नही होते, उनकी सरलता उन्हे सासारिक विषयो मे धोखा देती है, लेकिन कॉइएपन से ऊबे हुए प्राणियो को ऐसे सरल, ऐसे व्यावहारिक ज्ञान विहीन चरित्रों के दर्शन से एक विशेष आनन्द होता है।

यथार्थवाद यदि हमारी आँखें खोल देता है, तो आदर्शवाद हमे उठाकर किसी मनोरम स्थान मे पहुँचा देता है। लेकिन जहाँ आदर्शवाद मे यह गुण है, वहाँ इस बात की भी शका है कि हम ऐसे चरित्रो को न चित्रित कर बैठे जो सिद्धातो की मूर्तिमात्र हो—जिनमे जीवन न हो। किसी देवता की कामना करना मुश्किल नही है, लेकिन उस देवता मे प्राण-प्रतिष्ठा करना मुश्किल है।

इसलिए वही उपन्यास उच्चकोटि के समझे जाते हैं, जहाँ यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया हो। उसे आप 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कह सकते है। आदर्श को सजीव बनाने ही के लिए यथार्थ का उपयोग होना चाहिए और अच्छे उपन्यास की यही विशेषता है। उपन्यासकार की सबसे बडी विभूति ऐसे चरित्रों की सृष्टि है, जो अपने सद्व्यवहार और सद्विचार से पाठक को मोहित कर ले। जिस उपन्यास के चरित्रो मे यह गुण नहीं है, वह दो कौड़ी का है।

चरित्र को उत्कृष्ट और आदर्श बनाने के लिए यह जरूरी नहीं कि वह निर्दोष हो—महान् से महान् पुरुषो मे भी कुछ न कुछ कमजोरियाँ होती है। चरित्र को सजीव बनाने के लिए उसकी कमजोरियो का दिग्दर्शन

रोकने से कोई हानि नहीं होती। बल्कि यही कमजोरियाँ उस चरित्र को मनुष्य बना देती हैं। निर्दोष चरित्र तो देवता हो जायगा और हम उसे समझ ही न सकेंगे। ऐसे चरित्र का हमारे ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। हमारे प्राचीन साहित्य पर आदर्श की छाप लगी हुई है। वह केवल मनोरञ्जन के लिए न था। उसका मुख्य उद्देश्य मनोरञ्जन के साथ आत्मपरिष्कार भी था। साहित्यकार का काम केवल पाठकों का मन बहलाना नहीं है। यह तो भाटों और मदारियों, विदूषकों और मसखरों का काम है। साहित्यकार का पद इससे कहीं ऊँचा है। वह हमारा पथ-प्रदर्शक होता है, वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है, हममें सद्भावों का संचार करता है, हमारी दृष्टि को फैलाता है। कम से कम उसका यही उद्देश्य होना चाहिए। इस मनोरथ को सिद्ध करने के लिए जरूरत है कि उसके चरित्र Positive हों, जो प्रलोभनों के आगे सिर न झुकायें बल्कि उनको परास्त करें, जो वासनाओं के पंजे में न फँसें बल्कि उनका दमन करें, जो किसी विजयी सेनापति की भाँति शत्रुओं का संहार करके विजय-नाद करते हुए निकलें। ऐसे ही चरित्रों का हमारे ऊपर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है।

साहित्य का सबसे ऊँचा आदर्श यह है कि उसकी रचना केवल कला की पूर्ति के लिए की जाय। 'कला के लिए कला' के सिद्धान्त पर किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। वह साहित्य चिरायु हो सकता है जो मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों पर अवलम्बित हो, ईर्षा और प्रेम, क्रोध और लोभ, भक्ति और विराग, दुःख और लज्जा—ये सभी हमारी मौलिक प्रवृत्तियाँ हैं, इन्हीं की छटा दिखाना साहित्य का परम उद्देश्य है और बिना उद्देश्य के तो कोई रचना हो ही नहीं सकती।

जब साहित्य की रचना किसी सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक मत के प्रचार के लिए की जाती है, तो वह अपने ऊँचे पद से गिर जाता है—इसमें कोई सन्देह नहीं। लेकिन आज-कल परिस्थितियाँ इतनी तीव्र गति से बदल रही हैं, इतने नये-नये विचार पैदा हो रहे हैं, कि कदाचित्

अब कोई लेखक साहित्य के आदर्श को ध्यान मे रख ही नहीं सकता। यह बहुत मुश्किल है कि लेखक पर इन परिस्थितियो का असर न पडे, वह उनसे आन्दोलित न हो। यही कारण है कि आज-कल भारतवर्ष के ही नही, यूरोप के बड़े बड़े विद्वान् भी अपनी रचना द्वारा किसी 'वाद' का प्रचार कर रहे है। वे इसकी परवा नहीं करते कि इससे हमारी रचना जीवित रहेगी या नहीं; अपने मत की पुष्टि करना ही उनका ध्येय है, इसके सिवाय उन्हे कोई इच्छा नहीं। मगर यह क्योकर मान लिया जाय कि जो उपन्यास किसी विचार के प्रचार के लिए लिखा जाता है, उसका महत्व क्षणिक होता है? विक्टर ह्यूगो का 'ले मिजरेबुल', टालस्टाय के अनेक ग्रंथ, डिकेन्स की कितनी ही रचनाएँ विचार-प्रधान होते हुए उच्च कोटि की साहित्यिक कृतियाँ हैं और अब तक उनका आकर्षण कम नहीं हुआ। आज भी शॉ, वेल्स आदि बड़े बडे लेखकों के ग्रन्थ प्रचार ही के उद्देश्य से लिखे जा रहे है।

हमारा ख्याल है कि क्यो न कुशल साहित्यकार कोई विचार प्रधान रचना भी इतनी सुन्दरता से करे जिसमें मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों का सघर्ष निभता रहे? 'कला के लिए कला' का समय वह हाता है जब देश सम्पन्न और सुखी हो। जब हम देखते है कि हम भाँति-भाँति के राजनीतिक और सामाजिक बन्धनो मे जकडे हुए है, जिधर निगाह उठती है दुःख और दरिद्रता के भीषण दृश्य दिखायी देते हैं, विपत्ति का करुण क्रदन सुनायी देता है, तो कैसे सभव है कि किसी विचार-शील प्राणी का हृदय न दहल उठे? हाँ, उपन्यासकार को इसका प्रयत्न अवश्य करना चाहिए कि उसके विचार परोक्ष रूप से व्यक्त हो, उपन्यास की स्वाभाविकता मे उस विचार के समावेश से कोई विघ्न न पडने पाये, अन्यथा उपन्यास नीरस हो जायगा।

डिकेस इगलैड का बहुत प्रसिद्ध उपन्यासकार हो चुका है। 'पिक-विक पेपर्स' उसकी एक अमर हास्य-रस प्रधान रचना है। 'पिकविक' का नाम एक शिकरम गाड़ी के मुसाफिरो की जबान से डिकेस के कान में

आया। बस, नाम के अनुरूप ही चरित्र, आकार, वेश—सबकी रचना हो गयी। 'साइलस मार्नर' भी अँगरेजी का एक प्रसिद्ध उपन्यास है। जार्ज इलियट ने, जो इसकी लेखिका है, लिखा है कि अपने बचपन मे उन्होंने एक फेरी लगानेवाले जुलाहे को पीठ पर कपडे के थान लादे हुए कई बार देखा था। वह तसवीर उनके हृदय-पट पर अंकित हो गयी थी और समय पर इस उपन्यास के रूप मे प्रकट हुई। 'स्कारलेट लेटर' भी हॅथर्न की बहुत ही सुन्दर, मर्मस्पर्शिनी रचना है। इस पुस्तक का बीजाकुर उन्हे एक पुराने मुकद्दमे की मिसिल से मिला। भारतवर्ष मे अभी उपन्यासकारो के जीवन-चरित्र लिखे नही गये, इसलिए भारतीय उपन्यास-साहित्य से कोई उदाहरण देना कठिन है। 'रङ्गभूमि' का बीजाकुर हमे एक अंधे भिखारी से मिला जो हमारे गॉव मे रहता था। एक जरा-सा इशारा, एक जरा-सा बीज, लेखक के मस्तिष्क मे पहुँचकर इतना विशाल वृक्ष बन जाता है कि लोग उस पर आश्चर्य करने लगते है। 'एम० ऐंड्रूज़ हिम' रडयार्ड किपलिग को एक उत्कृष्ट काव्य-रचना है। किपलिंग साहब ने अपने एक नोट मे लिखा है कि एक दिन एक इञ्जीनियर साहब ने रात को अपना जीवन-कथा सुनायी थी। वही उस काव्य का आधार थो। एक और प्रसिद्ध उपन्यासकार का कथन है कि उसे अपने उपन्यासो के चरित्र अपने पडासियो मे मिले। वह घण्टो अपनी खिडकी के सामने बैठे लोगो को आते-जाते सूक्ष्म दृष्टि से देखा करते और उनकी बातों को ध्यान से सुना करते थे। 'जेन आयर' भी उपन्यास के प्रेमियों ने अवश्य पढ़ी होगी। दो लेखिकाओ मे इस विषय पर बहस हो रही थी कि उपन्यास की नायिका रूपवतो होनी चाहिये या नहीं। 'जेन आयर' की लेखिका ने कहा, 'मै ऐसा उपन्यास लिखूँगी जिसकी नायिका रूपवती न होते हुए भी आकर्षक होगी।' इसका फल था 'जेन आयर'।

बहुधा लेखको को पुस्तको से अपनी रचनाओ के लिए अकुर मिल जाते हैं। हाल केन का नाम पाठको ने सुना है। आपकी एक उत्तम

उसके वि का हिन्दी अनुवाद हाल ही मे 'अमरपुरी' के नाम से हुआ है।
मे नवीनलेखते है कि मुझे बाइबिल से प्लाट मिलते है। मेटरलिंक
लेषयम के जगद्विख्यात नाटककार हैं। उन्हे बेलजियम का शेक्मपियर
पक्तियो है। उनका 'मोमावोन' नामक ड्रामा ब्राउनिंग की एक कविता से
स्वीकार हुआ था और 'मेरी मैगडालीन' एक जर्मन ड्रामा से। शेक्सपियर
दृश्य वेटको का मूल स्थान खोज-खोजकर कितने ही विद्वानो ने 'डाक्टर'
यूरोप उपाधि प्राप्त कर ली है। कितने वर्तमान औपन्यासिको और नाटक-
उनका ने शेक्सपियर से सहायता ली है, इसकी खोज करके भी कितने ही
अलग 'डाक्टर' बन सकते है। 'तिलिस्म होशरुबा' फारसी का एक बृहत्
योग्या है जिसके रचयिता अकबर के दरबारवाले फैजी कहे जाते है,
नोटर्लों कि हमे यह मानने मे सन्देह है। इस पोथे का उर्दू मे भी अनुवाद
दृश्य गया है। कम-से-कम २०,००० पृष्ठो की पुस्तक होगी। स्व० बाबू
काम्यकीनन्दन खत्री ने 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता-सतति' का बीजांकुर
नलिस्म होशरुबा' से ही लिया होगा, ऐसा अनुमान होता है।

वर ससार-साहित्य मे कुछ ऐसी कथाएँ है, जिन पर हजारों बरसो से
लेखकगण आख्यायिकाएँ लिखते आये है और शायद हजारों वर्षों तक
लिखते जायँगे। हमारी पौराणिक कथाओ पर न-जाने कितने नाटक
और कितनी कथाएँ रची गयी है। यूरोप मे भी यूनान की पौराणिक
गाथा कवि-कल्पना के लिए अशेष आधार है। 'दो भाइयो की कथा',
जिसका पता पहले मिस्र देश के तीन हजार वर्ष पुराने लेखों से मिला
था, फ्रान्स से भारतवर्ष तक की एक दर्जन से अधिक प्रसिद्ध भाषाओं
के साहित्य मे समाविष्ट हो गयी है। यहाँ तक कि बाइबिल मे उस कथा
की एक घटना ज्यो की त्यो मिलती है।

किन्तु यह समझना भूल होगी कि लेखकगण आलस्य या कल्पना-
शक्ति के अभाव के कारण प्राचीन कथाओ का उपयोग करते है। बात
यह है कि नये कथानक मे वह रस, वह आकर्षण नहीं होता जो पुराने
कथानकों मे पाया जाता है। हाँ, उनका कलेवर नवीन होना चाहिए।

'शकुन्तला' पर यदि कोई उपन्यास लिखा जाय, तो वह कितना मर्म-स्पर्शी होगा, यह बताने की जरूरत नही।

रचना-शक्ति थोडी-बहुत सभी प्राणियो मे रहती है। जो उसमें अभ्यस्त हो चुके है, उन्हे तो फिर झिझक नहीं रहती—कलम उठाया और लिखने लगे। लेकिन नये लेखको को पहले कुछ लिखते समय ऐसी झिझक होती है मानो वे दरिया मे कूदने जा रहे हो। बहुधा एक तुच्छ सी घटना उनके मस्तिष्क पर प्रेरक का काम कर जाती है। किसी का नाम सुनकर, कोई स्वप्न देखकर, कोई चित्र देखकर, उनकी कल्पना जाग उठती है। किसी व्यक्ति पर किस प्रेरणा का सब से अधिक प्रभाव पड़ता है, यह उस व्यक्ति पर निर्भर है। किसी की कल्पना दृश्य-विषय से उभरती है, किसी की गन्ध से, किसी की श्रवण से। किसी को नये, सुरम्य स्थान की सैर से इस विषय मे यथेष्ट सहायता मिलती है। नदी के तट पर अकेले भ्रमण करने से बहुधा नयी-नयी कल्पनाएँ जाग्रत होती हैं।

ईश्वरदत्त शक्ति मुख्य वस्तु है। जब तक यह शक्ति न होगी उपदेश, शिक्षा, अभ्यास सभी निष्फल जायगा। मगर यह प्रकट कैसे हो कि किसमे यह शक्ति है, किसमे नही? कभी इसका सबूत मिलने मे बरसो गुजर जाते है और बहुत परिश्रम नष्ट हो जाता है। अमेरिका के एक पत्र सपादक ने इसकी परीक्षा करने का नया ढग निकाला है। दल के दल युवको मे से कौन रत्न है और कौन पाषाण? वह एक कागज के टुकडे पर किसी प्रसिद्ध व्यक्ति का नाम लिख देता है और उम्मेदवार को वह टुकड़ा देकर उस नाम के सम्बन्ध मे ताबड़तोड़ प्रश्न करना शुरू करता है—उसके बालो का रग क्या है? उसके कपड़े कैसे है? कहाँ रहती है? उसका बाप क्या काम करता है?, जीवन मे उसकी मुख्य अभिलाषा क्या है? आदि। यदि युवक महोदय ने इन प्रश्नो के संतोषजनक उत्तर न दिये, तो उन्हे अयोग्य समझकर बिदा कर देता है। जिसकी निरीक्षण-शक्ति इतनी शिथिल हो, वह

उसके विचार मे उपन्यास-लेखक नहीं बन सकता। इस परीक्षा-विभाग मे नवीनता तो अवश्य है पर भ्रामकता की मात्रा भी कम नही है।

लेखको के लिए एक नोटबुक का रहना आवश्यक है। यद्यपि इन पक्तियो के लेखक ने कभी नोटबुक नहीं रखी, पर इसकी जरूरत को वह स्वीकार करता है। कोई नयी चीज, कोई अनोखी सूरत, कोई सुरम्य दृश्य देखकर नोट बुक मे दर्ज कर लेने से बड़ा काम निकलता है। यूरोप मे लेखको के पास उस वक्त तक नोटबुक अवश्य रहती है जब-तक उनका मस्तिष्क इस योग्य नहीं बनता कि हर प्रकार की चीजो को वे अलग अलग खानो मे सगृहीत कर ले। बरसो के अभ्यास के बाद यह योग्यता प्राप्त हो जाती है, इसमे सन्देह नहीं; लेकिन आरम्भकाल मे तो नोटबुक का रखना परमावश्यक है। यदि लेखक चाहता है कि उसके दृश्य सजीव हो, उसके वर्णन स्वाभाविक हो, तो उसे अनिवार्यतः इससे काम लेना पडेगा। देखिये, एक उपन्यासकार की नोटबुक का नमूना—

'अगस्त २१, १२ बजे दिन, एक नौका पर एक आदमी, श्याम वर्ण, सुफेद बाल, आँखे तिरछी, पलके भारी, ओठ ऊपर को उठे हुए और मोटे, मूँछे ऐंठी हुई।

'सितम्बर १, समुद्र का दृश्य, बादल श्याम और श्वेत, पानी मे सूर्य का प्रतिबिम्ब काला, हरा, चमकीला, लहरे फेनदार, उनका ऊपरी भाग उजला। लहरो का शोर, लहरो के छींटे से झाग उड़ती हुई।'

उन्ही महाशय से जब पूछा गया कि आपको कहानियो के प्लाट कहाँ मिलते है? तो आपने कहा, 'चारो तरफ। अगर लेखक अपनी आँखे खुली रखे, तो उसे हवा मे से भी कहानियाँ मिल सकती है। रेलगाडी मे, नौकाओं पर, समाचार-पत्रो मे, मनुष्य के वार्तालाप मे और हजारो जगहो से सुन्दर कहानियाँ बनायी जा सकती है। कई सालों के अभ्यास के बाद देख-भाल स्वाभाविक हो जाती है, निगाह आप ही आप अपने मतलब की बात छाँट लेती है। दो साल हुए, मै एक मित्र के साथ

सैर करने गया। बातो ही बातों मे यह चर्चा छिड़ गयी कि यदि दो के सिवा ससार के और सब मनुष्य मार डाले जायँ तो क्या हो? इस अकुर से मैने कई सुन्दर कहानियाँ सोच निकालीं।'

इस विषय मे तो उपन्यास-कला के सभी विशारद सहमत है कि उपन्यासा के लिए पुस्तको से मसाला न लेकर जीवन ही से लेना चाहिये। वालटर बेसेंट अपनी 'उपन्यास कला' नामक पुस्तक मे लिखते हैं —

'उपन्यासकार को अपनी सामग्री, आले पर रखी हुई पुस्तको से नहीं, उन मनुष्यो के जीवन से लेनी चाहिए जो उसे नित्य ही चारो तरफ मिलते रहते है। मुझे पूरा विश्वास है कि अधिकाश लोग अपनी आँखो से काम नही लेते। कुछ लोगो को यह शका भी होती है कि मनुष्यो मे जितने अच्छे नमूने थे, वे तो पूर्वकालीन लेखको ने लिख डाले, अब हमारे लिए क्या बाकी रहा? यह सत्य है। लेकिन अगर पहले किसी ने बूढे, कजूस, उडाऊ युवक, जुआरी, शराबी, रगीन युवती आदि का चित्रण किया है, तो क्या अब उसी वर्ग के दूसरे चरित्र नहीं मिल सकते? पुस्तको मे नये चरित्र न मिलें पर जीवन मे नवीनता का अभाव कभी नही रहा।'

हेनरी जेम्स ने इस विषय मे जो विचार प्रकट किये है, वह भी देखिये—

'अगर किसी लेखक की बुद्धि कल्पना-कुशल है, तो वह सूक्ष्मतम-भावो से जीवन को व्यक्त कर देती है, वह वायु के स्पन्दन को भी जीवन प्रदान कर सकती है। लेकिन कल्पना के लिए कुछ आधार अवश्य चाहिए। जिस तरुणी लेखिका ने कभी सैनिक छावनियाँ नहीं देखीं, उससे यह कहने मे कुछ भी अनौचित्य नहीं है कि आप सैनिक-जीवन मे हाथ न डालें। मै एक अँग्रेज उपन्यासकार को जानता हूँ, जिसने अपनी एक कहानी मे फ्रान्स के प्रोटेस्टेंट युवको के जीवन का अच्छा चित्र खीचा था। उस पर साहित्यिक ससार मे बड़ी चर्चा रही। उससे लोगों ने पूछा—आपको इस समाज के निरीक्षण करने का ऐसा अवसर कहाँ

मिला ? (फ्रान्स रोमन कैथॉलिक देश है और प्रोटेस्टेट वहाँ साधारणतः नहीं दिखायी पड़ते ।) मालूम हुआ कि उसने एक बार, केवल एक बार, कई प्रोटेस्टेट युवकों को बैठे और बाते करते देखा था। बस, एक का देखना उसके लिए पारस हो गया। उसे वह आधार मिल गया जिसपर कल्पना अपना विशाल भवन निर्माण करती है। उसमे वह ईश्वरदत्त शक्ति मौजूद थी जो एक इञ्च से एक योजन की खबर लाती है और जो शिल्पी के लिए बडे महत्त्व की वस्तु है।'

मिस्टर जी० के० चेस्टरटन जासूसी कहानियाँ लिखने मे बडे प्रवीण हैं। आपने ऐसी कहानियाँ लिखने का जो नियम बताया है, वह बहुत शिक्षाप्रद है। हम उसका आशय लिखते है—

'कहानी मे जो रहस्य हो उसे कई भागो मे बॉटना चाहिए। पहले छोटी-सी बात खुले, फिर उससे कुछ बड़ी और अन्त मे रहस्य खुल जाय। लेकिन हरएक भाग मे कुछ न कुछ रहस्योद्घाटन अवश्य होना चाहिए जिसमे पाठक की इच्छा सब-कुछ जानने के लिए बलवती होती चली जाय। इस प्रकार की कहानियो मे इस बात का ध्यान रखना परमावश्यक है कि कहानी के अन्त मे रहस्य खोलने के लिए कोई नया चरित्र न लाया जाय। जासूसी कहानियो मे यही सबसे बड़ा दोष है। रहस्य के खुलने मे तभी मजा है जबकि वह चरित्र अपराधी सिद्ध हो, जिस पर कोई भूलकर भी सन्देह न कर सकता था।'

उपन्यास कला मे यह बात भी बड़े महत्त्व की है कि लेखक क्या लिखे और क्या छोड़ दे। पाठक कल्पनाशील होता है, इसलिए वह ऐसी बातें पढ़ना पसन्द नहीं करता जिनकी वह आसानी से कल्पना कर सकता है। वह यह नहीं चाहता कि लेखक सब कुछ खुद कह डाले और पाठक की कल्पना के लिए कुछ भी बाकी न छोडे। वह कहानी का खाका-मात्र चाहता है, रंग वह अपनी अभिरुचि के अनुसार भर लेता है। कुशल लेखक वही है जो यह अनुमान कर ले कि कौन सी बात पाठक स्वय सोच लेगा और कौन-सी बात उसे लिखकर स्पष्ट कर देनी

उपन्यास का विषय

उपन्यास का क्षेत्र, अपने विषय के लिहाज मे, दूसरी ललित कलाओ से कहीं ज्यादा विस्तृत है। वाल्टर बेसेंट ने इस विषय पर इन शब्दो मे विचार प्रकट किये हैं—

'उपन्यास के विषय का विस्तार मानव चरित्र से किसी कदर कम नहीं है। उसका सम्बन्ध अपने चरित्रों के कर्म और विचार, उनका देवत्व और पशुत्व, उनके उत्कर्ष और अपकर्ष से है। मनोभाव के विभिन्न रूप और भिन्न-भिन्न दशाओ मे उनका विकास उपन्यास के मुख्य विषय है।'

इसी विषय-विस्तार ने उपन्यास को ससार-साहित्य का प्रधान अग बना दिया है। अगर आपको इतिहास से प्रेम है, तो आप अपने उपन्यास मे गहरे से गहरे ऐतिहासिक तत्वो का निरूपण कर सकते है। अगर आपको दर्शन से रुचि है, तो आप उपन्यास मे महान् दार्शनिक तत्वों का विवेचन कर सकते हैं। अगर आप मे कवित्व शक्ति है तो उपन्यास मे उसके लिए भी काफी गुञ्जाइश है। समाज, नीति, विज्ञान, पुरातत्व आदि सभी विषयों के लिए उपन्यास मे स्थान है। यहाँ लेखक को अपनी कलम का जौहर दिखाने का जितना अवसर मिल सकता है, उतना साहित्य के और किसी अग मे नही मिल सकता। लेकिन इसका यह आशय नहीं कि उपन्यासकार के लिए कोई बन्धन ही नहीं है। उपन्यास का विषय-विस्तार ही उपन्यासकार को बेडियो मे जकड़ देता है। तंग सडकों पर चलनेवालो के लिए अपने लक्ष्य पर पहुँचना उतना कठिन

नहीं है, जितना एक लम्बे चौड़े मार्गहीन मैदान मे चलनेवालो के लिए।

उपन्यासकार का प्रधान गुण उसकी सृजन-शक्ति है। अगर उसमे इसका अभाव है, तो वह अपने काम मे कभी सफल नहीं हो सकता। उसमे और चाहे जितने अभाव हों पर कल्पना-शक्ति की प्रखरता अनिवार्य है। अगर उसमे यह शक्ति मौजूद है तो वह ऐसे कितने ही दृश्यों, दशाओं और मनोभावों का चित्रण कर सकता है, जिनका उसे प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है। अगर इस शक्ति की कमी है, तो चाहे उसने कितना ही देशाटन क्यो न किया हो, वह कितना ही विद्वान क्यों न हो, उसके अनुभव का क्षेत्र कितना ही विस्तृत क्यो न हो, उसकी रचना मे सरसता नही आ सकती। ऐसे कितने ही लेखक है जिनमे मानव-चरित्र के रहस्यो का बहुत मनोरंजक, सूक्ष्म और प्रभाव डालनेवाली शैली मे बयान करने की शक्ति मौजूद है लेकिन कल्पना की कमी के कारण वे अपने चरित्रो मे जीवन का सञ्चार नही कर सकते, जीती-जागती तसवीरें नहीं खीच सकते। उनकी रचनाओ को पढकर हमे यह ख्याल नही होता कि हम कोई सच्ची घटना देख रहे है।

इसमे सन्देह नहीं कि उपन्यास की रचना-शैली सजीव और प्रभावोत्पादक होनी चाहिए, लेकिन इसका अर्थ यह नही है कि हम शब्दो का गोरखधन्धा रचकर पाठक को इस भ्रम मे डाल दे कि इसमे जरूर कोई न कोई गूढ़ आशय है। जिस तरह किसी आदमी का ठाट-बाट देखकर हम उसकी वास्तविक स्थिति के विषय मे गलत राय कायम कर लिया करते हैं, उसी तरह उपन्यासो के शाब्दिक आडम्बर देखकर भी हम ख्याल करने लगते है कि कोई महत्त्व की बात छिपी हुई है। सम्भव है, ऐसे लेखक को थोड़ी देर के लिए यश मिल जाय, किन्तु जनता उन्हीं उपन्यासो को आदर का स्थान देती है जिनकी विशेषता उनकी गूढ़ता नहीं, उनकी सरलता होती है।

उपन्यासकार को इसका अधिकार है कि वह अपनी कथा को घटना

वैचित्र्य से रोचक बनाये, लेकिन शर्त यह है कि प्रत्येक घटना असली ढाँचे से निकट सम्बन्ध रखती हो। इतना ही नहीं, बल्कि उसमे इस तरह घुल मिल गई हो कि कथा का आवश्यक अग बन जाय, अन्यथा उपन्यास की दशा उस घर की-सी हो जायगी जिसके हर एक हिस्से अलग-अलग हो। जब लेखक अपने मुख्य विषय से हटकर किसी दूसरे प्रश्न पर बहस करने लगता है, तो वह पाठक के उस आनन्द मे बाधक हो जाता है जो उसे कथा मे आ रहा था। उपन्यास मे वही घटनाएँ, वही विचार लाना चाहिए जिनसे कथा का माधुर्य बढ जाय, जो प्लाट के विकास मे सहायक हो अथवा चरित्रो के गुप्त मनाभावो का प्रदर्शन करते हो। पुरानी कथाओ मे लेखक का उद्देश्य घटना-वैचित्र्य दिखाना होता था; इसलिए वह एक कथा मे कई उपकथाएँ मिलाकर अपना उद्देश्य पूरा करता था। सम्प्रतिकालीन उपन्यासों मे लेखक का उद्देश्य मनोभावों और चरित्र के रहस्यों का खोलना होता है, अतएव यह आवश्यक है कि वह अपने चरित्रो को सूक्ष्म दृष्टि से देखे, उसके चरित्रो का कोई भाग उसकी निगाह से न बचने पाये। ऐसे उपन्यास मे उपकथाओ की गुञ्जाइश नहीं होती।

यह सच है कि ससार की प्रत्येक वस्तु उपन्यास का उपयुक्त विषय बन सकती है। प्रकृति का प्रत्येक रहस्य, मानव-जीवन का हर एक पहलू जब किसी सुयोग्य लेखक की कलम से निकलता है तो वह साहित्य का रत्न बन जाता है, लेकिन इसके साथ ही विषय का महत्त्व और उसकी गहराई भी उपन्यास के सफल होने मे बहुत सहायक होती है। यह जरूरी नही कि हमारे चरित्रनायक ऊँची श्रेणी के ही मनुष्य हों। हर्ष और शोक, प्रेम और अनुराग, ईर्ष्या और द्वेष मनुष्य-मात्र मे व्यापक है। हमे केवल हृदय के उन तारों पर चोट लगानी चाहिए जिनकी झंकार से पाठकों के हृदय पर भी वैसा ही प्रभाव हो। सफल उपन्यासकार का सबसे बड़ा लक्षण है कि वह अपने पाठकों के हृदय मे उन्हीं भावो को जागरित कर दे जो उसके पात्रों मे हों। पाठक भूल जाय कि

वह कोई उपन्यास पढ रहा है—उसके और पात्रो के बीच मे आत्मीयता का भाव उत्पन्न हो जाय।

मनुष्य की सहानुभूति साधारण स्थिति मे तब तक जागरित नहीं होती जब तक कि उसके लिए उस पर विशेष रूप से आघात न किया जाय। हमारे हृदय के अन्तरतम भाव साधारण दशाओ मे आन्दोलित नहीं होते। इसके लिए ऐसी घटनाओ की कल्पना करनी होती है जो हमारा दिल हिला दें, जो हमारे भावो की गहराई तक पहुँच जायँ। अगर किसी अबला को पराधीन दशा का अनुभव कराना हो तो इस घटना से ज्यादा प्रभाव डालनेवाली और कौन घटना हो सकती है कि शकुन्तला राजा दुष्यन्त के दरबार मे आकर खडी होती है और राजा उसे न पहचान कर उसकी उपेक्षा करता है? खेद है कि आजकल के उपन्यासो मे गहरे भावो को स्पर्श करने का बहुत कम मसाला रहता है। अधिकाश उपन्यास गहरे और प्रचण्ड भावो का प्रदर्शन नही करते। हम आये दिन की साधारण बातो ही मे उलझकर रह जाते है।

इस विषय मे अभी तक मतभेद है कि उपन्यास मे मानवीय दुर्बलताओ और कुवासनाओ का, कमजोरियो और अपकीर्तियो का, विशद वर्णन वाञ्छनीय है या नहीं; मगर इसमे कोई सन्देह नहीं कि जो लेखक अपने को इन्हीं विषयो मे बाँध लेता है, वह कभी उस कलाविद् की महानता को नही पा सकता जो जीवन-सग्राम मे एक मनुष्य की आन्तरिक दशा को, सत् और असत् के सघर्ष और अन्त मे सत्य की विजय को मार्मिक ढग से दर्शाता है। यथार्थवाद का यह आशय नहीं है कि हम अपनी दृष्टि को अन्धकार की ओर ही केन्द्रित कर दे। अन्धकार मे मनुष्य को अन्धकार के सिवा और सूझ ही क्या सकता है? बेशक, चुटकियाँ लेना, यहाँ तक कि नश्तर लगाना भी कभी-कभी आवश्यक होता है। लेकिन दैहिक व्यथा चाहे नश्तर से दूर हो जाय मानसिक व्यथा सहानुभूति और उदारता से ही शान्त हो सकती है। किसी को नीच समझकर हम उसे ऊँचा नहीं बना सकते बल्कि उसे

और नीचे गिरा देंगे। कायर यह कहने से बहादुर न हो जायगा कि 'तुम कायर हो।' हमे यह दिखाना पड़ेगा कि उसमे साहस, बल और धैर्य—सब कुछ है, केवल उसे जगाने की जरूरत है। साहित्य का सम्बन्ध सत्य और सुन्दर से है, यह हमे न भूलना चाहिए।

मगर आजकल कुकर्म, हत्या, चोरी, डाके से भरे हुए उपन्यासो की जैसे बाढ सी आ गयी है। साहित्य के इतिहास मे ऐसा कोई समय न था जब ऐसे कुरुचिपूर्ण उपन्यासो की इतनी भरमार रही हो। जासूसी उपन्यासो मे क्यो इतना आनन्द आता है? क्या इसका कारण यह है कि पहले से अब लोग ज्यादा पापासक्त हो गये हैं? जिस समय लोगो को यह दावा है कि मानव-समाज नैतिक और बौद्धिक उन्नति के शिखर पर पहुँचा हुआ है, यह कौन स्वीकार करेगा कि हमारा समाज पतन की ओर जा रहा है? शायद, इसका यह कारण हो कि इस व्यावसायिक शान्ति के युग मे ऐसी घटनाओ का अभाव हो गया है जो मनुष्य के कुतूहल-प्रेम को सन्तुष्ट कर सकें—जो उसमे सनसनी पैदा कर दें। या इसका यह कारण हो सकता है कि मनुष्य की धन लिप्सा उपन्यास के चरित्रो को धन के लोभ से कुकर्म करते देखकर प्रसन्न होती है। ऐसे उपन्यासो मे यही तो होता है कि कोई आदमी लोभ-वश किसी धनाढ्य पुरुष की हत्या कर डालता है, या उसे किसी सकट मे फँसाकर उससे मनमानी रकम ऐठ लेता है। फिर जासूस आते है, वकील आते है और मुजरिम गिरफ्तार होता है, उसे सजा मिलती है। ऐसी रुचि को प्रेम, अनुराग या उत्सर्ग की कथाओ मे आनन्द नहीं आ सकता। भारत मे वह व्यावसायिक वृद्धि तो नहीं हुई लेकिन ऐसे उपन्यासो की भरमार शुरू हो गयी। अगर मेरा अनुमान गलत नहीं है तो ऐसे उपन्यासो की खपत इस देश मे भी अधिक होती है। इस कुरुचि का परिणाम रूसी उपन्यास लेखक मैक्सिम गोर्की के शब्दो मे ऐसे वातावरण का पैदा होना है, जो कुकर्म की प्रवृत्ति को दृढ़ करता है। इससे यह तो स्पष्ट ही है कि मनुष्य मे

पशु-वृत्तियाँ इतनी प्रबल होती जा रही हैं कि अब उसके हृदय मे कोमल भावो के लिए स्थान ही नहीं रहा ।

उपन्यास के चरित्रो का चित्रण जितना ही स्पष्ट, गहरा और विकासपूर्ण होगा उतना ही पढ़नेवालो पर उसका असर पडेगा, और यह लेखक की रचना-शक्ति पर निर्भर है। जिस तरह किसी मनुष्य को देखते ही हम उसके मनोभावो से परिचित नही हो जाते, ज्यो-ज्यो हमारी घनिष्ठता उससे बढ़ती है, त्यो-त्यों उसके मनोरहस्य खुलते है, उसी तरह उपन्यास के चरित्र भी लेखक की कल्पना मे पूर्ण रूप से नहीं आ जाते बल्कि उनमे क्रमशः विकास होता जाता है। यह विकास इतने गुप्त, अस्पष्ट रूप से होता है कि पढनेवाले को किसी तबदीली का ज्ञान भी नहीं होता। अगर चरित्रो मे किसी का विकास रुक जाय तो उसे उपन्यास से निकाल देना चाहिए, क्योकि उपन्यास चरित्रो के विकास का ही विषय है। अगर उसमे विकास-दोष है, तो वह उपन्यास कमजोर हो जायगा। कोई चरित्र अन्त मे भी वैसा ही रहे जैसा वह पहले था—उसके बल-बुद्धि और भावों का विकास न हो, तो वह असफल चरित्र है ।

इस दृष्टि से जब हम हिन्दी के वर्तमान उपन्यासो को देखते है तो निराशा होती है। अधिकाश चरित्र ऐसे ही मिलेंगे जो काम तो बहुतेरे करते है, लेकिन जैसे जो काम वे आदि मे करते, उसी तरह वही अन्त मे भी करते हैं।

कोई उपन्यास शुरू करने के लिए यदि हम उन चरित्रो का एक मानसिक चित्र बना लिया करें तो फिर उनका विकास दिखाने मे हमे सरलता होगी। यह कहने की भी जरूरत नही है, विकास परिस्थिति के अनुसार स्वाभाविक हो, अर्थात्—पाठक और लेखक दोनो इस विषय मे सहमत हों। अगर पाठक का यह भाव हो कि इस दशा मे ऐसा नहीं होना चाहिए था तो इसका यह आशय हो सकता है कि लेखक अपने चरित्र के अङ्कित करने मे असफल रहा। चरित्रों मे कुछ न कुछ विशेषता भी रहनी चाहिए। जिस तरह संसार मे कोई दो व्यक्ति समान नहीं होते,

उसी भाँति उपन्यास मे भी न होना चाहिए। कुछ लोग तो बातचीत या शक्ल-सूरत से विशेषता उत्पन्न कर देते हैं; लेकिन असली अन्तर तो वह है, जो चरित्रो मे हो।

उपन्यास मे वार्तालाप जितना अधिक हो और लेखक की कलम से जितना ही कम लिखा जाय, उतना ही उपन्यास सुन्दर होगा। वार्तालाप केवल रस्मी नहीं होना चाहिए। प्रत्येक वाक्य को—जो किसी चरित्र के मुँह से निकले—उसके मनोभावो और चरित्र पर कुछ न कुछ प्रकाश डालना चाहिए। बातचीत का स्वाभाविक, परिस्थितियों के अनुकूल, सरल और सूक्ष्म होना जरूरी है। हमारे उपन्यासो मे अक्सर बातचीत भी उसी शैली मे करायी जाती है मानो लेखक खुद लिख रहा हो। शिक्षित-समाज की भाषा तो सर्वत्र एक है, हाँ, भिन्न-भिन्न जातियों की जबान पर उसका रूप कुछ न कुछ बदल जाता है। बंगाली, मारवाडी और ऐंग्लो-इण्डियन भी कभी-कभी बहुत शुद्ध हिन्दी बोलते पाये जाते है। लेकिन यह अपवाद है, नियम नहीं। पर ग्रामीण बातचीत हमे दुबिधा मे डाल देती है। बिहार की ग्रामीण भाषा शायद दिल्ली के आस-पास का आदमी समझ ही न सकेगा।

वास्तव मे कोई रचना रचयिता के मनोभाव का, उसके चरित्र का, उसके जीवनादर्श का, उसके दर्शन का आईना होती है। जिसके हृदय में देश की लगन है उसके चरित्र, घटनावली और परिस्थितियाँ सभी उसी रंग मे रँगी हुई नजर आयेंगी। लहरी आनन्दी लेखकों के चरित्रो मे भी अधिकाश चरित्र ऐसे ही होगे जिन्हे जगत्-गति नहीं व्यापती। वे जासूसी, तिलिस्मी चीजे लिखा करते हैं। अगर लेखक आशावादी है तो उसकी रचना में आशावादिता छलकती रहेगी, अगर वह शोकवादी है तो बहुत प्रयत्न करने पर भी, वह अपने चरित्रो को जिन्दादिल न बना सकेगा। 'आजाद-कथा' को उठा लीजिये, तुरन्त मालूम हो जायगा कि लेखक हँसने-हँसानेवाला जीव है जो जीवन को गम्भीर विचार के

योग्य नही समझता। जहाँ उसने समाज के प्रश्नों को उठाया है, वहाँ शैली शिथिल हो गयी है।

जिस उपन्यास को समाप्त करने के बाद पाठक अपने अन्दर उत्कर्ष का अनुभव करे, उसके सद्भाव जाग उठे, वही सफल उपन्यास है। जिसके भाव गहरे हैं, प्रखर है—जो जीवन मे लद्दू बनकर नहीं, बल्कि सवार बनकर चलता है, जो उद्योग करता है और विफल होता है, उठने की कोशिश करता है और गिरता है, जो वास्तविक जीवन की गहराइयो मे डूबा है, जिसने जिन्दगी के ऊँच नीच देखे है, सम्पत्ति और विपत्ति का सामना किया है, जिसकी जिन्दगी मखमली गद्दो पर ही नहीं गुजरती, वही लेखक ऐसे उपन्यास रच सकता है जिनमे प्रकाश, जीवन और आनन्द-प्रदान की सामर्थ्य होगी।

उपन्यास के पाठकों की रुचि भी अब बदलती जा रही है। अब उन्हे केवल लेखक की कल्पनाओ से सन्तोष नही होता। कल्पना कुछ भी हो, कल्पना ही है। वह यथार्थ का स्थान नही ले सकती। भविष्य उन्ही उपन्यासो का है, जो अनुभूति पर खड़े हो।

इसका आशय यह है कि भविष्य मे उपन्यास मे कल्पना कम, सत्य अधिक होगा। हमारे चरित्र कल्पित न होगे, बल्कि व्यक्तियो के जीवन पर आधारित होगे। किसी हद तक तो अब भी ऐसा होता है; पर बहुधा हम परिस्थितियो का ऐसा क्रम बाँधते है कि अन्त स्वाभाविक होने पर भी वह होता है जो हम चाहते हैं। हम स्वाभाविकता का स्वाँग जितनी खूबसूरती से भर सकें, उतने ही सफल होते हैं, लेकिन भविष्य मे पाठक इस स्वाँग से सन्तुष्ट न होगा।

यो कहना चाहिए कि भावी उपन्यास जीवन-चरित्र होगा, चाहे किसी बड़े आदमी का या छोटे आदमी का। उसकी छुटाई बड़ाई का फैसला उन कठिनाइयो से किया जायगा कि जिन पर उसने विजय पायी है। हाँ, वह चरित्र इस ढंग से लिखा जायगा कि उपन्यास मालूम हो।

अभी हम झूठ को सच बनाकर दिखाना चाहते हैं. भविष्य मे सच को झूठ बनाकर दिखाना होगा। किसी किसान का चरित्र हो, या किसी देश-भक्त का, या किसी बडे आदमी का; पर उसका आधार यथार्थ पर होगा। तब यह काम उससे कठिन होगा जितना अब है; क्योकि ऐसे बहुत कम लोग है, जिन्हे बहुत-से मनुष्यो को भीतर से जानने का गौरव प्राप्त हो।

साहित्य में बुद्धिवाद

साहित्य सम्मेलन की साहित्य परिषद् मे श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र ने इस विषय पर एक सारगर्भित भाषण दिया, जिसमे विचार करने की बहुत कुछ सामग्री है। उसमे अधिकाश जो कुछ कहा गया है, उससे तो किसी को इनकार न होगा। जब हमे कदम-कदम पर बुद्धि की जरूरत पड़ती है, और बुद्धि को ताक पर रखकर हम एक कदम भी आगे नहीं रख सकते, तो साहित्य क्योकर इसकी उपेक्षा कर सकता है। लेकिन जीवन के हरेक व्यापार को अगर बुद्धिवाद की ऐनक लगाकर ही देखे, तो शायद जीवन दूभर हो जाय। भावुकता को सीधे रास्ते पर रखने के लिए बुद्धि की नितान्त आवश्यकता है, नहीं तो आदमी सकटों मे पड़ जाय, इसी तरह बुद्धि पर भी मनोभावों का नियन्त्रण रहना जरूरी है, नहीं तो आदमी जानकर हो जाय, बल्कि राक्षस हो जाय। बुद्धिवाद हरेक चीज को उपयोगिता की कसौटी पर कसता है। बहुत ठीक। अगर साहित्य का जीवन मे कोई उपयोग न हो तो वह व्यर्थ की चीज़ है। वह उपयोग इसके सिवा क्या हो सकता है, कि वह जीवन को ज्यादा सुखी, ज्यादा सफल बनाए, जीवन की समस्याओ को सुलझाने मे मदद दे या जैनेन्द्र जी के शब्दो में प्रकृति और जीवन मे सामन्जस्य उत्पन्न करे। कोरी भावुकता यह सामन्जस्य नहीं पैदा कर सकती, तो शायद कोरा बुद्धिवाद भी नहीं कर सकता। दोनों का समन्वय होने से ही वह एकता पैदा हो सकती है। सच पूछिए, तो कला और साहित्य बुद्धिवाद के लिए उपयुक्त ही नहीं। साहित्य तो भावुकता की वस्तु है, बुद्धिवाद को यहाँ

इतनी ही जरूरत है कि भावुकता बेलगाम होकर दौड़ने न पाये। वैराग्यवाद और दुःखवाद और निराशावाद, ये सब जीवन-बल को कम करने वाली चीजें है और साहित्य पर इनका आधिपत्य हो जाना जीवन को दुर्बल कर देगा। लेकिन उसी तरह बुद्धिवाद और तर्कवाद और उपयोगितावाद भी जीवन को दुर्बल कर देगा, अगर उसे बेलगाम दौडने दिया गया। बिजली की हमे इतनी ही जरूरत है कि मशीन चलती रहे; अगर करेंट ज्यादा तेज हो गया तो घातक हो जायेगा। दाल मे घी जरूरी चीज़ है। एक चम्मच और पड जाय तो और भी अच्छा, लेकिन घी पीकर तो हम नहीं रह सकते। मथुरा मे कुछ ऐसे जन्तु पाये जाते है जो घी के लोंदे खा जाते है, लेकिन उसमे भी वे खूब शक्कर मिला लेते है वरना उनकी भस्मक जठराग्नि भी जवाब दे जाय। बुद्धिवाद का आचार्य बर्नार्ड शा भी तो अपने नाटकों मे हास्य और व्यग्य और चुटकियो की चाशनी मिलाता है। वह जबान से चाहे कितना ही बुद्धि-वाद की हाक लगाये; मगर भावुकता उसके पोर पोर मे भरी हुई है। वर्ना वह क्यो रोल्स राइस कार पर सवार होता ? क्या मामूली बेबी आस्टिन से उसका काम नहीं चल सकता था ? उसके बुद्धिवाद पर मिसेज शा की भावुकता का नियन्त्रण न होता तो शायद आज वह पागलखाने की हवा खाता होता। मनुष्य मे न केवल बुद्धि है, न केवल भावुकता। वह इन दोनो का सम्मिश्रण है, इसलिए आपके साहित्य मे भी इन दोनो का सम्मिश्रण होना चाहिए। बुद्धिवाद तो कहेगा कि रस एक व्यर्थ की चीज है। प्रेम और वियोग, क्रोध और मोह, दया और शील यह सब उसकी नजर मे हेय है। वह तो केवल न्याय और विचार को ही जीवन का सर्वस्व समझता है। उसका मन्त्र लेकर हमारी मानवता इतनी क्षीण हो जायेगी कि हवा से उड जाय। एक उदाहरण लीजिए।

एक मुसाफिर को डाकुओं ने घेर लिया है। अगर ससार में समष्टिवाद का राज हो गया है, तो निश्चय रूप से डाकू न होंगे।

तो एक दूसरा उदाहरण लीजिए। एक स्त्री को कुछ लम्पटो ने घेर लिया है—समष्टिवाद भी लम्पटता का अन्त नहीं कर सकता—उसी वक्त एक मुसाफिर उधर से आ निकलता है। भावुकता कहती है—भगा दो इन बदमाशों को और इस देवी का उद्धार करो। बुद्धिवाद कहेगा, मै अकेला इन पाँच आदमियो का क्या सामना करूँगा। व्यर्थ मे मेरी जान भी जायेगी। लम्पट लोग स्त्री की हत्या न करेगे लेकिन मेरा तो खून ही पी जायेगे। यहाँ भावुकता ही मानवता है। बुद्धिवाद कायरता है, दुर्बलता है। प्रेम के आडम्बरो को निकाल दीजिए, तो वह केवल सन्तानोत्पत्ति की इच्छा है। मगर शायद बाबा आदम ने भी बीबी हौवा से सीधे सीधे यह न कहा होगा—मै तुमसे सन्तानोत्पत्ति करना चाहता हूँ, इसलिए तुम मेरे पास आओ! उन्हे भी कुछ-न-कुछ नाजबरदारी करनी पड़ी होगी। अगर ब्रजभाषा वालो का रति-वर्णन घृणास्पद है, तो बुद्धिवाद का यह लक्कड़तोड़ अनुरोध भी नगी बर्बरता है। फिर उस बुद्धिवाद को लिखकर हीं क्या कीजिए जब कोई उसे पढे ही नहीं। अभी किसी बुद्धिवादी साहित्यिक डिक्टेटर का राज तो है नहीं, कि वह छायावाद को दफा १२४ के अन्दर ले ले। आप जनता तक तभी पहुँच सकते है, जब आप उनके मनोभावो को स्पर्श कर सके। आपके नाटक या कहानी मे अगर भावुकता के लिए रस नहीं है, केवल मस्तिष्क के लिए सूखा बुद्धिवाद है, तो नाटककार और नटो के सिवा हॉल मे कोई दर्शक न होगा। हँसना और रोना भी तो भावुकता ही है। बुद्धि क्यो रोए? रोने से मुर्दा जी न उठेगा। और हँसे भी क्यो? जो चीज़ हाथ आ गई है वह हँसने से ज्यादा कीमती न हो जायगी। ऐसा सूखा साहित्य अगर अमृत भी हो तो पड़ा पड़ा भाप बनकर उड़ जायेगा। साहित्य में जीवन-बल देने की क्षमता होनी चाहिये। यहाँ तक तो हम आपके साथ है, लेकिन बुद्धिवाद ही यह जीवन-बल दे सकता है, मनोभावों द्वारा यह शक्ति मिल ही नहीं सकती, यह हम नही मानते। आदर्श साहित्य वही है जिसमे बुद्धि और मनोभाव दोनो का कलात्मक

सम्मिश्रण हो। बुद्धि के लिए दर्शन है, शास्त्र है, विज्ञान है, और अनन्त ज्ञान-क्षेत्र है। क्या वह साहित्य और कला मे भी मनोभावो-मनोवेगो को नही रहने देना चाहता ?।

जड़वाद और आत्मवाद

विद्वानो की दुनिया मे आजकल आस्तिक और नास्तिक का पुराना झगडा फिर उठ खडा हुआ है। यह झगड़ा कभी शान्ति होने वाला तो है नही, हॉ, उसके रूप बदलते रहते है। आज के पचास साल पहले, जब विज्ञान ने इतनी उन्नति न की थी, और संसार मे बिजली और भाप और भाति भाति के यन्त्रों की सृष्टि होने लगी, तो स्वभावतः मनुष्य को अपने बल और बुद्धि पर गर्व होने लगा, और अनन्त से जो अनीश्वरवाद या जड़वाद चला आ रहा है, उसे बहुत कुछ पुष्टि मिली। विद्वानो ने हमेशा ईश्वर के अस्तित्व मे सन्देह किया है। जब प्रकृति का कोई रहस्य उनकी छोटी सी अक्ल के सुलझाये नहीं सुलझता तो उन्हे ईश्वर की याद आती और ज्यो ही विज्ञान ने एक कदम और आगे बढाया और उस रहस्य को सुलझा दिया, तो विद्वानो का अभिमानी मन तुरन्त ईश्वर से बगावत कर बैठता है, या उनकी वह पुरानी बगावत फिर ताजी हो जाती है। जब भाप और बिजली जैसी चीजे आदमी ने बना डालीं, तो वह यह क्यो न समझ ले कि यह छोटी सी पृथ्वी और सूर्य आदि भी इतने महान विषय नहीं है, जिनके लिए ईश्वर की जरूरत माननी पडे। जड़वाद ने तुरन्त दिमाग लड़ाया और सृष्टि की समस्य हल कर डाली। परमाणुवाद का झंडा लहराने लगा। प्रायः सभी विद्वानो ने उस झडे के सामने सिर झुका दिया।

लेकिन इधर विज्ञान ने जो अक्ल को चौधिया देने वाली उन्नति की है, और मनुष्य को मालूम हुआ है कि यह नए ईश्वर के करिश्मे

सृष्टि की महानता के सामने कोई चीज नही है, और इस गहराई में जितना ही उतरते हैं, उतनी ही उसकी अनन्तता और विशालता भी गहरी हो जाती है। तब से विद्वानो का अभिमान कुछ ठडा पड़ने लगा है। उन्हे स्पष्ट नजर आने लगा है कि जडवाद से सृष्टि की सारी गुत्थियाँ नही सुलझतीं, बल्कि जितनी सुलझाना चाहो, उतनी ही और उलझती जाती हैं। तो कम से कम कुछ दिनो के लिए तो जडवाद का झंडा नीचा हो ही गया। जब आइस्टीन से कोई बड़ा विद्वान आकर आइस्टीन के सिद्धान्त को मिथ्या सिद्ध कर देगा, तो सम्भव है, जड़वाद फिर ताल ठोकने लगे। और यह झगड़ा हमेशा चलता रहेगा। जिन्हे इन झगड़ो में पडे रहने से सारी दैहिक और पारिवारिक जरूरतें पूरी हो जाती हैं, उनके लिए बड़ा अच्छा मशगला है। हमारे लिए ईश्वर का अस्तित्व मनवाने को अकेली यह पृथ्वी काफी थी। आजकल का खगोल जब तीन करोड़ ऐसे ही विशाल सौर परिवारो का पता लगा चुका और बीस लाख सूर्य तो दूरबीनों से नजर आने लगे हैं और यह अनन्त पहले से कई लाख या करोड़ गुना अनन्त हो गया है, और एलेक्ट्रान और तरह तरह की अद्‌भुत किरणें हमारे सामने आ गई हैं, तो हमारी अक्ल का घनचक्कर हो जाना बिलकुल स्वाभाविक है। जो लोग इस पुरानी सृष्टि को समीप समझकर ईश्वर को जरा अपने से बड़ा मस्तिष्क समझ रहे थे, उनके लिए नये नये पिंड समूहो का निकलना और नये नये रहस्यों का प्रगट होना जरूर खतरे की बात है, और दस पाच साल तक उन्हे खामोशी से महान् आत्मा को स्वीकार कर लेना चाहिए।

हमारे जैसे साधारण कोटि के मनुष्यो के लिए तो ईश्वर का अस्तित्व कभी विवाद का विषय हो ही नहीं सकता। विवाद का विषय केवल यह है कि वह दुनियावी मामलो मे कुछ दिलचस्पी लेता है या नहीं। एक दल तो कहता है, और इस दल मे बडे बड़े लोग शामिल हैं, कि बिना उसकी मर्जी के पत्ती भी नहीं हिलती और वह सुख-दुःख, जीवन-मरण, स्वर्ग-नरक की व्यवस्था करता रहता है, और एक असुत्तर-

दायी राजा की भाँति संसार पर शासन करता है। क्या मजाल कि कोई किसी भाई को या जीव को कष्ट देकर बच जाय। उसे दड मिलेगा और अवश्य मिलेगा। इस जन्म मे न मिला न सही, अगले जन्म में पाई पाई चुका ली जायगी। दूसरा दल कहता है कि नहीं, ईश्वर ने संसार को बनाकर उसे पूर्ण स्वराज्य दे दिया है। डोमिनियन स्टेटस का वह कायल नही। उसने तो पूर्ण से भी कहीं पूर्ण स्वराज्य दे दिया है। मनुष्य जो चाहे करे, उसे मतलब नहीं। उसने जो नियम बना दिया है, उनकी पकड मे आ जायगा तो तत्काल मजा चखना पडेगा और कायदे के अन्दर चले जाओ, तो उसकी फोज और उसके मन्त्री और कर्मचारी साँस भी न लेंगे। एक दल दूसरे दल पर अमानुषिक अत्याचार करे, ईश्वर से कोई मतलब नहीं। उसने कानून बना दिया है कि जो शक्ति संग्रह करेगा वह बलवान होगा और बलवान हमेशा निर्बलों पर शासन करता है। शक्ति कैसे सग्रह की जाती है, इसके साधन मनुष्य ने अनुभव से प्राप्त किये है, कुछ शास्त्र और विज्ञान से सीखा है। जो पुरुषार्थी और कर्मण्य हैं, उनकी विजय है, और जो दुर्बल है, उनकी हार है। ईश्वर को इसमें कोई दखल नहीं। मनुष्य लाख प्रार्थना करे, लाख स्तुति गाये, लाख जप तप करे, कोई फायदा नही। यहाँ एक राष्ट्र और एक समाज दूसरे राष्ट्र या समाज को पीसकर पी जाय, ईश्वर की बला से। और यह नृसिह और प्रभु 'अब काहे नाही सुनत हमारी टेर' वाली बातें केवल अपनी नपुंसकता की दलीलें हैं। हमने तो मोटी सी बात समझ ली है कि ईश्वर रोम-रोम मे, अणु-अणु मे व्याप्त है। मगर उसी तरह जैसे हमारी देह मे प्राण है। उसका काम केवल शक्ति और जीवन दे देना है। उस शक्ति से हम जो काम चाहें, लें, यह हमारी इच्छा पर है। यह मनुष्य की हिमाकत या अभिमान है कि वह अपने को अन्य जीवों से ऊँचा समझता है। वृक्ष और खटमल भी जीव हैं। वृक्ष को हम लगाते है, लग जाता है, काटते हैं, कट जाता है। खटमल हमे काटता है, हम उसे मारते हैं, हमे न काटे, तो

हमे उससे कोई मतलब नहीं, अपने पड़ा रहे। ईश्वर को जिस तरह पौधो और खटमलो के मरने जीने से कोई मतलब नहीं, उसी तरह मनुष्य रूपी कीटो से भी उसे कोई प्रयोजन नही। आपस मे कटो-मरो, समष्टि की उपासना करो चाहे व्यष्टि की, गऊ की पूजा करो या गऊ की हत्या करो, ईश्वर को इससे कोई प्रयोजन नही। मनुष्य की भलाई या बुराई की परख उसकी सामाजिक या असामाजिक कृतियों मे है। जिस काम से मनुष्य समाज को क्षति पहुँचती है, वह पाप है। जिससे उसका उपकार होता है, वह पुण्य है। सामाजिक उपकार या अपकार से परे हमारे किसी कार्य का कोई महत्व नहीं है और मानव जीवन का इतिहास आदि से इसी सामाजिक उपकार को मर्यादा बाँधता चला आया है। भिन्न भिन्न समाजो और श्रेणियो मे यह मर्यादा भी भिन्न है। एक समाज पराई चीज की तरफ आँख उठाना भी बुरा समझता है, दूसरा समाज कोई चीज दाम देकर खरीदना पाप ख्याल करता है। एक समाज खटमल के पीछे मनुष्य को कत्ल करने पर तैयार है, दूसरा समाज पशुओ के शिकार को मनोरजन की वस्तु समझता है। अभी बहुत दिन नहीं गुजरे और आज भी ससार के बाज़े हिस्सो मे धर्म केवल गुटबन्दी का नाम है जिससे मनुष्यो का एक समूह लोक और परलोक की सारी अच्छी चीजें अपने ही लिए रिजर्व कर लेता है और किसी दूसरे समूह का उसमें उस वक्त तक हिस्सा नही देता जब तक वह अपना दल छोड़कर उसके दल मे न आ मिले। धर्म के पीछे क्या क्या अत्याचार हुए है, कौन नहीं जानता। आजकल धर्म का वह महत्त्व नहीं है। वह पद अब व्यापार को मिल गया है। और इस व्यापार के लिए आज राष्ट्रो और जातियो मे कैसा सघर्ष हो रहा है, वह हम देख ही रहे है। ईश्वर को इन सारे टटो से कोई मतलब नहीं है। चाहे कोई राम को बीसो कला का अवतार माने या गान्धी को, ईश्वर को परवाह नहीं। उपासना और भक्ति यह सब अपनी मनोवृत्तियो की चीजें है, ईश्वर को हमारी भक्ति और उपासना से कोई मतलब नहीं। हम व्रत

रखते है तो इससे हमारी पाचन शक्ति ठीक हो सकती है, और हम समाज के लिए ज्यादा उपयोगी हो सकते हैं, इस अर्थ मे तो जरूर व्रत पुण्य है, लेकिन भगवान जी उससे प्रसन्न होकर, या लाख बार राम राम की रट लगाने से, हमारा सकट हर लेगे, यह बिल्कुल गलत बात है। हम ससार की एक प्रधान जाति है, लेकिन अकर्मण्य और इसलिए पराधीन। अगर ईश्वर अपने भक्तो की हिमायत करता, तो आज मन्दिरो, देवालयों और मस्जिदो की यह तपोभूमि क्यो इस दशा मे होती?

लेकिन नही, हम शायद भूल कर रहे हैं। भगवान अपने भक्तों को दुखी देखकर ही प्रसन्न होता है क्योकि उसका स्वार्थ हमारे दुखी रहने मे है। सुखी होकर कौन भगवान की याद करता है...दुख मे सुमिरन सब करै, सुख मे करै न कोय।

———

संग्राम में साहित्य

घोर संकट मे पडने पर ही आदमी की ऊँची से ऊँची, कठोर से कठोर और पवित्र से पवित्र मनोवृत्तियों का विकास होता है। साधारण दशा मे मनुष्य का जीवन भी साधारण होता है। वह भोजन करता है, सोता है, हँसता है, विनोद का आनन्द उठाता है। असाधारण दशा में उसका जीवन भी असाधारण हो जाता है और परिस्थितियों पर विजय पाने, या विरोधी कारणों से अपनी आत्म-रक्षा करने के लिये उसे अपने छिपे हुए मनोऽस्त्रों को बाहर निकालना पड़ता है। आत्म-त्याग और बलिदान के, धैर्य और साहस के, उदारता और विशालता के जौहर उसी वक्त खुलते है, जब हम बाधाओं से घिर जाते है। जब देश मे कोई विप्लव या संग्राम होता है, तो जहाँ वह चारो तरफ़ हाहाकार मचा देता है, वहाँ हममे देव-दुर्लभ गुणो का संस्कार भी कर देता है। और साहित्य क्या है? हमारी अन्तर्तम मनोवृत्तियो के विकास का इतिहास। इसलिये यह कहना अनुचित नहीं है, कि साहित्य का विकास सग्राम ही मे होता है। ससार-साहित्य के उज्ज्वल से उज्ज्वल रत्नों को ले लो, उनकी सृष्टि या तो किसी संग्रामकाल मे हुई है, या किसी संग्राम से सम्बन्ध रखती है।

रूस और जापान के युद्ध मे आत्म-बलिदान के जैसे उदाहरण मिलते है, वह और कहाँ मिलेंगे? यूरोपियन युद्ध मे भी साधारण मनुष्यों ने ऐसे-ऐसे विलक्षण काम कर दिखाए, जिन पर हम आज दाँतो उँगली दबाते है। हमारा स्वाधीनता-सग्राम भी ऐसे उदाहरणो से ख़ाली नहीं

है। यद्यपि हमारे समाचार-पत्रों की जबाने बन्द हैं और देश में जो कुछ हो रहा है, हमे उसकी खबर नहीं होने पाती, फिर भी कभी-कभी त्याग और सेवा, शौर्य और विनय के ऐसे-ऐसे उदाहरण मिल जाते हैं जिन पर हम चकित हो जाते है। ऐसी ही दो-एक घटनाएँ हम आज अपने पाठको को सुनाते है।

एक नगर मे कुछ रमणियाँ कपडे की दूकानो पर पहरा लगाये खड़ी थीं। विदेशी कपडों के प्रेमी दूकानो पर आते थे। पर उन रमणियों को देखकर हट जाते थे। शाम का वक्त था। कुछ अँधेरा हो चला था। उसी वक्त एक आदमी एक दूकान के सामने आकर कपड़े ख़रीदने के लिये आग्रह करने लगा। एक रमणी ने जाकर उससे कहा—महाशय, मैं आपसे प्रार्थना करती हूँ, कि आप विलायती कपड़ा न खरीदें।

ग्राहक ने उस रमणी का रसिक नेत्रो से देखकर कहा—अगर तुम मेरी एक बात स्वीकार कर लो, तो मैं क़सम खाता हूँ, कभी विलायती कपड़ा न खरीदूँगा।

रमणी ने कुछ सशक होकर उसकी ओर देखा और बोली—क्या आज्ञा है?

ग्राहक लम्पट था। मुसकराकर बोला—बस, मुझे एक बोसा दे दो।

रमणी का मुख अरुणवर्ण हो गया, लज्जा से नहीं, क्रोध से। दूसरी दूकानो पर और कितने ही वालटियर खडे थे। अगर वह जरा-सा इशारा कर देती, तो उस लम्पट की धज्जियाँ उड़ जातीं। पर रमणी विनय की अपार शक्ति से परिचित थी। उसने सजल नेत्रो से कहा—अगर आपकी यही इच्छा है, तो ले लीजिए, मगर विदेशी कपडा न खरीदिये। ग्राहक परास्त हो गया। वह उसी वक्त उस रमणी के चरणो पर गिर पड़ा और उसने प्रण किया कि कभी विलायती वस्त्र न लूँगा, क्षमा-प्रार्थना की और लज्जित तथा सस्कृत होकर चला गया।

एक दूसरे नगर की एक और घटना सुनिए। यह भी कपडे की

दूकान और पिकेटिंग ही की घटना है । एक दुराग्रही मुसलमान की दूकान पर जोरो का पिकेटिंग हो रहा था । सहसा एक मुसलमान सज्जन अपने कुमार पुत्र के साथ कपडा खरीदने आये । सत्याग्रहियो ने हाथ जोडे, पैरों पड़े. दूकान के सामने लेट गये; पर खरीदार पर कोई असर न हुआ । वह लेटे हुए स्वयंसेवको को रौदता हुआ दूकान मे चला गया । जब कपडे लेकर निकला, तो फिर वालंटियरो को रास्ते मे लेटे पाया । उसने क्रोध मे आकर एक स्वयसेवक के एक ठोकर लगाई । स्वयसेवक के सिर से खून निकल आया । फिर भी वह अपनी जगह से न हिला । कुमार पुत्र दूकान के जीने पर खड़ा यह तमाशा देख रहा था । उसका बाल-हृदय यह अमानुषीय व्यवहार सहन न कर सका । उसने पिता से कहा—बाबा, आप कपडे लौटा दीजिए ।

बाप ने कहा—लौटा दूॅ ! मै इन सबो की छाती पर से निकल जाऊॅगा ।

'नहीं, आप लौटा दीजिए !'

'तुम्हे क्या हो गया है ? भला लिये हुए कपड़े लौटा दूॅ !'

'जी हॉ !'

'यह कभी नहीं हो सकता ।'

'तो फिर मेरी छाती पर पैर रखकर जाइए ।'

यह कहता हुआ वह बालक अपने पिता के सामने लेट गया । पिता ने तुरन्त बालक को उठाकर छाती से लगा लिया और कपड़े लौटाकर घर चला गया ।

तीसरी घटना कानपुर नगर की है । एक महाशय अपने पुत्र को स्वयसेवक न बनने देते थे । पुत्र के मन मे देश सेवा का असीम उत्साह था, पर माता-पिता की अवज्ञा न कर सकता था । एक ओर देश-प्रेम था, दूसरी ओर माता-पिता की भक्ति । यह अंतर्द्वन्द्व उसके लिए एक दिन असह्य हो उठा । उसने घर वालों से कुछ न कहा । जाकर रेल की

पटरी पर लेट गया। ज़रा देर मे एक गाड़ी आई और उसकी हड्डियो तक को चूर-चूर कर गई।

चौथी घटना एक दूसरे नगर की है। मन्दिरो पर स्वयसेवकों का पहरा था। स्वयसेवक जिसे विलायती कपड़े पहने देखते थे उसे मन्दिर मे न जाने देते थे। उसके सामने लेट जाते थे। कही-कहीं स्त्रियाँ भी पहरा दे रही थीं। सहसा एक स्त्री खद्दर की साडी पहने आकर मन्दिर के द्वार पर खडी हो गई। वह कॉंग्रेस की स्वयंसेविका न थी, न उसके अचल मे सत्याग्रह का बिल्ला ही था। वह मन्दिर के द्वार के समीप खड़ी तमाशा देख रही थी और स्वयसेविकाएँ विदेशी वस्त्र-धारियो से अनुनय-विनय करती थीं, सत्याग्रह करती थी। पर वह स्त्री सबसे अलग चुपचाप खड़ी थी। उसे आये कोई घटा-भर हुआ होगा, कि सड़क पर एक फिटन आकर खड़ी हुई और उसमे से एक महाशय सुन्दर महीन रेशमी पाड़ की धोती पहने निकले। यह थे रायबहादुर हीरामल, शहर के सबसे बड़े रईस, आनरेरी मैजिस्ट्रेट, सरकार के परम भक्त और शहर की अमन-सभा के प्रधान। नगर मे उनसे बढ़कर कॉंग्रेस का विरोधी न था। पुजारीजी ने लपककर उनका स्वागत किया और उन्हें गाड़ी मे उतारा। स्वयंसेविकाओ की हिम्मत न पड़ी, कि उन्हे रोक ले। वह उनके बीच मे होते हुए द्वार पर आये और अन्दर जाना ही चाहते थे, कि वही खद्दरधारी रमणी आकर उनके सामने खड़ी हो गई और गम्भीर स्वर मे बोली—आप यह कपड़े पहनकर अन्दर नहीं जा सकते।

हीरामलजी ने देखा, तो सामने उनकी पत्नी खड़ी है। कलेजे मे बरछी-सी चुभ गई। बोले—तुम यहाँ क्यो आई?

रमणी ने दृढ़ता से उत्तर दिया—इसका जवाब फिर दूँगी। आप यह कपड़े पहने हुए मन्दिर मे नहीं जा सकते।

'तुम मुझे नहीं रोक सकती।'

'तो मेरी छाती पर पाँव रखकर जाइएगा।'

यह कहती हुई वह मन्दिर के द्वार पर बैठ गई।

'तुम मुझे बदनाम करना चाहती हो ?'

'नहीं, मै आपके मुंह का कलक मिटाना चाहती हूँ ।'

'मै कहता हूँ, हट जाओ । पति का विरोध करना स्त्रियों का धर्म नहीं है । तुम क्या अनर्थ कर रही हो, यह तुम नहीं समझ सकतीं ।'

'मैं यहाँ आपकी पत्नी नहीं हूँ । देश की सेविका हूँ । यहाँ मेरा कर्तव्य यही है, जो मैं कर रही हूँ । घर मे मेरा धर्म आपकी आज्ञाओं को मानना था । यहाँ मेरा धर्म देश की आज्ञा को मानना है ।'

हीरामलजी ने धमकी भी दी, मिन्नतें भो कीं पर रमणी द्वार से न हटी । आख़िर पति को लज्जित होकर लौटना पड़ा । उसी दिन उनका स्वदेशी संस्कार हुआ ।

पाँचवीं घटना उन गढ़वाली वीरों की है, जिन्होंने पेशावर के सत्याग्रहियो पर गोली चलाने से इनकार किया । शायद हमारी सरकार को पहली बार राष्ट्रीय आन्दोलन की महत्ता का बोध हुआ । वह गोरखे जिन्हे हम लोग पशु समझते थे, जिनकी राज-भक्ति पर सरकार को अटल विश्वास था, जिनमे राष्ट्रीय भावों की जाग्रति की कोई कल्पना भी न कर सकता था, उन्हीं गोरखे योद्धाओ ने निःशस्त्र सत्याग्रहियों पर गोली चलाने से इन्कार कर दिया । उन्हे खूब मालूम था, कि इसका नतीजा कोर्टमार्शल होगा, हमे काले पानी भेजा जायगा, फासियाँ दी जायँगी, शायद गोली मार दी जाय; पर यह जानते हुए भी उन्होंने गोली चलाने से इनकार किया ! कितना आसान था गोली चला देना । राइफल के घोडे को दबाने की देर थी । पर धर्म ने उनकी उँगलियो को बाँध दिया था । धर्म की वेदी पर इतने बडे बलिदान का उदाहरण ससार के इतिहास मे बहुत कम मिलेगा ।

साहित्य में समालोचना

साहित्य मे समालोचना का जो महत्त्व है उसको बयान करने की जरूरत नहीं। सद् साहित्य का निर्माण बहुत गम्भीर समालोचना पर ही मुनहसर है। योरप मे इस युग को समालोचना का युग कहते हैं। वहाँ प्रति-वर्ष सैकड़ो पुस्तकें केवल समालोचना के विषय की निकलती रहती हैं, यहाँ तक कि ऐसे ग्रन्थो का प्रचार, प्रभाव, और स्थान क्रियात्मक रचनाओं से किसी प्रकार घटकर नहीं है। कितने ही पत्रो और पत्रिकाओ में स्थायी रूप से आलोचनायें निकलती रहती हैं, लेकिन हिन्दी में या तो समालोचना होती ही नहीं या होती है तो द्वेष या झूठी प्रशंसा से भरी हुई अथवा ऊपरी, उथली और बहिर्मुखी। ऐसे समालोचक बहुत कम हैं जो किसी रचना की तह मे डूबकर उसका तात्विक, मनोवैज्ञानिक विवेचन कर सकें। हाँ कभी-कभी प्राचीन ग्रन्थो की आलोचना नजर आ जाती है जिसे सही मानो मे समालोचना कह सकते हैं, मगर हम तो इसे साहित्यिक मुर्दापरस्ती ही कहेगे। प्राचीन कवियों और साहित्याचार्यों का यशोगान हमारा धर्म है, लेकिन जो प्राणी केवल अतीत मे रहे, पुरानी सम्पदा का ही स्वप्न देखता रहे और अपने सामने आनेवाली बातो की तरफ से आँखें बन्द कर ले, वह कभी अपने पैरों पर खड़ा हो सकता है, इसमे हमे सन्देह है। पुरानों ने जो कुछ लिखा, सोचा और किया, वह पुरानी दशाओं और परिस्थितियो के अधीन किया। नए जो कुछ लिखते, सोचते, या करते हैं, वह वर्तमान परिस्थितियों के अधीन करते हैं। इनकी रचनाओ मे वही भावनायें और

आकांक्षायें होती है जिनसे वर्तमान युग आन्दोलित हो रहा है। यदि हम पुराने विशाल खण्डहरो ही को प्रतिमा की भाँति पूजते रहे और अपनी नई झोपड़ी की बिल्कुल चिन्ता न करें तो हमारी क्या दशा होगी, इसका हम अनुमान कर सकते हैं।

आइए देखें इस अभाव का कारण क्या है। हिन्दी-साहित्य मे ऐसे लेखको की ईश्वर की दया से कमी नहीं है जो संसार साहित्य से परिचित है, साहित्य के मर्मज्ञ हैं, साहित्य के तत्वो को समझते हैं। साहित्य का पथ प्रदर्शन उन्हीं का कर्तव्य है। लेकिन या तो वह हिन्दी पुस्तकों की आलोचना करना अपनी शान के खिलाफ समझते हैं या उन्हें हिन्दी-साहित्य मे कोई चीज आलोचना के योग्य मिलती ही नहीं या फिर हिन्दी भाषा उन्हें अपने गहरे विचारों को प्रकट करने के लिए काफी नहीं मालूम होती। इन तीनो ही कारणों मे कुछ न कुछ तत्व है, मगर इसका इलाज क्या हिन्दी-साहित्य से मुंह मोड़ लेना है? क्या आखें बन्द करके बैठ जाने से ही सारी विपत्ति-बाधायें टल जाती हैं? हमें साहित्य का निर्माण करना है, हमे हिन्दी को भारत की प्रधान भाषा बनाना है, हमे हिन्दी-द्वारा राष्ट्रीय एकता की जड़ जमाना है। क्या इस तरह उदासीन हो जाने से ये उद्देश्य पूरे होंगे? योरोपीय भाषाओं की इसलिए उन्नति हो रही है कि वहाँ दिमाग और दिल रखने वाले व्यक्ति उससे दिलचस्पी रखते हैं, बडे-बड़े पदाधिकारी, लीडर, प्रोफेसर और धर्म के आचार्य साहित्य की प्रगति से परिचित रहना अपना कर्तव्य समझते हैं। यही नहीं बल्कि अपने साहित्य से प्रेम उनके जीवन का एक अग है, उसी तरह जैसे अपने देश के नगरो और दृश्यों की सैर। लेकिन हमारे यहाँ चोटी के लोग देशी साहित्य की तरफ ताकना भी हेय समझते है। कितने ही तो बडे रोब से कहते हैं, हिन्दी मे रखा ही क्या है। अगर कुछ गिने-गिनाये लोग हैं भी तो वह समझते हैं इस क्षेत्र मे आकर हमने एहसान किया है। वह यह आशा रखते है कि हिन्दी ससार उनकी हर एक बात को आखे बन्द करके स्वीकार

करे, उनके कलम से जो कुछ निकले, ब्रह्मवाक्य समझा जाय। वह शायद समझते है, मौलिकता उपाधियो से आती है। वह यह भूल जाते हैं कि बिरला ही कोई उपाधिधारी मौलिक होता है। उपाधियाँ जानी हुई और पढी हुई बातो के प्रदर्शन या परिवर्तन से मिलती हैं। मौलिकता इसके सिवा और कुछ भी है। अगर कोई 'डाक्टर' या 'प्रोफेसर' लिखे तो शायद ऊँचे मस्तिष्क वालो की यह बिरादरी उसका स्वागत करे। लेकिन दुर्भाग्य-वश हिन्दी के अधिकाश लेखक न डाक्टर है, न फिलासफ़र, फिर उनकी रचनाये कैसे सम्मान पायें और कैसे आलोचना के योग्य समझी जायें। किसी वस्तु की प्रशसा तो और बात है, निन्दा भी कुछ न कुछ उसका महत्व बढाती है। वह निन्दा के योग्य तो समझी गई। हमारी यह दिमागवालो की बिरादरी किसी रचना की प्रशसा तो कर ही नही सकती; क्योकि इससे उसकी हेठी होती है, दुनिया कहेगी, यह तो शा और शेली और शिलर की बातें किया करते थे, उस आकाश से इतने नीचे कैसे गिर गये! हिन्दी मे भी कोई ऐसा चीज हो सकती है, जिसकी ओर वह आँखे उठा सके, यह उनकी शिक्षा और गौरव के लिये लज्जास्पद है। बेचारे ने तीन वर्ष पेरिस और लन्दन की खाक छानी, इसीलिये कि हिन्दी लेखको की आलोचना करे! फारसी पढ़कर भी तेल बेचे! हम ऐसे कितने ही सज्जनो को जानते है जो डाक्टर या डी० लिट्० होने के पहले हिन्दी मे लिखते थे, लेकिन जब से डाक्टरेट की उपाधि मिली, वह पतंग की भाँति आकाश मे उड़ने लगे। आलोचना साहित्य की उनके द्वारा पूर्ति हो सकती थी; क्योकि रचना के लिये चाहे विशेष शिक्षा की जरूरत न हो, आलोचना के लिये ससार-साहित्य से परिचित होने की ज़रूरत है। हमारे पास कितने ही युवक लेखको की रचनाये, प्रकाशित होने के पहले, सम्मति के लिये आती रहती हैं। लेखक के हृदय मे भाव है, मस्तिस्क मे विचार हैं, कुछ प्रतिभा है, कुछ लगन, कुछ संस्कार, उसे केवल एक अच्छे सलाहकार की ज़रूरत है। इतना सहारा पाकर वह कुछ से कुछ हो जा सकता है; लेकिन यह सहारा उसे

नहीं मिलता। न कोई ऐसे व्यक्ति है, न समिति, न मडल। केवल पुस्तक-प्रकाशको की पसन्द का भरोसा है। उसने रचना स्वीकार कर ली, तो खैर, नहीं सारी की-कराई मेहनत पर पानी फिर गया। प्रेरक शक्तियो मे यशोलिप्सा शायद सबसे बलवान है। जब यह उद्देश्य भी पूरा नहीं होता, तो लेखक कथा डाल देता हे और इस भॉति न जाने कितने गुदडी के रत्न छिपे रह जाते है। या फिर वह प्रकाशक महोदय के आदेशानुसार लिखना शुरू करता है और इस तरह कोई नियन्त्रण न होने के कारण, साहित्य मे कुरुचि बढती जाती है। इस तरफ जैनेन्द्रकुमारजी की 'परख', प्रसादजी का 'कंकाल', प्रतापनारायणजी की 'विदा', निरालाजी की 'अप्सरा', वृन्दावनलालजी का 'गढ़कुण्डार' आदि कई सुन्दर रचनाये प्रकाशित हुई है। मगर इनमे से एक की भी गहरी, व्यापक, तात्त्विक आलोचना नही निकली। जिन महानुभावो मे ऐसी आलोचना की सामर्थ्य थी, उन्हे शायद इन पुस्तको की खबर भी नहीं हुई। इनसे कहीं घटिया किताबे अग्रेजी मे निकलती रहती है और उन्हे ऊँची बिरादरीवाले सज्जन शौक से पढ़ते और संग्रह करते है; पर इन रत्नो की ओर किसी का ध्यान आकृष्ट न हुआ। प्रशंसा न करते, दोष तो दिखा देते, ताकि इनके लेखक आगे के लिये सचेत हो जाते, पर शायद इसे भी वे अपने लिये जलील समझते है। इङ्गलैण्ड का रामजे मैकेडानेल्ड या बोनर ला अग्रेज़ी साहित्य पर प्रकाश डालनेवाला व्याख्यान दे सकता है, पर हमारे नेता खद्दर पहनकर अँग्रेज़ी लिखने और बोलने में अपना गौरव समझते हुए, हिन्दी-साहित्य का अलिफ़ बे भी नहीं जानते। यह इसी उदासीनता का नतीजा है, कि 'विजयी। विश्व तिरंगा प्यारा' जैसा भावशून्य गीत हमारे राष्ट्रीय जीवन मे इतना प्रचार पा रहा है। 'वन्देमातरम्' को यदि 'विजयी विश्व'.के मुक़ाबले में रखकर देखिए, तो आपको विदित होगा कि आपकी लापरवाही ने हिन्दी-साहित्य को आदर्श से कितना नीचे गिरा दिया है। जहाँ अच्छी चीज़ की क़द्र करने वाले और परखने वाले नहीं है वहाँ नकली, घटिया, ज़टियल चीजें ही बाज़ार में आवे, तो कोई

आश्चर्य की बात नहीं। वास्तव मे हमारे यहाँ साहित्यिक जीवन का पता ही नही। नीचे से ऊपर तक मुरदनी-सी छाई हुई है। यही मुख्य कारण है कि हिन्दी लेखको मे बहुत से ऐसे लोग आ गये है, जिनका स्थान कही और था। और, जब तक शिक्षित समुदाय अपने साहित्यिक कर्तव्य की यो अवहेलना करता रहेगा, यही दशा बनी रहेगी। जहाँ साहित्य सम्मेलन जैसी सार्वजनिक संस्था के सदस्यो की कुल सख्या दो सौ से अधिक नहीं, वहाँ का साहित्य बनने मे अभी बहुत दिन लगेंगे।

हिन्दी-गल्प-कला का विकास

अगर आज से पचीस तीस साल पहले की किसी पत्रिका को उठाकर आज की किसी पत्रिका से मिलाइए, तो आप को मालूम होगा कि हिन्दी गल्प-कला ने कितनी उन्नति की है। उस वक्त शायद ही कोई कहानी छपती थी, या छपती भी थी, तो किसी अन्य भाषा से अनूदित। मौलिक कहानी तो खोजने से भी न मिलती थी। अगर कभी कोई मौलिक चीज निकल जाती थी, तो हमको तुरन्त सन्देह होने लगता था, कि यह अनुवादित तो नहीं है। अनुवादित न हुई तो छाया तो अवश्य ही होगी। हमे अपनी रचना-शक्ति पर इतना अविश्वास हो गया था। मगर आज किसी पत्रिका को उठा लीजिए, उसमे अगर ज्यादा नहीं, तो एक तिहाई अश कहानियो से अलकृत रहता ही है। और कहानियाँ भी अनूदित नहीं, मौलिक। इस तेज चाल से दौड़ने वाले युग मे किसी को किसी से बात करने की मुहलत नहीं है, मनुष्य को अपनी आत्मा की प्यास बुझाने के लिए, कहानी ही एक ऐसा साधन है, जिससे वह ज़रा-सी देर मे—जितनी देर मे वह चाय का एक प्याला पीता या फ़ोन पर किसी से बाते करता है—प्रकृति के समीप जा पहुँचता है। साहित्य उस उद्योग का नाम है, जो आदमी ने आपस के भेद मिटाने और उस मौलिक एकता को व्यक्त करने के लिए किया है, जो इस जाहिरी भेद की तह मे, पृथ्वी के उदर मे व्याकुल ज्वाला की भाति, छिपा हुआ है। जब हम मिथ्या विचारो और भावनाओ मे पड़कर असलियत से दूर जा पडते है, तो साहित्य हमे उस सोते तक पहुँचाता है,

जहाँ Reality अपने सच्चे रूप मे प्रवाहित हो रही है। और यह काम अब गल्प के सिर आ पडा है। कवि का रहस्य-मय सकेत समझने के लिए अवकाश और शाति चाहिए। निबन्धो के गूढ़ तत्व तक पहुँचने के लिए मनोयोग चाहिये। उपन्यास का आकार ही हमे भयभीत कर देता है, और ड्रामे तो पढने की नही बल्कि देखने की वस्तु है। इसलिए, गल्प ही आज साहित्य की प्रतिनिधि है, और कला उसे सजाने और सेवा करने के और अपनी इस भारी जिम्मेदारी को पूरा करने के योग्य बनाने मे दिलोजान से लगी हुई है। कहानी का आदर्श ऊँचा होता जा रहा है, और जैसी कहानियाँ लिख कर बीस-पच्चीस साल पहले लोग ख्याति पा जाते थे, आज उनसे सुन्दर कहानियाँ भी मामूली समझी जाती है। हमे हर्ष है कि हिन्दी ने भी इस विकास मे अपने मर्यादा की रक्षा की है और आज हिन्दी मे ऐसे-ऐसे गल्पकार आ गये हैं, जो किसी भाषा के लिए गौरव की वस्तु हैं। सदियो की गुलामी ने हमारे आत्म-विश्वास को लुप्त कर दिया है, विचारो की आजादी नाम को भी नहीं रही। अपनी कोई चीज़ उस वक्त तक हमे नहीं जँचती, जब तक यूरप के आलोचक उसकी प्रशंसा न करे। इसलिए हिन्दी के आने वाले गल्प-कारो को चाहे कभी वह स्थान न मिले, जिसके वे अधिकारी है, और इस कसमपुरसी के कारण उनका हतोत्साह हो जाना भी स्वाभाविक है लेकिन हमे तो उनकी रचनाओ मे जो आनन्द मिला है, वह पश्चिम से आई कहा-नियो मे बहुतो मे नहीं मिला। ससार की सर्वश्रेष्ठ कहानियो का एक पोथा अभी हाल मे ही हमने पढ़ा है, जिसमे यूरप की हरेक जाति, अमेरिका, ब्राज़ील, मिस्र आदि सभी की चुनी हुई कहानियाँ दी गई है; मगर उनमे आधी दरजन से ज्यादा ऐसी कहानियाँ नही मिली, जिनका हमारे ऊपर रोब जारी हो जाता। इस संग्रह मे भारत के किसी गल्पकार की कोई रचना नहीं है, यहाँ तक कि डॉ॰ रवीन्द्रनाथ की किसी रचना को भी स्थान नहीं दिया गया। इससे संग्रहकर्ता की नीयत साफ जाहिर हो जाती है। जब तक हम पराधीन हैं, हमारा साहित्य भी पराधीन

है, और अगर किसी भारतीय साहित्यकार को कुछ आदर मिला है तो उसमे भी पश्चिमवालो की श्रेष्ठता का भाव छिपा हुआ है, मानो उन्होंने हमारे ऊपर कोई एहसान किया है। हमारे यहाँ ऐसे लोगों की कमी नही है, जिन्हे यूरप की अच्छी बाते भी बुरी लगती हैं और अपनी बुरी बात भी अच्छी। अगर हम मे आत्म-विश्वास की कमी अपना आदर नहीं करने देती, तो जातीय अभिमान की अधिकता भी हमे असलियत तक नहीं पहुँचने देती। कम से कम साहित्य के विषय मे तो हमे निष्पक्ष होकर खोटे खरो को परखना चाहिए। यूरप और अमेरिका मे ऐसे-ऐसे साहित्यकार और कवि हो गुजरे हैं और आज भी हैं, जिनके सामने हमारा मस्तक आप से आप झुक जाता है। लेकिन इसका यह अर्थ नही है कि वहाँ सब कुछ सोना ही सोना है, पीतल है ही नहीं। कहानिया मे तो हिन्दी उनसे बहुत पीछे हर्गिज नही है, चाहे वे इसे मानें या न मानें। प्रसाद, कौशिक या जैनेन्द्र की रचनाओ के विषय मे तो हमे कुछ कहना नहीं है। उनकी चुनी हुई चीजे किसी भी विदेशी साहित्यकार को रचनाओ से टक्कर ले सकती हैं। हम आज उन गल्पकारो का कुछ ·जिक्र करना चाहते है, जो हिन्दी-गल्प-कला के विकास मे श्रेय के साथ अपना पार्ट अदा कर रहे हैं, यद्यपि साहित्य समाज मे उनका उतना आदर नही है, जितना होना चाहिए।

इन गल्पकारो मे पहला नाम जो हमारे सामने आता है वह है—भारतीय एम० ए०। इनकी अभी तक पाँच-छः कहानियाँ पढ़ने का ही हमें अवसर मिला है और इनमे हमने भावो की वह प्रौढ़ता, निगाह की वह गहराई, मनोविज्ञान की वह बारीकी और भाषा की वह सरलता पाई है कि हम मुग्ध हो गये हैं। 'हस' की पिछली सख्या मे 'मुनमुन' नाम की उनकी कहानी अद्भुत है और हम उसे 'मास्टरपीस' कह सकते है। वह नवीनता और ताजेपन के पीछे नहीं दौड़ते, कहीं चमकने की सचेत चेष्टा नही करते, ऊँचे उड जाने की हवस उन्हे नही है। वह उसी दायरे मे रहते है, जिसका उन्होने कलाकार की आँखो से अनुभव किया है,

और उनके हृदय की सरसता उन साधारण दृश्यों में कुछ ऐसी सजीवता, कुछ ऐसा रस भर देती है कि पाठक पढने के वक्त आँखे बन्द करके उसका आनन्द उठाता है, और उसका मन कहता है कि इन दस मिनिटों का इससे अच्छा इस्तेमाल वह न कर सकता था। भारतीय महोदय विद्वान् हैं, हिन्दी के एम० ए०। पुराने कवियो को उन्होने खूब पढा है। और उनकी रचनाओं की टीकाएँ भी लिखी हैं। मौलिक सृष्टि की ओर उनका ध्यान हाल मे आया है, और हमारे खयाल मे यह अच्छा ही हुआ। कच्ची लेखनी इस क्षेत्र मे जो ठोकरें खाया करती है, वह उन्हे नहीं खानी पड़ी।

भारतीयजी की कहानियो को अगर किसी पुराने स्कूल की कुल-बधू की उपमा दें, जिसकी जीवन धारा सेवा और त्याग के बीच मे शाति के साथ बहती है, तो श्री वीरेश्वरसिंह की कहानियों मे नये स्कूल की युवती का लोच और सिंगार है, जिसके लिए ससार केवल मर्यादाओं का क्षेत्र नही, आनन्द और विनोद का क्षेत्र भी है। इनकी कहानियों मे कुछ ऐसी शोखी, कुछ ऐसी सजावट, कुछ ऐसा बाकपन होता है कि युवक फड़क जाते हैं, और युवतियाँ आँखें झुका लेती हैं। मगर, इनका दायरा अभी फैलने नहीं पाया है। हमने इनकी जितनी कहानियाँ पढ़ी हैं, अतीत जीवन के दो एक रसीले अनुभवो की झलक मिली है, मगर उनमे यह कुछ ऐसा जादू-सा भर देते हैं कि एक-एक वाक्य को बार-बार पढ़ने को जी चाहता है। बात मे बात पैदा करने मे इन्हे कमाल है और मामूली-सी बात को यह ऐसे सुन्दर, चुलबुले शब्दो मे कह जाते हैं कि सामने फूल-सा खिल जाता है। जैसे-जैसे अनुभवो की सीमा फैलेगी, इनकी रचनाओं मे प्रौढ़ता और गहराई आयगी, मगर हमे आशा है, इनका चुलबुलापन बना रहेगा और इस अनोखे रङ्ग की रक्षा करता रहेगा।

उसी उपमा की रक्षा करते हुए, हम श्री भुवनेश्वर प्रसाद 'भुवन' की रचनाओं मे उस विधवा का तेज और कसक और विद्रोह पाते है,

जिसे समाज और ससार कुचल डालना चाहता हो। पर वह अकेली सारी दुनिया को चुनौती देने खड़ी हो। भुवनजी से हमारा परिचय विचित्र परिस्थिति मे हुआ और हमने उनके रोम-रोम मे वह असतोष, वह गहरी सूझ, और मनोभावों को व्यक्त करने की वह शक्ति पाई, जो अगर सयम से काम लिया गया, और परिस्थितियो ने प्रतिभा को कुचल न दिया, तो एक दिन हिन्दी का उन पर गर्व होगा। उनके मिजाज में एक सैलानीपन है और उन्हे अपने-आप मे डूबे रहने और अपनी कटुताओ से सरल जीवन का कटु बनाने का वह मरज है, जो अगर एक ओर साहित्य की जान है, तो दूसरी ओर उसकी मौत भी है। यह ड्रामे भी लिखते हैं और इनके कई एकाकी ड्रामे हस मे निकल चुके हैं। जिन्होने वह ड्रामे पढे हैं, उनको मालूम हुआ होगा कि उनमें कितनी चोट, कितना दर्द और कितना विद्रोह है। भुवनजी उर्दू भी अच्छी जानते है, उर्दू और हिन्दी दोनो ही भाषाओ में शायरी करते हैं, और साहित्य के मर्मज्ञ है। उन पर आस्कर वाइल्ड का गहरा रङ्ग चढ़ा हुआ है, जो अद्भुत प्रतिभाशाली होने पर भी कला की पवित्रता को निभा न सका।

इन तीना स्रष्टाओ से कुछ अलग श्री 'अज्ञेय' का रङ्ग है। उनकी रचनाओ मे यद्यपि 'आमद' नही 'आबुर्द' है, पर उसके साथ ही गद्य-काव्य का रस है। वह भावना प्रधान होती है, गरिमा से भरी हुई, अतस्तल की अनुभूतियो से रञ्जित एक नये वातावरण मे ले जानेवाली, जिन्हे पढ़ कर, कुछ ऐसा आभास होता है कि हम ऊँचे उठ रहे है। लेकिन उनका आनन्द उठाने के लिए उन्हे ध्यान से पढ़ने की जरूरत है क्योकि वे जितना कहती हैं, उससे कहीं ज्यादा बे कहे छोड़ देती हैं। काश, अज्ञेयजी कल्पना-लोक से उतर कर यथार्थ के ससार मे आते।

इन्हीं होनहार युवकों मे श्री जनार्दनराय नागर है। हमारे युवको मे ऐसे सरल, ऐसे शीलवान, ऐसे सयमशील युवक कम होंगे। उनके साथ बैठना और उनकी आत्मा से निकले हुए निष्कपट उद्गारों को सुनना

अनुपम आनन्द है। कहीं बनावट नहीं, जरा भी तकल्लुफ नहीं। पक्का ब्रह्मचारी, जिसे आजकल का फैशन छू तक नही गया। मिजाज मे इन्तहा की सादगी इन्तहा की खाकसारी, जो दुनिया के बन्दों को भी मानो अपने प्रकाश से प्रकाशमान कर देती है। वह युनिवर्सिटी का छात्र होकर भी गुरुकुल के ब्रह्मचारियो का-सा आचरण रखता है। और उसे खुद खबर ही नहीं कि वह अपने अन्दर कितनी साधना रखता है। इनकी कई रचनाएँ हमने पढी है और प्रकाशित की है। इनके यहाँ ओज नही है, चुलबुलापन नहीं है; पर जीवन की सच्ची झलक है, सच्चा दर्द है और कलाकार की सच्ची अनुभूति है। इन्होने एक बडा उपन्यास भी लिखा है, जिसमे इनकी कला पूर्ण रूप से प्रस्फुटित हुई है, और उसे पढकर यह अनुमान भी नहीं किया जा सकता कि इसका लेखक एक बाइस–तेइस वर्ष का युवक है।

इन्हीं रत्नो मे हम प्रयाग के श्री त्रिलोकीनाथ मिच्चू का जिक्र करना आवश्यक समझते हैं। इन्होने दो साल पहले 'दो मित्र' नाम की एक मनोहर पशु-जीवन की कहानी लिखी थी। वह हमे इतनी भायी कि हमने उसे तुरन्त 'जागरण' मे प्रकाशित किया। उसके बाद आपकी एक कहानी 'पहाड़ी' नाम से 'माया' मे निकली। वह है तो छोटी-सी मगर बडी ही मर्मस्पर्शी। इस अक मे आपकी जो 'आशा' नामक कहानी छपी है, वह उनकी कला का अच्छा नमूना है। आपकी रचनाओ मे स्वस्थ यथार्थता और सहानुभूतिपूर्णता की अनुपम छटा होती है और यद्यपि आप बहुत कम लिखते है पर जो कुछ लिखते है; अच्छा लिखते है। आपकी इस कहानी मे सयत प्रणय का इतना सुन्दर चित्र है कि विषय मे कोई नवीनता न होने पर भी कहानी यथार्थ बन गई है। हमारे पास ६० फीसदी कहानियाँ प्रणय-विषयक ही आती है; पर प्रणय का इतना वीभत्स रूप दिखाया जाता है, या इतना अस्वाभाविक—और बिहार के युवक लेखको ने मानों इस ढग की कहानियाँ लिखने का ठीका-सा ले लिया है—कि हमे उनको छापते सकोच

होता है और इस बात का खेद होता है कि इन भले आदमियों के हृदय मे प्रेम की कितनी गलत धारणा जमी हुई है। यह विषय जितना ही व्यापक है, उतना ही उसे निभाना मुश्किल है। छिछोरी लालसा को प्रेम जैसी पवित्र साधना से वही सम्बन्ध है, जो दूध को शराब से है। प्रेम का आदर्श रूप कुछ वही है, जो मिञ्चू ने अपनी कहानी मे चित्रित किया है।

यह सूची गैर मुकम्मल रह जायगी अगर हम राची के श्री राधाकृष्णजी का उल्लेख न करें। आपकी कई रचनाएँ 'हंस' और 'जागरण' मे निकल चुकी हैं और रुचि के साथ पढ़ी गई हैं। आपकी शैली हास्य-प्रधान है और बड़ी ही सजीव। प्रतिकूल दशाओं मे रहकर भी आपकी तबीयत मे मज़ाक़ का रङ्ग फीका नहीं होने पाया।

हमारी गल्प-कला के विकास मे युवकों ने ही नहीं क़दम आगे बढ़ाया है। युवतियाँ भी उनके साथ कधा मिलाए चल रही हैं। साहित्य और समाज मे बड़ा नज़दीकी सम्बन्ध होने के कारण अगर पुरुषो के हाथ मे ही क़लम रहे, तो साहित्य के एकतरफ़ा हो जाने का भय है। ऐसे पुरुष किसी साहित्य मे भी ज्यादा नही हो सकते, जो रमणी हृदय की समस्याओ और भावो का सफल रूप दिखा सकें। एक ही स्थिति को स्त्री और पुरुष दोनों अलग-अलग आँखो से देख सकते हैं और देखते है। पुरुष का क्षेत्र अब तक अधिकतर घर के बाहर रहा है, और आगे भी रहेगा। स्त्री का क्षेत्र घर के अन्दर है, और इसलिए उसे मनोरहस्यों की तह तक पहुँचने के जितने अवसर मिलते हैं, उतने पुरुषो को नहीं मिलते। उनकी निगाहो मे ज्यादा बारीकी, ज्यादा कोमलता, ज्यादा दर्द होता है। साहित्य को सर्वांग पूर्ण बनाने के लिए महिलाओ का सहयोग लाजिमी है, और मिल रहा है। इधर कई बहनों ने इस मैदान में कदम रखा है, जिनमे उषा, कमला और सुशीला, ये तीन नाम खास तौर पर सामने आते हैं। श्रीमती उषा मित्रा बगाली देवी है, और शायद उनकी पहली रचना डेढ़-दो साल पहले 'हंस' में

प्रकाशित हुई थी। तब से वह बराबर सभी पत्रिकाओं मे लिख रही हैं। उनकी रचनाओं मे प्राकृतिक दृश्यो के साथ मानव-जीवन का ऐसा मनोहर सामजस्य होता है कि एक-एक रचना मे संगीत की माधुरी का आनन्द आता है। साधारण प्रसगों मे रोमास का रग भर देने मे उन्हे कमाल है। इधर उन्होने एक उपन्यास भी लिखा है, जिसमे उन्होने वर्तमान समाज की एक बहुत ही जटिल समस्या को हल करने का सफल उद्योग किया है और जीवन का ऐसा आदर्श हमारे सामने पेश किया है जिसमे भारतीय मर्यादा अपने कल्याणमयरूप की छटा दिखाती है। हमे आशा है, हम जल्द ही आपका उपन्यास प्रकाशित कर सकेंगे।

श्रीमती कमला चौधरी ने भी लगभग दो साल से इस क्षेत्र मे पदार्पण किया है, और उनकी रचनाएँ नियमित रूप से 'विशाल-भारत' मे निकल रही है। नारी-हृदय का ऐसा सुन्दर चित्रण हिन्दी मे शायद ही और कहीं मिल सके। आप की हरेक रचना मे अनुभूति की-सी यथार्थता होती है। 'साधना का उन्माद', 'मधुरिमा' और 'भिखमंगे की बेटी' आदि उनकी वह कहानियाँ हैं, जो नारी हृदय की साधना, स्नेह और त्याग का रूप दिखाकर हमें मुग्ध कर देती हैं। आप कभी-कभी ग्रामीण बोली का प्रयाग करके अपने चरित्रों मे जान-सी डाल देती हैं। आपकी गल्पो का एक संग्रह 'साधना का उन्माद' नाम से हाल मे ही प्रकाशित हुआ है।

कुमारी सुशीला आगा की केवल दो कहानियाँ हमने पढ़ी हैं; लेकिन वह दोनो कहानियाँ पढ़कर हमने दिल थाम लिया। 'अतीत के चित्र' मे उन्होने नादिरा की सष्टि करके सिद्ध कर दिया है कि उनकी रचना-भूमि ज़रखेज़ है और उसमे मनोहर गुल-बूटे खिलाने की दैवी शक्ति है। कह नहीं सकते, वह इस शक्ति से काम लेकर साहित्य के उद्यान की शोभा बढ़ायेंगी, या उसे शिथिल हो जाने देंगी। अगर ऐसा हुआ, तो साहित्य-प्रेमियों को दुःख होगा।

———

साहित्य और मनोविज्ञान

साहित्य का वर्त्तमान युग मनोविज्ञान का युग कहा जा सकता है। साहित्य अब केवल मनोरंजन की वस्तु नहीं है। मनोरंजन के सिवा उसका कुछ और भी उद्देश्य है। वह अब केवल विरह और मिलन के राग नहीं अलापता। वह जीवन की समस्याओं पर विचार करता है, उनकी आलोचना करता है और उनको सुलझाने की चेष्टा करता है।

नीति-शास्त्र और साहित्य का कार्य-क्षेत्र एक है, केवल उनके रचना विधान मे अन्तर है। नीति-शास्त्र भी जीवन का विकास और परिष्कार चाहता है, साहित्य भी। नीतिशास्त्र का माध्यम तर्क और उपदेश है। वह युक्तियो और प्रमाणों से बुद्धि और विचार को प्रभावित करने की चेष्टा करता है। साहित्य ने अपने लिए मनो-भावनाओ का क्षेत्र चुन लिया है। वह उन्हीं तत्वों को रागात्मक व्यंजना के द्वारा हमारे अंतस्तल तक पहुँचाता है। उसका काम हमारी सुन्दर भावनाओ को जगाकर उनमे क्रियात्मक शक्ति की प्रेरणा करना है। नीतिशास्त्री बहुत से प्रमाण देकर हमसे कहता है, ऐसा करो, नहीं तुम्हें पछताना पड़ेगा। कलाकार उसी प्रसग को इस तरह हमारे सामने उपस्थित करता है कि उससे हमारा निजत्व हो जाता है, और वह हमारे आनन्द का विषय बन जाता है।

साहित्य की बहुत-सी परिभाषाएँ की गई हैं लेकिन मेरे विचार मे उसकी सबसे सुन्दर परिभाषा जीवन की आलोचना है। हम जिस रोमा-

से काम लेता था। स्वर्ग और नरक, पाप और पुण्य, उसके यन्त्र थे। साहित्य हमारी सौदर्य-भावना को सजग करने की चेष्टा करता है। मनुष्य-मात्र मे यह भावना होती है। जिसमे यह भावना प्रबल होती है, और उसके साथ ही उसे प्रकट करने का सामर्थ्य भी होता है, वह साहित्य का उपासक बन जाता है। यह भावना उसमे इतनी तीव्र हो जाती है कि मनुष्य मे, समाज मे, प्रकृति मे, जो कुछ असुन्दर, असौम्य, असत्य है, वह उसके लिए असह्य हो जाता है, और वह अपनी सौदर्यभावना से व्यक्ति और समाज मे सुरुचिपूर्ण जागृति डाल देने के लिए व्याकुल हो जाता है। यो कहिए कि वह मानवता का, प्रगति का, शराफत का वकील है। जो दलित हैं, मर्दित हैं, ज़ख्मी हैं, चाहे वे व्यक्ति हों या समाज उनकी हिमायत और वकालत उसकी धर्म है। उसकी अदालत समाज है। इसी अदालत के सामने वह अपना इस्त-ग़ासा पेश करता है और अदालत की सत्य और न्याय-बुद्धि और उसकी सौन्दर्य-भावना को प्रभावित करके ही वह सन्तोष प्राप्त करता है। पर साधारण वकीलो की तरह वह अपने मुवक्किल की तरफ से जा और बेजा दावे नहीं पेश करता, कुछ बढ़ाता नहीं, कुछ घटाता नहीं, न गवाहों को सिखाता पढ़ाता है। वह जानता है, इन हथकण्डो से वह समाज की अदालत मे विजय नही पा सकता। इस अदालत मे तो तभी सुन-वाई होगी, जब आप सत्य से जौ-भर भी न हटे, नहीं अदालत उसके खिलाफ फैसला कर देगी और इस अदालत के सामने वह मुवक्किल का सच्चा रूप तभी दिखा सकता है, जब वह मनोविज्ञान की सहायता ले। अगर वह खुद उसी दलित समाज का एक अग है, तब तो उसका काम कुछ आसान हो जाता है क्योकि वह अपने मनोभावों का विश्ले-षण करके अपने समाज की वकालत कर सकता है। लेकिन अधिकतर वह अपने मुवक्किल की आन्तरिक प्रेरणाओ से, उसके मनोगत भावों से अपरिचित होता है। ऐसी दशा मे उसका पथ-प्रदर्शक मनोविज्ञान के सिवा कोई और नहीं हो सकता। इसलिए साहित्य के वर्तमान युग को

हमने मनोविज्ञान का युग कहा है। मानव-बुद्धि की विभिन्नताओं को मानते हुए भी हमारी भावनाएँ सामान्यतः एक रूप होती हैं। अन्तर केवल उनके विकास मे होता है। कुछ लोगों में उनका विकास इतना प्रखर होता है कि वह क्रिया के रूप मे प्रकट होता है वर्ना अधिकतर सुषुप्तावस्था मे पडा रहता है। साहित्य इन भावनाओं को सुषुप्तावस्था से जाग्रतावस्था मे लाने की चेष्टा करता है। पर इस सत्य को वह कभी नहीं भूल सकता कि मनुष्य मे जो मानवता और सौदर्य-भावना छिपी हुई रहती है, वहीं उसका निशाना पडना चाहिए। उपदेश और शिक्षा का द्वार उसके लिए बन्द है। हाँ उसका उद्देश्य अगर सच्चे भावावेश मे डूबे हुए शब्दो से पूरा होता है, तो वह उनका व्यवहार कर सकता है।

फिल्म और साहित्य

हमने गत मास के 'लेखक' मे 'सिनेमा और साहित्य' शीर्षक से एक छोटा सा लेख लिखा था, जिसे पढकर हमारे मित्र श्री नरोत्तम प्रसाद जी नागर, सपादक 'रंगभूमि' ने एक प्रतिवाद लिख भेजने की कृपा की है। हम अपने लेखको 'लेखक' से यहाँ नकल कर रहे हैं, ताकि पाठकों को मालूमहो जाय कि हमारे और नरोत्तमप्रसाद जी के विचारो मे क्या अंतर है। पाठक स्वय अपना निर्णय कर लेंगे। नागर जी का मै कृतज्ञ हूँ, कि उन्होंने उस लेखको पढ़ा और उसपर कुछ लिखनेकी जरूरत समझी। वह खुद सिनेमा मे सुधार के समर्थक है और बरसों से यह आन्दोलन कर रहे हैं, इसलिए इस विषय पर उन्हें सम्मति देने का पूरा अधिकार है। हम उनके प्रतिवाद को भी ज्यों का त्यो छापते हैं।

'लेखक' में प्रकाशित हमारा लेख

अकसर लोगों का खयाल है कि जब से सिनेमा 'सवाक्' हो गया है, वह साहित्य का अंग हो गया, और साहित्य सेवियों के लिए कार्य का एक नया क्षेत्र खुल गया है। साहित्य भावो को जगाता है, सिनेमा भी भावो को जगाता है, इसलिए वह भी साहित्य है। लेकिन प्रश्न यह होता है—कैसे भावो को? साहित्य वह है जो ऊँचे और पवित्र भावो को जगाये, जो सुन्दरम् को हमारे सामने लाये। अगर कोई पुस्तक हमारी पशु भावनाओं को प्रबल करती है, तो हम उसे साहित्य मे स्थान न देंगे। पारसी स्टेज के ड्रामो को हमने साहित्य का गौरव नहीं दिया। इसीलिए कि सुन्दरम् का जो साहित्यिक आदर्श अव्यक्त

रूप से हमारे मन मे है, उसका वहाँ कहीं पता न था। होली और कजली और बारहमासे की हजारो पुस्तके आये दिन छपा करती है, हम उन्हे साहित्य नहीं कहते। वह बिकती बहुत है, मनोरंजन भी करती है, पर साहित्य नहीं है। साहित्य मे भावो की जो उच्चता, भाषा की जो प्रौढ़ता और स्पष्टता, सुन्दरता की जो साधना होती है, वह हमे वहाँ नही मिलती। हमारा खयाल है कि हमारे चित्रपटो मे भी वह बात नहीं मिलती। उनका उद्देश्य केवल पैसा कमाना है। सुरुचि या सुन्दरता से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं। वह तो जनता को वही चीज़ देंगे जो वह माँगती है। व्यापार, व्यापार है। वहाँ अपने नफे के सिवा और किसी बात का ध्यान करना ही वर्जित है। व्यापार मे भावुकता आई और व्यापार नष्ट हुआ। वहाँ तो जनता की रुचि पर निगाह रखनी पड़ती है और चाहे संसार का सचालन देवताओ ही के हाथो मे क्यों न हो, मनुष्य पर निम्न मनोवृत्तियों का राज्य होता है। अगर आप एक साथ दो तमाशों की व्यवस्था करे—एक तो किसी महात्मा का व्याख्यान हो, दूसरा किसी वेश्या का नग्न नृत्य, तो आप देखेंगे कि महात्मा जी तो खाली कुरसियों को अपना भाषण सुना रहे हैं और वेश्या के पण्डाल में तिल रखने को जगह नहीं। मुँह पर राम-राम मन मे छुरी वाली कहावत जितनी ही लोकप्रिय है, उतनी ही सत्य भी है। वही भोला भाला ईमानदार ग्वाला जो अभी ठाकुरद्वारे से चरणामृत लेकर आया है, बिना किसी झिझक के दूध मे पानी मिला देता है। वही बाबूजी, जो अभी किसी कवि की एक सूक्ति पर सिर धुन रहे थे, अवसर पाते ही एक विधवा से रिश्वत के दो रुपये बिना किसी झिझक के लेकर जेब मे दाखिल कर लेते हैं। उपन्यासो मे भी ज्यादा प्रचार डाके और हत्या से भरी हुई पुस्तको का होता है। अगर पुस्तको मे कोई ऐसा स्थल है जहाँ लेखक ने संयम की लगाम ढीली कर दी हो तो उस स्थल को लोग बड़े शौक से पढ़ेंगे, उस पर लाल निशान बनायेंगे, उस पर मित्रों से मुबाहसे करेंगे। सिनेमा मे भी वही तमाशे खूब चलते है, जिनसे निम्न-भावनाओं की

विशेष तृप्ति हो। वही सज्जन, जो सिनेमा की कुरुचि की शिकायत करते फिरते है, ऐसे तमाशो मे सबसे पहले बैठे नजर आते है। साधु तो गली गली भीख माँगते है पर वेश्याओ को भीख माँगते किसी ने न देखा होगा। इसका आशय यह नहीं कि ये भिखमगे साधु वेश्याओ से ऊँचे है—लेकिन जनता की दृष्टि मे वे श्रद्धा के पात्र है। इसीलिये हर एक सिनेमा प्रोड्यूसर, चारे वह समाज का कितना बडा हितैषी क्यो न हो, तमाशे मे नीची मनोवृत्तियो के लिए काफी मसाला रखता है नही तो उसका तमाशा ही न चले। बम्बई के एक प्रोड्यूसर ने ऊँचे भावो से भरा हुआ एक खेल तैयार किया, मगर बहुत हाय हाय करने पर भी जनता उसकी ओर आकर्षित न हुई। 'पास' के अन्धाधुन्ध वितरण से रुपये तो नहीं मिलते। आमन्त्रित सज्जनो और देवियों ने तमाशा देखकर मानो प्रोड्यूसर पर एहसान किया और बखान करके मानो उसे मोल ले लिया। उसने दूसरा तमाशा जो तैयार किया, वह वही बाजारू ढग का था और वह खूब चला। पहले तमाशे से जो घाटा हुआ था, वह इस दूसरे तमाशे से पूरा हो गया। जिस शौक से लोग शराब और ताडी पीते है, उसके आधे शौक से दूध नहीं पीते। 'साहित्य' दूध होने का दावेदार है, सिनेमा, ताड़ी या शराब की भूख को शान्त करता है। जब तक साहित्य अपने स्थान से उतर कर और अपना चोला बदलकर शराब न बन जाय, उसका वहाँ निर्वाह नहीं। साहित्य के सामने आदर्श है, सयम है, मर्यादा है। सिनेमा के लिये इसमे से किसी वस्तु की जरूरत नही। सेंसर बोर्ड के नियन्त्रण के सिवा उस पर कोई नियन्त्रण नहीं। जिसे साहित्य की 'सनक' है वह कभी कुरुचि की ओर जाना स्वीकार न करेगा। मर्यादा की भावना उसका हाथ पकड़े रहती है, इसलिए हमारे साहित्यकार के लिये, जो सिनेमा मे हैं, वहाँ केवल इतना ही काम है कि वे डाइरेक्टर साहब के लिखे हुए गुजराती, मराठी या अग्रेजी कथोपकथन को हिन्दी मे लिख दे। डाइ-रेक्टर जानता है कि सिनेमा के लिए जिस 'रचना कला' की जरूरत

है वह लेखकों मे मुश्किल से मिलेगी; इसलिए वह लेखकों से केवल उतना ही काम लेता है जितना वह बिना किसी हानि के ले सकता है। अमेरिका और अन्य देशो मे भी साहित्य और सिनेमा मे सामन्जस्य नहीं हो सका और न शायद ही हो सकता है। साहित्य जन-रुचि का पथ-प्रदर्शक होता है, उसका अनुगामी नहीं। सिनेमा जन-रुचि के पीछे चलता है, जनता जो कुछ माँगे वही देता है। साहित्य हमारी सुन्दर भावना को स्पर्श करके हमे आनन्द प्रदान करता है। सिनेमा हमारी कुत्सित भावनाओ को स्पर्श करके हमे मतवाला बनाता है और इसकी दवा प्रोड्यूसर के पास नहीं। जब तक एक चीज की माँग है, वह बाजार मे आएगी। कोई उसे रोक नहीं सकता। अभी वह जमाना बहुत दूर है जब सिनेमा और साहित्य का एक रूप होगा। लोक-रुचि जब इतनी परिष्कृत हो जायगी कि वह नीचे ले आने वाली चीजो से घृणा करेगी, तभी सिनेमा मे साहित्य की सुरुचि दिखाई पड़ सकती है।

हिन्दी के कई साहित्यकारों ने सिनेमा पर निशाने लगाये लेकिन शायद ही किसी ने मछली बेध पाई हो। फिर गले मे जयमाल कैसे पड़ता? आज भी पडित नारायण प्रसाद बेताब, मुन्शी गौरीशकर लाल अख्तर, श्री हरिकृष्ण प्रेमी, मि० जमना प्रसाद काश्यप, मि० चन्द्रिका प्रसाद श्रीवास्तव, डाक्टर धनीराम प्रेम, सेठ गोविन्ददास, पडित द्वारका प्रसाद जी मिश्र आदि सिनेमा की उपासना करने मे लगे हुए है। देखा चाहिए सिनेमा इन्हे बदल देता है या ये सिनेमा की काया-पलट कर देते हैं?

श्री नरोत्तम प्रसाद जी की चिट्ठी

श्रद्धेय प्रेमचन्द जी,

'लेखक' में आपका लेख 'फिल्म और साहित्य' पढा। इस चीज को लेकर रगभूमि मे अच्छी खासी कन्ट्रावर्सी चल चुकी है। रगभूमि के वे

अक आपको भेजे भी गए थे। पता नहीं आपने उन्हे देखा कि नहीं। अस्तु।

आपने सिनेमा के सम्बन्ध मे जो कुछ लिखा है, वह ठीक है। साहित्य को जो स्थान दिया है, उससे भी किसी का मतभेद नहीं हो सकता। निश्चय ही सिनेमा ताड़ी और साहित्य दूध है; पर इस चीज को जेनेरलाइज करना ठोक न होगा। सिनेमा के लिए भी और साहित्य के लिए भी। साहित्य भी इसी ताडीपन से अछूता नहीं है। सिनेमा को मात करने वाले उदाहरण भी उसमे मिल जायेंगे—एक नहीं अनेक। और ऐसे व्यक्तियो के जिनको कि साहित्यिक ससार ने रिकग्नाइज किया है। और तो और, पाठ्यकोर्स तक मे जिनकी पुस्तकें हैं। अपने समर्थन मे महात्मा गान्धी के वे वाक्य उद्धृत करने होंगे क्या, जो कि उन्होने इन्दौर साहित्य सम्मेलन के सभापति की हैसियत से कहे है? लेकिन प्रत्यक्ष किम् प्रमाणम्। यही बात सिनेमा के साथ है। सिनेमा के साथ तो एक और भी गड़बड़ है। वह यह कि बदनाम है। आपके ही शब्दों में भिखमगे साधु वेश्याओं से अच्छे न होते हुए भी श्रद्धा के पात्र हैं। श्रद्धा के पात्र है, इसलिए टालरेबुल है या उतने विरोध के पात्र नहीं है, जितने कि वेश्याएँ। इसी तर्क शैली को लेकर आप सिद्ध करते हैं कि सिनेमा ताड़ी है और साहित्य दूध। ताडी ताड़ी है और दूध दूध। आपने इन दोनो के दर्मियान एक वेल मार्क्ड एन्ड वेल डिफाइन्ड लाइन आफ डिफरेन्स खीच दी है।

मेरा आपसे यहाँ सैद्धान्तिक मतभेद है। मेरा ख्याल है कि यह विचारधारा ही गलत है, जो इस तरह की तर्क शैली को लेकर चलती है। कभी जमाना था, जब इस तर्क शैली का जोर था, सराहना थी पर अब नहीं है। इस चीज को हमे उखाड़ फेंकना ही होगा।

एक जगह आप कहते हैं कि साहित्य का काम जनता के पीछे चलना नहीं, उसका पथ-प्रदर्शक बनना है। आगे चलकर आप साधु और वेश्याओं की मिसाल देते हैं। साधु वेश्याओ से अच्छे न होते हुए

भी जनता की श्रद्धा के पात्र है। यहा आप जनता की इस श्रद्धा को अपने समर्थन मे आगे क्यो रखते है।

आपने जो साहित्य के उद्देश्य गिनाये है, उन्हे पूरा करने मे सिनेमा साहित्य से कही आगे जाने की क्षमता रखता है। यूटिलिटी के दृष्टिकोण से सिनेमा साहित्य से कही अधिक ग्राह्य है; लेकिन यह सब होते हुए भी सिनेमा की उपयोगिता कुपात्रो के हाथो मे पड़कर दुरुपयोगिता मे परिणत हो रही है। इसमे दोष सिनेमा का नही, उनका है जिनके हाथ मे इसकी बागडोर है। इनसे भी अधिक उनका है जो इस चीज को बर्दाश्त करते है। बर्दाश्त करना भी बुरा नही होता, यदि इसके साथ मजबूरी की शर्त न लगी होती।

गले मे जयमाल पड़ने वाली बात भी बड़े मजे की है—'कितने ही साहित्यिको ने निशाने लगाये पर शायद ही कोई मछली बेध पाया हो। जयमाल गले मे कैसे पडती?' बहुत खूब। जिस चीज़ के लिए साहित्यिको ने सिनेमा पर निशाने लगाये, वह चीज क्या उन्हे नहीं मिली—अपवाद को छोडकर? आप या कोई और साहित्यिक यह बताने की कृपा करेंगे कि सिनेमा मे प्रवेश करने वाले साहित्यिको मे से ऐसा कौन है, जिसके सिनेमा-प्रवेश का मुख्य उद्देश्य सिनेमा को अपने रग मे रगना रहा हो? क्या किसी भी साहित्यिक ने सिन्सीयरली इस ओर कुछ काम किया है? फिर जयमाल गले मे कैसे पडती? माना कि साहित्य संसार मे जयमाल और सम्राट् की उपाधियाँ टके सेर बिकती हैं; लेकिन सभी जगह तो इन चीजो का यही भाव नहीं है। पहले सिनेमा-जगत को कुछ दीजिए, या यो ही गले मे जयमाल पड़ जाये? या सिर्फ साहित्यिक होना ही गले मे जयमाल पड़ने का क्वालिफिकेशन है?

आप बम्बई मे रह चुके हैं। सिनेमा-जगत की आपने झाकी भी ली है। आपको यह बताने की आवश्यकता नहीं कि हमारे साहित्यिक भी, अपनी फिल्मो मे निर्दिष्ट रुचि का समावेश करने मे किसी से पीछे नहीं रहे हैं। या कहे कि आगे ही बढ़ गये है। औरो को छोड़ दीजिए, वे

साहित्यिक भी जो कि एक तरह से कम्पनी के सर्वेसर्वा है, अपने फिल्म मे दो सौ लड़कियों का नाम रखने से बाज न आये, जो कि वज़िद थे, कि तालाब से पानी भरने वाले सीन मे हीरोइन अण्डरवियर न पहने, हीरो आये, उससे छेड़खानी करे और उसका घड़ा छीनकर उस पर डाल दे। बदन पर अण्डरवियर नहीं, वस्त्र भीगे, बदन से चिपके, और नग्नता का प्रदर्शन हो। यह सूझ उन्हीं साहित्यिको मे से एक की है, जिनके कि आपने नाम गिनाये हैं।......लेकिन मुझे कहना चाहिए कि इसमे साहित्यिक का दोष जरा भी नहीं है।.... और ऐसी ब्लैक-शीप मेन्टैलिटी साहित्यिक क्या और सिनेमा क्या, सभी जगह मिल जायेगी।

आपने अपने लेख में होली, कजली और बारहमासे की पुस्तकों का जिक्र किया है। इन चीजो को साहित्य नहीं कहा जाता या साहित्यिक इन्हे रिकग्नाइज नहीं करते, यह ठीक है। लेकिन उनका अस्तित्व है और जिस प्रेरणा या उमंग को लेकर अन्य कलाओं का सृजन होता है उन्ही को लेकर यह होली, कजली और बारहमासे भी आये है। लेकिन आपका उन्हे अपने से अलग रखना भी स्वाभाविक है। यूटिलिटी के व्यक्तिगत दृष्टिकोण से। इसी तरह क्या आपने कभी यह जानने का कष्ट किया है कि सिनेमा-जगत में क्लासेज एंड मासेज—दोनों की ही ओर से कौन-कौन सी कम्पनियों, कौन-कौन से डाइरेक्टरों और कौन-कौन से फिल्मो को रिकग्नाइज किया जाता है? भारत की मानी हुई या सर्वश्रेष्ठ कम्पनियाँ कौन सी हैं, यह पूछने पर आपको उत्तर मिलेगा—प्रभात, न्यू थियेटर्स और रणजीत। डाइरेक्टरों की गणना मे शान्ताराम, देवकी बोस और चन्दूलाल शाह के नाम सुनाई देंगे। तब फिर आपका, या किसी भी व्यक्ति का, जो भी फिल्म या कम्पनी सामने आ जाये उसी से सिनेमा पर एक स्लैशिंग फतवा देना कहाँ तक सगत है, यह आपही सोचें। यह तो वही बात हुई कि कोई आदमी किसी लाइब्रेरी मे जाता है। जिस पुस्तक पर हाथ पड़ता है, उसे उठा लेता है। और फिर उसी के आधार

पर फ़तवा दे देता है कि हिन्दी मे कुछ नहीं है, निरा कूड़ा भरा है। क्या आप इस चीज को ठीक समझते है ?

अब दो एक शब्द आपके मादक या मतवालावाद पर भी। पहली बात तो यह कि केवल यूटिलिटेरियन एन्ड्स की दृष्टि से लिखा गया साहित्य ही साहित्य है, ऐसा कहना ठीक नही। ऐसी रचना करने के लिए साहित्यिक से अधिक प्रोपेगेण्डिस्ट होने की जरूरत है। इतना ही नही। इन एन्ड्स को पूरा करने के लिए अन्य साधन मौजूद है, जो साहित्य से कही अधिक प्रभावशाली है। तब फिर, साहित्य के स्थान पर उन साधनो को प्रेफरेन्स क्यो न दिया जाये ? इसे भी छोड़िए। यूटिलिटेरियन एन्ड्स को अपनाने मे कोई हर्ज नहीं। उन्हे अपनाना चाहिए ही। लेकिन क्या सचमुच मे सेक्स-अपील उतना बड़ा हौवा है, जितना कि उसे बना दिया गया है ? क्या सेक्स अपील से अपने आपको, अपनी रचनाओ को, पाक रखा जा सकता है ? पाक रखना क्या स्वाभाविक और सजीव होगा ? अपवाद के लिए गुजाइश छोड़कर मैं आपसे पूछना चाहूँगा कि आप किसी भी ऐसी रचना का नाम बताएँ, जिसमें सेक्स अपील न हो। सेक्स अपील बुरी चीज नहीं है। वह तो होनी ही चाहिए। लोहा तो हमे उस मनोवृत्ति से लेना है, जो सेक्स अपील और सेक्स परदर्शन मे कोई भेद नहीं समझती।

अब सिनेमा-सुधार की समस्या पर भी। यह समझना कि जिनके हाथ मे सिनेमा की बागडोर है, वे इनिशिएटिव ले—भारी भूल होगी। यह काम प्रेस और प्लेटफार्म का है, इससे भी बढ़कर उन नवयुवको का है, जो सिनेमा मे दिलचस्पी रखते है। चूँकि मै प्रेस से सम्बन्धित हूँ और फ़िलहाल एक सिनेमा-पत्रिका का सम्पादन कर रहा हूँ इसलिए मैंने इस दिशा मे कदम उठाने का प्रयत्न किया। लेखकों तथा अन्य साहित्यिकों को अप्रोच किया। कुछ ने कहा कि सिनेमा सुधार की जिम्मेदारी लेखको पर नहीं। अपने लेख पर दिये गये 'लेखक' के सम्पादक का नोट ही देखिए। कुछ ने इसे असम्भव-सा बताकर छोड़ दिया। सिनेमा-सुधार

की आवश्यकता को तो सब महसूस करते है, सिनेमा का विरोध भी जी खाल कर करते है, पर क्रियात्मक सहयोग का नाम सुनते ही अलग हो जाते हैं। सिर्फ इसलिए कि सिनेमा बदनाम है और यह चीज़ हमारे रोम-राम मे धसी हुई है, कि बद अच्छा बदनाम बुरा। क्या यह विड॰म्बना नहीं है? इस चीज़ को दूर करने मे क्या आप हमारी सहायता न करेंगे!

यह सब होते हुए हम सिनेमा सुधार के काम को आगे बढ़ाना चाहते है। नवयुवक लेखको के सिनेमा ग्रूप की योजना के लिए जमीन तैयार हो चुकी है, हम विस्तृत योजना भी शीघ्र प्रकाशित कर रहे हैं। इसके लिए जरूरत होगी एक निष्पक्ष सिनेमा-पत्र की। जब तक नहीं निकलता तब तक काफी दूर तक 'रगभूमि' हमारा साथ दे सकती है। मेरा तो यह निश्चित मत है और मै सगर्व कह सकता हूँ कि इस लिहाज से 'रगभूमि' भारतीय सिनेमा पत्रो मे सबसे आगे है। मै आपसे अनुरोध करूंगा कि आप 'रगभूमि' की आलोचनाएँ जरूर पढा करे। पढ़ने पर आपको भी मेरे जैसा मत स्थिर करने मे जरा भी देर न लगेगी। इसका मुझे पूर्ण निश्चय है।

आशा है कि आप भी सिनेमा-ग्रूप को अपना आवश्यक सहयोग देकर कृतार्थ करेंगे।

आपका
नरोत्तम प्रसाद नागर

नागर•जी ने हमारे सिनेमा-सम्बन्धी विचारो को ठीक माना है, केवल हमारा जेनरेलाइज़ करना अर्थात् सभी को एक लाठी से हाकना उन्हे अनुचित जान पड़ता है। क्या वेश्याओ मे शरीफ औरते नहीं हैं? लेकिन इससे वेश्यावृत्ति पर जो दाग है वह नही मिटता। ऐसी वेश्याएँ अपवाद है, नियम नहीं।

साधुओ और वेश्याओ मे मौलिक अन्तर है। साधु कोई इसलिए नहीं हाता कि वह मौज उड़ाएगा और व्यभिचार करेगा, हालाकि ऐसे

साधु निकल ही आते है, जो परले सिरे के लुच्चे कहे जा सकते हैं। साधु हम ज्ञान प्राप्ति या मोक्ष या जन-सेवा के ही विचार से होते है। इस गई गुजरी दशा मे भी ऐसे साधु मौजूद है, जिन्हे हम महात्मा कह सकते है। वेश्याओ के मूल मे दुर्वासना, अर्थ-लोलुपता, कामुकता और कपट होता है। इससे शायद नागर जी को भी इन्कार न हो।

सिनेमा की क्षमता से मुझे इनकार नहीं। अच्छे विचारो और आदर्शों के प्रचार मे सिनेमा से बढकर कोई दूसरी शक्ति नहीं है, मगर जैसा नागर जी खुद स्वीकार करते है, वह कुपात्रो के हाथ मे है और वह लोग भी इस जिम्मेदारी से बरी नही हो सकते, जो उसे बर्दाश्त करते है, अर्थात् जनता। मुझे इसके स्वीकार करने मे कोई आपत्ति नहीं। यही तो मै कहना चाहता हूँ। सिनेमा जिनके हाथ मे है, उन्हे आप कुपात्र कहे, मै तो उन्हे उसी तरह व्यापारी समझता हूँ, जैसे कोई दूसरा व्यापारी। और व्यापारी का काम जन-रुचि का पथ-प्रदर्शन करना नही, धन कमाना है। वह वही चीज जनता के सामने रखता है, जिसमे उसे अधिक से अधिक धन मिले। एक फिल्म बनाने मे पचास हजार से एक लाख तक बल्कि इससे भी ज्यादा खर्च हो जाते है। व्यापारी इतना बडा खतरा नही ले सकता। गरीब का दीवाला निकल जाय। साहित्यकार का मुख्य उद्देश्य धन नहीं होता, नाम चाहे हो। हमारे खयाल मे साहित्य का मुख्य उद्देश्य जीवन को बल और स्वास्थ्य प्रदान करना है। अन्य सभी उद्देश्य इसके नीचे आ जाते है। हजारो साहित्यकार केवल इसी भावना से अपना जीवन तक साहित्य पर कुर्बान कर देते है। उन्हे धेला भी इससे नहीं मिलता। मगर ऐसा शायद ही कोई प्रोड्यूसर अवतरित हुआ हो, और शायद ही हो, जिसने इस ऊँची भावना से फिल्म बनाया हो।

आप फरमाते हैं, सिनेमा मे जाने वाले साहित्यिकों मे ऐसा कौन था, जिसका मुख्य उद्देश्य सिनेमा को अपने रग मे रगना रहा हो? हम जोरों से कह सकते हैं, कोई भी नहीं। वहाँ का जलवायु ही ऐसा है कि बड़ा आदर्शवादी भी जाय, तो नमक की खान मे नमक बन कर रह

जायगा। वही लोग, जो साहित्य मे आदर्श की सृष्टि करते हैं सिनेमा में दो दो सौ वेश्याओं का नगा नाच करवाते है। क्यों ? इसीलिए कि वे ऐसे धन्धे मे पड़ गये है, जहाँ बिना नगा नाच नचाये धन से भेंट नहीं होती। मै आदर्शों को लेकर गया था, लेकिन मुझे मालूम हुआ कि सिनेमा वालो के पास बने-बनाये नुस्खे हैं, और आप उस नुस्खे के बाहर नहीं जा सकते। वहाँ प्रोड्यूसर यह देखता है कि जनता किस बात पर तालियाँ बजाती है। वही बात वह अपने फिल्म में लायेगा। अन्य विचार उसके लिए ढकोसले है, जिन्हें वह सिनेमा के दायरे के बाहर समझता है। और फिर सारा भेद तो एसोसिएशन का है। वेश्या के मुख से वैराग्य या निर्गुण सुनकर कोई तर नहीं जाता। रही उपाधियों के टके सेर की बात। हमारे खयाल मे सिनेमा मे वह इससे कहीं सस्ती है जहाँ अच्छे वेतन पर लोग इसीलिए नौकर रखे जाते हैं, जो अपने ऐक्टरों और ऐक्ट्रेसों की तारीफ मे जमीन आसमान के कुलाबे मिलायें।

मैं यह नहीं कहता कि होली या कजली त्याज्य हैं और जो लोग होली या कजली गाते है वह नीच हैं और जिन भावो से प्रेरित होकर होली और कजली का सृजन होता है वह मूल रूप मे साहित्य की प्रेरक भावनाओं से अलग है। फिर भी वे साहित्य नहीं हैं। पत्र-पत्रिकाओ को भी साहित्य नहीं कहा जाता। कभी कभी उनमे ऐसी चीजें निकल जाती हैं, जिन्हे हम साहित्य कह सकते हैं। इसी तरह होली और कजली मे भी कभी-कभी अच्छी चीजे निकल जाती है, और वह साहित्य का अंग बन जाती हैं। मगर आम तौर पर ये चीजें अस्थायी होती है और साहित्य मे जिस परिष्कार, मौलिकता, शैली, प्रतिभा, विचार गम्भीरता की जरूरत होती है, वह उनमे नहीं पाई जाती। देहातों में दीवारो पर औरतें जो चित्र बनाती है, अगर उसे चित्रकला कहा जाय तो शायद ससार मे एक भी ऐसा प्राणी न निकले जो चित्रकार न हो। साहित्य भी एक कला है और उसकी मर्यादाएँ हैं। यह मानते हुए भी कि श्रेष्ठ कला वही है जो

आसानी से समझी और चखी जा सके, जो सुबोध और जनप्रिय हो, उसमे ऊपर लिखे हुए गुणों का होना लाजमी है। आपने सिनमा-जगत मे जिन अपवादो के नाम लिये हैं, उनकी मैं भी इज्जत करता हूँ और उन्हें बहुत गनीमत समझता हूँ; मगर वे अपवाद हैं, जो नियम को सिद्ध करते है। और हम तो कहते है इन अपवादो को भी व्यापारिकता के सामने सिर झुकाना पडा है। सिनेमा मे एंटरटेनमेन्ट वैलू साहित्य के इसी अंग से बिलकुल अलग है। साहित्य मे यह काम शब्दो, सूक्तियों या विनोदों से लिया जाता है। सिनेमा मे वही काम, मारपीट, धर पकड़, मुंह चिढाने और जिस्म को मटकाने से लिया जाता है।

रही उपयोगिता की बात। इस विषय मे मेरा पक्का मत है कि परोक्ष या अपरोक्ष रूप से सभी कला उपयोगिता के सामने घुटना टेकती है। प्रोपेगेन्डा बदनाम शब्द है; लेकिन आज का विचारोत्पादक, बलदायक, स्वास्थ्यवर्द्धक साहित्य प्रोपेगेन्डा के सिवा न कुछ है, न हो सकता है, न होना चाहिए, और इस तरह के प्रोपेगेन्डे के लिए साहित्य से प्रभावशाली कोई साधन ब्रह्मा ने नहीं रचा वर्ना उपनिषद् और बाइबिल दृष्टान्तो से न भरे होते।

सेक्स अपील को हम हौवा नहीं समझते, दुनिया उसी धुरी पर कायम लेकिन शराबखाने मे बैठ कर तो कोई दूध नहीं पीता। सेक्स अपील की निन्दा तब होती है, जब वह विकृत रूप धारण कर लेती है। सुई कपडे मे चुभती है, तो हमारा तन ढॅकती है, लेकिन देह मे चुभे तो उसे जख्मी कर देगी। साहित्य मे भी जब यह अपील सीमा से आगे बढ़ जाती है, तो उसे दूषित कर देती है। इसी कारण हिन्दी प्राचीन कविता का बहुत बड़ा भाग साहित्य का कलक बन गया है। सिनेमा मे वह अपील और भी भयंकर हो गई है, जो संयम और निग्रह का उपहास है। हमें विश्वास नहीं आता कि आप आजकल के मुक्त प्रेम के अनुयायी हैं। उसे प्रेम कहना तो प्रेम शब्द को कलंकित करना है। उसे तो छिछोरापन ही कहना चाहिए।

अन्त मे हमारा यही निवेदन है कि हम भी सिनेमा को इसके परिष्कृत रूप मे देखने के इच्छुक हैं, और आप इस विषय मे जो सराहनीय उद्योग कर रहे हैं, उसको गनीमत समझते है। मगर शराब की तरह यह भी यूरोप का प्रसाद है और हजार कोशिश करने पर भी भारत जैसे सूखे देश मे उसका व्यवहार बढता ही जा रहा है। यहाँ तक कि शायद कुछ दिनो मे वह यूरोप की तरह हमारे भोजन मे शामिल हो जाय। इसका सुधार तभी होगा जब हमारे हाथ मे अधिकार होगा, और सिनेमा जैसी प्रभावशाली, सद्‌विचार और सद्व्यवहार की मशीन कला-मर्मज्ञों के हाथ मे होगी, धन कमाने के लिए नहीं, जनता को आदमी बनाने के लिए, जैसा योरप मे हो रहा है। तब तक तो यह नाच तमाशे की श्रेणी से ऊपर न उठ सकेगा।

सिनेमा और जीवन

सिनेमा का प्रचार दिनै-दिन बढ रहा है। केवल इंग्लैंड मे दो करोड़ दर्शक प्रति सप्ताह सिनेमा देखने जाते है। इसलिए प्रत्येक राष्ट्र का फर्ज हो गया है कि वह सिनेमा की प्रगति पर कड़ी निगाह रखे और इसे केवल धन लुटेरों के ही हाथ मे न छोड़ दे। व्यवसाय का नियम है कि जनता मे जो माल ज्यादा खपे, उसकी तैयारी में लगे। अगर जनता को ताड़ी शराब से रुचि है, तो वह ताडी शराब की दुकानें खोलेगा और खूब धन कमाएगा। उसे इससे प्रयोजन नहीं कि ताड़ी शराब से जनता को कितनी दैहिक, आत्मिक, चारित्रिक, आर्थिक और पारिवारिक हानि पहुँचती है। उसके जीवन का उद्देश्य तो धन है और धन कमाने का कोई भी साधन वह नहीं छोड़ सकता। यह काम उपदेशको और सन्तों का है कि वे जनता मे संयम और निषेध का प्रचार करें। व्यवसाय तो व्यवसाय है। 'बिजनेस इज़ बिजनेस' यह वाक्य सभी की जबान पर रहता है। इसका अर्थ यही है कि कारोबार मे धर्म और अधर्म, उचित और अनुचित का विचार नहीं किया जा सकता। बल्कि उसका विचार करना बेवकूफी है।

इसमे विद्वानो को मतभेद हो सकता है कि आदमी का पूर्व पुरुष बन्दर है या भालू; लेकिन इसमे तो सभी सहमत होगे कि आदमी में दैविकता भी है और पाशविकता भी। अगर आदमी एक वक्त मे किसी की हत्या कर सकता है, तो दूसरे अवसर पर किसी की रक्षा मे अपने प्राणों का होम भी कर सकता है और आदि से साहित्य और काव्य और

कलाओं का यही ध्येय रहा है कि आदमी में जो पशुत्व है उसका दमन करके, उसमे जा देवत्व है, उसको जगाया जाय। उसमे जो निम्न भावनाएँ हैं उनको दबाकर या मिटाकर कोमल और सुन्दर वृत्तियो को सचेत किया जाय। साहित्य और काव्य मे भी ऐसे समय आये हैं, और आते रहते है, जब सुन्दर का पक्ष निर्बल हो जाता है और वह असुन्दर, वीभत्स और दुर्वासना का राग अलापने लगता है। लेकिन जब ऐसा समय आता है तो हम उसे पतन का युग कहते हैं। इसी उद्देश्य से साहित्य और कला मे केवल मानव जीवन की नकल करने को बहुत ऊँचा स्थान नही दिया जाता और आदर्शो की रचना करनी पड़ती है। आदर्शवाद का ध्येय यही है कि वह सुन्दर और पवित्र की रचना करके मनुष्य मे जो कोमल और ऊँची भावनाएँ है, उन्हे पुष्ट करे और जीवन के सस्कारो से मन और हृदय मे जो गर्द और मैल जम रहा हो उसे साफ कर दे। किसी साहित्य की महत्ता की जाच यही है कि उसमे आदर्श चरित्रो की सृष्टि हो। हम सब निर्बल जीव हैं, छोटे-छोटे प्रलोभनों में पड़कर हम विचलित हो जाते है, छोटे-छोटे सकटों के सामने हम सिर झुका देते हैं। और जब हमे अपने साहित्य में ऐसे चरित्र मिल जाते हैं, जो प्रलोभनो को पैरो तले रौदते और कठिनाइयों को धकियाते हुए निकल जाते हैं, तो हमे उनसे प्रेम हो जाता है, हममें साहस का जागरण होता है और हमे अपने जीवन का मार्ग मिल जाता है।

अगर सिनेमा इसी आदर्श को सामने रखकर अपने चित्रों की सृष्टि करता, तो वह आज ससार की सबसे बलवान सचालक शक्ति होता, मगर खेद है कि इसे कोरा व्यवसाय बनाकर हमने उसे कला के ऊँचे आसन से खींचकर ताड़ी या शराब की दूकान की सतह तक पहुँचा दिया है, और यही कारण है कि अब सर्वत्र यह आन्दोलन होने लगा है कि सिनेमा पर नियन्त्रण रखा जाय और उसे मनुष्य की पशुताओं को उत्तेजन देने की कुप्रवृत्ति से रोका जाय।

जिस जमाने मे बम्बई मे कांग्रेस का जलसा था, सिनेमा हाल

अधिकाश मे खाली रहते थे, और उन दिनो जो चित्र दिखाये गये, उनमें घाटा ही रहा। इसका कारण इसके सिवा और क्या हो सकता है कि जनता के विषय मे जो खयाल है कि वह मारकाट और सनसनी पैदा करने वाली और शोर गुल से भरी हुई तस्वीरो को ही पसन्द करती है, वह भ्रम है। जनता प्रेम और त्याग और मित्रता और करुणा से भरी हुई तस्वीरो को और भी रुचि से देखना चाहती है, मगर हमारे सिनेमा-वालो ने पुलिसवालो की मनोवृत्ति से काम लेकर यह समझ लिया है कि केवल भद्दे मसखरेपन और भॅडैती और बलात्कार और सौ फीट की ऊँचाई से कूदने, झूठमूठ टीन की तलवार चलाने मे ही जनता को आनन्द आता है और कुछ थोड़ा-सा आलिंगन और चुम्बन तो मानो सिनेमा के लिए उतना ही जरूरी है जितना देह के लिए आँखें। बेशक जनता वीरता देखना चाहती है। प्रेम के दृश्यों से भी जनता को रुचि है, लेकिन यह ख्याल करना कि आलिंगन और चुम्बन के बिना प्रेम का प्रदर्शन हो ही नहीं सकता, और केवल नकली तलवार चलाना ही जवाँमर्दी है, और बिना जरूरत गीतो का लाना सुरुचि है, और मन और कर्म की हिंसा मे ही जनता को आनन्द आता है. मनोविज्ञान का बिलकुल गलत अनुमान है। कहा जाता है कि, शेक्सपियर के शब्दों मे, जनता अबोध बालक है। और वह जिन बातों पर एकान्त मे बैठकर घृणा करती है, या जिन घटनाओं को अनहोनी समझती है, उन्हीं पर सिनेमा हाल मे बैठकर उल्लास से तालियाँ बजाती है। इस कथन मे सत्य है। सामूहिक मनोविज्ञान की यह विशेषता अवश्य है। लेकिन अबोध बालक को क्या माँ की गोद पसन्द नहीं? जनता नग्नता और फक्कड़ता और भंड़ैती ही पसन्द करती है, उसे चूमा-चाटी और बलात्कार में ही मजा आता है, तो क्या उसकी इन्हीं आवश्यकताओं को मजबूत बनाना हमारा काम है? व्यवसाय को भी देश और समाज के कल्याण के सामने झुकना पड़ता है। स्वदेशी आन्दोलन के समय मे किसकी हिम्मत थी जो बिज़नेस इज़ बिज़नेस की दुहाई देता? बिज़नेस

से अगर समाज का हित होता है, तो ठीक है; वर्ना ऐसे बिजनेस मे आग लगा देनी चाहिए। सिनेमा अगर हमारे जीवन को स्वस्थ आनन्द दे सके, तो उसे जिन्दा रहने का हक है। अगर वह हमारे क्षुद्र मनोवेगो को उकसाता है, हममे निर्लज्जता और धूर्त्तता और कुरुचि को बढ़ाता है, और हमे पशुता की ओर ले जाता है, तो जितनी जल्द उसका निशान मिट जाय, उतना ही अच्छा।

और अब यह बात धीरे-धीरे समझ मे आने लगी है कि अर्धनग्न तस्वीरें दिखाकर और नगे नाचो का प्रदर्शन करके जनता को लूटना इतना आसान नहीं रहा। ऐसी तस्वीरें अब आम तौर पर नापसन्द की जाती हैं, और यद्यपि अभी कुछ दिनों जनता की बिगडी हुई रुचि आदर्श चित्रो को सफल न होने देगी लेकिन प्रतिक्रिया बहुत जल्द होने वाली है और जनमत अब सिनेमा मे सच्चे और सस्कृत जीवन का प्रतिबिम्ब देखना चाहता है, राजाओं के विलासमय जीवन और उनकी ऐयाशियो और लड़ाइयों से किसी को प्रेम नही रहा।

———

साहित्य की नई प्रवृत्ति

जिस तरह सस्कृति के और सभी अंगों मे यूरोप हमारा पथ-प्रदर्शक है, उसी तरह साहित्य मे भी हम उसी के पद चिन्हो पर चलने के आदी हो गये है। यूरोप आजकल नग्नता की ओर जा रहा है। वही नग्नता जो उसके पहनावे मे, उसके मनोरजनों मे, उसके रूप प्रदर्शन मे नजर आती है, उसके साहित्य मे भी व्याप्त हो रही है। वह भूला जा रहा है कि कला सयम और संकेत मे है। वही बात जो संकेतों और रहस्यो मे आकर कविता बन जाती है, अपने स्पष्ट या नग्न रूप में वीभत्स हो जाती है। वह नगे चित्र और मूर्ति बनाना कला का चमत्कार समझता है। वह भूल जाता है कि वही काजल जो आँखों को शोभा प्रदान करता है, अगर मुँह पर पोत दिया जाय तो रूप को विकृत कर देता है। मिठाई उसी वक्त तक अच्छी लगती है, जब तक वह मुंह मीठा करने के लिए खाई जाय। अगर वह मुह मे ठूंस दी जाय, तो हमें उससे अरुचि हो जायगी। ऊषा की लाली मे जो सुहानापन है, वह सूरज के सम्पूर्ण प्रकाश मे हरगिज नहीं। मगर वर्तमान साहित्य उसी खुलेपन की ओर चला जा रहा है। जिन प्रसंगों मे जीवन का माधुर्य है, उन्हे स्पष्ट और नग्न रूप मे दिखाकर वह उस माधुर्य को नष्ट कर रहा है। वही प्रवृत्ति जो आज युवतियों को रेल और ट्राम मे बार बार आईना देखकर ओठो और गालो के धूमिल होते हुए रग को फिर से चमका देने पर प्रेरित करती है, हमारे साहित्य मे भी उन विषयों और भावो को खोलकर

रख देने की गुदगुदी पैदा करती है, जिसके गुप्त और अस्पष्ट रहने में ही कला का आनन्द है।

और यह प्रवृत्ति और कुछ नहीं, केवल समाज की वर्त्तमान व्यवस्था का रूप मात्र है। जब नारी को इसका निराशाजनक आभास होता है कि उसके पास रूप के आकर्षण के सिवा और कुछ नहीं रहा, तो वह नाना प्रकार से उसी रूप को संवार कर नेत्रो को आकर्षित करना चाहती है। उसमे वह सौन्दर्य नही रहा, जो काजल और पाउडर की परवाह न करके, केवल आखो को खुश करने मे ही अपना सार न समझकर अन्तस्तल की गहराइयों से अपना प्रकाश फैलाता है। वही व्यापार बुद्धि जो आज गली गली, कोने कोने मे अपना जौहर दिखा रही है, साहित्य और कला के क्षेत्र मे भी अपना आधिपत्य जमा रही है। आप जिधर जाइए आपको दीवारो पर, तख्तियो पर व्यापारियो के बड़े-बड़े भड़कीले पोस्टर नजर आयेगे। समाचार-पत्रो मे भी तीन चौथाई स्थान केवल विज्ञापनो से भरा रहता है। स्वामी को अच्छी सामग्री देने की उतनी चिन्ता नहीं रहती, जितनी नफा देने वाले विज्ञापन हासिल करने की। उसके कनवेसर लेखको के पास लेख के लिए नही जाते। इसके लिए तो एक कार्ड काफी है। मगर विज्ञापन-दाताओ की सेवा मे वे बराबर अपने कनवेसर भेजता है, उनकी खुशामद करता है, और उसी देवता को प्रसन्न करने मे अपना उद्धार पाता है। कितने ही अच्छे अच्छे पत्र तो केवल विज्ञापन के लिए ही निकलते हैं, लेख तो केवल गौण रूप से इसलिए दे दिये जाते हैं कि साहित्य के रसिकों को उन विज्ञापनो को पढ़ने के लिए प्रलोभन दे सके। व्यापार ने कला को एक तरह से खरीद लिया है। व्यापार के युग मे जिस चीज़ का सबसे ज्यादा महत्व होता है, वह धन है। जिसके अन्दर जो शक्ति है, चाहे वह देह की हो या मन की, या रूप की या बुद्धि की, वह उसे धन-देवता के चरणों पर ही चढ़ा देता है। हमारा साहित्य भी, जो कला का ही एक अंग है उसी व्यापार-बुद्धि का शिकार हो गया है। हम

किसी चीज़ की रचना इसलिए नहीं करते कि हमे कुछ कहना है, कोई सन्देश देना है, जीवन के किसी नये दृष्टिकोण को दिखाना है, समाज और व्यक्ति मे ऊँचे भावो को जगाना है अथवा हमने अपने जीवन मे जो कुछ अनुभव किया है, उसे जनता को देना है, बल्कि केवल इसलिए कि हमे धन कमाना है और हम बाजार मे ऐसी चीज रखना चाहते है जो ज्यादा से ज्यादा बिक सके। जब एक बार यह ख्याल दिल मे जम गया, तो फिर हम विचार-स्वातन्त्र्य और भाव-स्वातन्त्र्य के नाम से ऐसी चीजे लिखते हैं, जिनके विषय मे जनता को सदैव कुतूहल रहा है और सदैव रहेगा। ड्रामेटिस्ट और उपन्यासकार और कवि सभी नग्न लालसा और चूमाचाटी से भरी हुई रचनाएँ करने के लिए मैदान मे उतर आते है, और आपस मे होड-सी होने लगती है कि कौन नई से नई चौकाने वाली बाते कह सुनाये, ऐसे-ऐसे प्रसग उपस्थित करे कि कामुकता के छिपे हुए अड्डो मे जो व्यापार होते है वह प्रत्येक स्त्री पुरुष के सामने आ जायँ। कोई आजाद प्रेम के नाम से, कोई पतितो के उद्धार के नाम से, कामोद्दीपन की चेष्टा करता है, और सयम और निग्रह को दकियानूसी कहकर मुक्त विलास का उपदेश देता है। सत्य और असत्य की उसे परवाह नहीं होती। वह तो चौकाने वाली और कान खड़े करने वाली बाते कहना चाहता है, ताकि जनता उसकी कृतियों पर टूट पड़े और उसकी पुस्तके हाथो-हाथ बिक जायँ। उसे गुप्त से गुप्त प्रसंगो के चित्रण मे जरा भी संकोच या झिझक नही होती। इन्हीं रहस्यों को खोलने मे ही शायद उसके विचार मे समाज का बेडा पार होगा। व्रत और त्याग जैसी चीज़ की उसकी निगाह मे कुछ भी महिमा नहीं है। नहीं, बल्कि वह व्रत, त्याग और सतीत्व को ससार के लिए घातक समझता है। उसने वासनाओ को बेलगाम छोड़ देने में ही मानवी-जीवन का सार समझा है। हक्सले और डी० एच० लारेन्स और डिकोबरा आदि, आज अग्रेजी साहित्य के चमकते हुए रत्न समझे जाते हैं, लेकिन इनकी रचनाएँ क्या हैं? केवल उपन्यास रूपी कामशास्त्र। जब

एक लेखक देखता है कि अमुक की रचना नग्नता और निर्लज्जता के कारण धड़ाधड बिक रही है, तो वह कलम हाथ मे लेकर बैठता है और उससे भी दस कदम आगे जा पहुँचता है। और इन पुस्तको की समाज मे खूब आलोचनाएँ होती है, उनकी निर्भीक सत्यवादिता के खूब ढोल पीटे जाते है। इस प्रवृत्ति को यथार्थवाद का नाम दे दिया जाता है, और यथार्थवाद की आड़ मे आप व्यभिचार की, निर्लज्जता की, चाहे जितनी मीमासा कीजिए, कोई नहीं बोल सकता। एक महिला कलम लेकर बैठती है और अपने कुत्सित प्रेम-रहस्यो का कच्चा चिट्ठा लिख जाती हैं। समाज मे उनकी रचना की धूम मच जाती है, दूसरे महोदय अपनी ऐयाशियो की झूठी सच्ची कहानी लिखकर समाज मे हलचल पैदा कर देते हैं। पुस्तको को अधिक से अधिक लाभप्रद बनाने के लिए, सम्भव है, अपनी आत्म-चर्चा को खूब बढ़ा-बढा कर बयान किया जाता हो। कामुकता का ऐसा नगा नाच शायद किसी युग में न हुआ हो। दुकानो पर रूपवती युवतियाँ बैठाई जाती है। इसलिए कि ग्राहको की कामुकता को उत्तेजित करके एक पैसे की चीज के दो पैसे वसूल कर लिये जायँ। ये युवतियाँ मानो वह चारा है, जिसे काटे में लगाकर मछलियो को फसाया जाता है। जब सारे कुएँ मे ही भग पड़ गई है तो कला और साहित्य क्यों अछूते बच जाते? मगर यह सब उस सामाजिक व्यवस्था का प्रसाद है, जो इस वक्त ससार मे फैली है। और वह व्यवस्था है—'धन का कहीं जरूरत से ज्यादा और कहीं जरूरत से कम होना। जिनके पास जरूरत से ज्यादा है, वह मानो समाज के देवता हैं और जिनके पास जरूरत से कम है, वह हर मुमकिन तरीको से धनवानों को खुश करना चाहते हैं। और धन की वृद्धि सदैव विषय विलास की ओर जाती है। इसीलिए रूप के बाजार सजाए जाते हैं, इसीलिए नग्न चित्र बनाए जाते हैं इसीलिए साहित्य कामुकता-प्रधान हो जाता है। साहित्य के इस नए पतन। का एक कारण यह भी हो सकता है कि आज कल पश्चिमी समाज मे फैशन की गुलामी और भोग लालसा के

कारण कितने ही लोग विवाह से काँपते हैं, और उनकी रसिकता और कोई मार्ग न पाकर कामोद्दीपक साहित्य पढ़कर ही अपने दिल को तसल्ली दे लेती है। रूसी समाज को जिन लोगो ने देखा है, वे कहते है वि वहाँ की स्त्रियाँ रंग और पाउडर पर जान नहीं देतीं और न रेशम और लेस के लिए मरती है। उनके सिनेमा घरो के दरवाजो पर अर्ध नग्न पोस्टरो का वह प्रदर्शन नहीं होता, जो अन्य देशों मे नजर आता है। इसका कारण यह है कि वहाँ धन की प्रभुता किसी हद तक जरूर नष्ट हो गई है, और उनकी कला अब धन की गुलामी न करके समाज के परिष्कार मे लगी हुई है। हम ऊपर कह आये है कि आज यथार्थवाद के पर्दे मे बेशर्मी का नंगा नाच हो रहा है। यथार्थवाद के माने ही यह हो गए हैं कि वह समाज और व्यक्ति के नीच से नीच अधम से अधम और पतित से पतित व्यवहारो का पर्दा खोले, मगर क्या यथार्थता अपने क्षेत्र मे समाज और व्यक्ति की पवित्र साधनाओ को नहीं ले सकती? एक विधवा के पतित जीवन की अपेक्षा क्या उसके सेवामय, तपमय जीवन का चित्रण ज्यादा मगलकारी नहीं है? क्या साधु प्रकृति मनुष्यों का यथार्थ जीवन हमारे दिलो पर कोई असर नहीं करता? साहित्य मे असुन्दर का प्रवेश केवल इसलिए होना चाहिए कि सुन्दर को और भी सुन्दर बनाया जा सके। अन्धकार की अपेक्षा प्रकाश ही ससार के लिए ज्यादा कल्याण-कारी सिद्ध हुआ है।

दन्तकथाओं का महत्व

गत ७ अगस्त को मास्को मे सोवियत के सभी साहित्यिकों की एक विराट् सभा हुई थी जिसके सभापति ससार प्रसिद्ध मैक्सिम गोर्की थे। इस अवसर पर मैक्सिम गोर्की ने जो भाषण दिया, वह विषय और उसके निरूपण और मौलिक विचारो के लिहाज से बडे महत्व का था। आपने दन्तकथाओ और ग्राम्य गीतो को बिलकुल एक नए दृष्टिकोण से देखा जिसने इन कथाओ और गीतो का महत्व सैकडो गुना बढा दिया है। ग्राम्य साहित्य और पौराणिक कथाओं मे बहुधा मानव जीवन के आदिकाल की कठिनाइयो घटनाओ और प्राकृतिक रहस्यो का वर्णन है। कम से कम हमने अब तक ग्राम्य साहित्य को इसी दृष्टि से देखा है। मैक्सिम गोर्की साहब और गहराई मे जाते है और यह नतीजा निकालते है कि 'यह उस उद्योग का प्रमाण है, जो पुराने जमाने के मज़दूरो को अपनी मेहनत की थकावट का बोझा हल्का करने, थोडे समय मे ज्यादा काम करने, अपने को दो या चार टॉगो वाले शत्रुओ से बचाने और मन्त्रो द्वारा दैवी बाधाओ को दूर करने के लिए करना पड़ा।'

पुराणो और दन्तकथाओं मे जो देवी-देवता आते है, वह सभी स्वभाव मे मनुष्यो के से ही होते हैं। उनमे भी ईर्ष्या, द्वेष और क्रोध, प्रेम और अनुराग आदि मनोभाव पाये जाते है जो सामान्य मनुष्यो मे है। इस दलील से यह बात गलत हो जाती है कि ये देवी-देवता केवल ईश्वर के भिन्न रूप हैं, अथवा मनुष्य ने जल, अग्नि, मेघ आदि से बचने के लिए उन्हे देवता का रूप देकर पूजना शुरू किया। मैक्सिम

गोर्की साहब की राय मे इसकी उत्पत्ति सामाजिक व्यवस्था से हुई। समाज मे जो विशिष्ट लोग थे, वही देवताओ के नमूने बन गये। आदिम मनुष्यो की कल्पना मे देवता काई निराकार वस्तु या कोई अजूबा चीज न था, बल्कि वह मजदूर था, जिसके अस्त्रो मे हसिया या बसूला या कोई दूसरा औजार होता था। वह किसी न किसी उद्योग का जानकार होता था और मजदूरो की ही भाँति मेहनत करता था। आप आगे कहते है :

'ईश्वर केवल उनकी कलात्मक रचना था, जिसके द्वारा उन्होने अपने उद्योग की सफलताओ और विजयो का प्रदर्शन किया। दन्त-कथाओ मे मानव शक्तियो और उसके भावी विकास को देवत्व तक पहुँचा दिया गया है, पर असल मे वास्तविक जीवन ही उनका स्रोत है और उनकी उक्तियो से यह पता लगाना कठिन नहीं है कि उनकी प्रेरणा परिश्रम की व्यथा को कम करने के लिए हुई है।'

तो मैक्सिम गोर्की के कथनानुसार मज़दूरो ने ईश्वर को एक साधारण, सहृदय मजदूर के रूप मे देखा, लेकिन धीरे धीरे जब शक्तिवान् व्यक्तियो ने खुद ही मज़दूरी छोड़कर मज़दूरो से मालिक का दर्जा पा लिया तो यही ईश्वर मजदूरो स कठिन से कठिन काम लेने के लिए उपयुक्त होने लगा।

इसके बाद जब ईश्वर और देवताओ की सृष्टि का गौरव मज-दूर सेवको के हाथ से निकलकर धनी स्वामियो के हाथ मे आ गया, तो ईश्वर और देवता भी मजदूरो की श्रेणी से निकलकर महाजनो और राजाओ की श्रेणी मे जा पहुँचे, जिनका काम अप्सराओ के साथ विहार करना, स्वर्ग के सुख लूटना, और दुखियो पर दया करना था। भारत मे तो मजदूर देवताओ का कही पता नही है। यहाँ के देवता तो शंख, चक्र, गदा, पद्म धारण करते है। कोई फरसा लिये पापियो का कत्ल आम करता फिरता है, कोई बैल पर चढा भग चढ़ाये, भभूत रमाये, ऊल जलूल बकता नजर आता है। जाहिर है कि ऐसे ऐशपसन्द

या सैलानी देवताओं की सृष्टि करने वाले मजदूर नहीं हो सकते। ये देवता तो उस वक्त बने है, जब मजदूरो पर धन का प्रभुत्व हो चुका था और जमीन पर कुछ लोग अधिकार जमाकर राजा बन बैठे थे। यहाँ तो सभी पुराण आत्मवाद और आदर्शवाद से भरे हुए है। लेकिन, मैक्सिम गोर्की ने दिखाया है कि ईसा के पूर्व जो प्रतिमावादी थे, उनमें आत्मवाद का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नही मिलता। आत्मवाद, जिसका सबसे पहले योरप में प्लेटो ने प्रचार किया, वास्तव मे मजदूर समाज की देव कथाओं का ही एक परिवर्तित रूप था और जब ईसा ने अपने धर्म का प्रचार किया, तो उनके अनुयायियो ने प्राचीन यथार्थवाद के बचे-खुचे चिन्हो को भी मिटा डाला और उसकी जगह भक्ति और प्रार्थना और रहस्यवाद की स्थापना की, जिसने आज तक जनता को सम्मोहित कर रखा है, और मानव जाति की विचार शक्ति का बहुत बडा भाग मुक्ति और पुनर्जन्म और विधि के मामलो मे पड़ा हुआ है, जिससे न व्यक्ति का कोई उपकार होता है, न समाज का।

ग्राम्य गीतों में समाज का चित्र

प्रत्येक समाज मे धर्म और आचरण की रक्षा जितनी ग्राम्य-साहित्य और ग्राम्य गीतो द्वारा होती है, उतनी कदाचित् और किसी साधन से नही होती। हमारी पुरानी कहावतें और लोकोक्तियाॅ आज भी हममे से ९९ फीसदी मनुष्यो के लिए जीवन-मार्ग के दीपक के समान है। अपने व्यवहारो मे हम उन्ही आदर्शो से प्रकाश लेते है। अगर हमारे ग्राम्य-गीत, ग्राम्य-कथाएॅ और लोकोक्तियाॅ हमे स्वार्थ, अनुदारता और निर्ममता का उपदेश देती है तो उनका हमारे जीवन-व्यवहारो पर वैसा ही असर पड़ना स्वाभाविक है। इस दृष्टि से जब हम अपने ग्राम्य-गीतो की परीक्षा करते है, तो हमे यह देखकर खेद होता है कि उनमे प्रायः वैमनस्य, ईर्ष्या, द्वेष और प्रपच ही की शिक्षा दी गई है। सास जहाॅ आती है, वहाॅ उसे पिशाचिनी के रूप मे ही देखते है, जो बातचीत मे बहू को ताने देती है, गालियाॅ सुनाती है, यहाॅ तक कि बहू को निस्सतानरह ने पर उसे बाॅझिन कहकर उसका तिरस्कार करती है। ननद का रूप तो और भी कठोर है। शायद ही कोई ऐसा ग्राम्य-गीत हो, जिससे ननद और भावज मे प्रेम और सौहार्द का पता चलता हो। ननद को भावज से न जाने क्यो जानी दुश्मनी रहती है। वह भावज का खाना-पहनना, हॅसना-बोलना कुछ नहीं देख सकती और हमेशा ओठडे खोज-खोजकर उसे जलाती रहती है। देवरानियों, जेठानियो और गोतिनो ने तो मानो उसका अनिष्ट करने के लिए कसम खा रखी है। वे उसके पुत्रवती होने पर जलती हैं, और उसे भी पुत्र जन्म का या अपनी सुदशा का

केवल इसीलिए आनन्द होता है कि इससे देवरानियों, जेठानियों और गोतिनो का घमण्ड टूटेगा। उसका पति भी उससे प्रेम तो करता है, मगर जब सन्तान होने मे देर होती है, तो कोसने लगता है। जो गीत जन्म, मुण्डन विवाह सभी उत्सवो मे गाये जाते है, और प्रत्येक छोटे बडे घर मे गाये जाते है, उनमे अक्सर समाज और घर के यही चित्र दिखाये जाते हैं, और इसका हमारे घर और जीवन पर अप्रत्यक्ष रूप से असर पड़ना स्वाभाविक है। जब लडकी मे बात समझने की शक्ति आ जाती है, तभी से उसे ननद के नाम से घृणा होने लगती है। ननद से उसे किसी तरह की सहानुभूति, सहायता या सहयोग की आशा नहीं होती। वह मन मे ईश्वर से मनाती है कि उसका साबिका किसी ननद से न पड़े। ससुराल जाते समय उसे सबसे बड़ी चिन्ता यही होती है कि वहाँ दुष्टा ननद के दर्शन होगे, जो उसके लिए छुरी तेज किये बैठी है। जब मन मे ऐसी भावनाएँ भरी हुई है, तो ननद की ओर से कोई छोटी-सी शिकायत हो जाने पर भी भावज उसे अपनी बैरिन समझ लेती है और दोनो मे वह जलन शुरू हो जाती है, जो कभी शान्त नहीं होती। आज हमारे घरो मे ऐसी बहुत कम मिसाले मिलेगी, जहाँ ननद भावज मे प्रेम हो। सास और बहू मे जो मन मुटाव प्रायः देखने मे आता है, उसका सूत्र भी इन्हीं गीतो मे मिलता है, और यह भाव उस वक्त दिल मे जम जाते हैं, जब हृदय कोमल और ग्रहणशील होता है और इन पत्थर की लकीरों को मिटाना कठिन होता है। इस तरह के गीत एक तरह से दिलो मे कटुता और जलन की बारूद जमा कर देते है, जो केवल एक चिनगारी के पड़ जाने से भड़क उठती है। युवती बधू को ससुराल मे चारो तरफ दुश्मन ही दुश्मन नजर आते हैं, जो मानो अपने अपने हथियार तेज किये उस पर घात लगाये बैठे हैं। फिर क्यो न हमारे घरो मे अशान्ति और कलह हो। बहू सुख-नींद सोई हुई है। सास और ननद दोनो तड़प तड़पकर बोलती हैं—बहू तुझे क्या गुमान हो गया है, जो सुख- नीद सो

रही है। भौजी हमेशा 'बोलइ विष बोल करेजवा मे साल' यानी ऐसे तीखे वचन बोलती है जो हृदय मे शूल पैदा कर देते हैं। 'ननदिया' हमेशा 'विष बोलै। एक गीत मे सीता और उसकी ननद पानी भरने के लिए जाती है। ननद भावज से कहती है—रावन की तस्वीर खीचकर दिखा दे। भावज कहती है—राम सुन पायेंगे, तो मेरे प्राण ही ले लेंगे। ननद कसम खाती है कि वह भैया से यह बात न कहेगी। भावज चकमे मे आ जाती है और रावन की तस्वीर खींचती है। चित्र आधा ही बन पाया है कि राम आ जाते हैं। सीता चित्र को अचल से छिपा लेती है। इस पर ननद अपने बचन का जरा भी लिहाज नही करती और भाई से कह देती है कि यह तो 'रवना उरे हैं।' जो रावन तुम्हारा बैरी है, उसी की यहा तस्वीर बनाई जाती है। ऐसी औरत क्या घर मे रखने योग्य है। राम तरह-तरह के हीले करते हैं; पर ननद राम के पीछे पड़ जाती है। आखिर हार कर राम सीता को घर से निकाल देते है। ननद का ऐसा अभिनय देखकर किस भावज को उससे घृणा न हो जायगी।

मगर इसके साथ ही ग्राम्य गीतो में स्त्री-पुरुषों के प्रेम, सास-ससुर के आदर, पति पत्नी के व्रत और त्याग के भी ऐसे मनोहर चित्रण मिलते हैं कि चित्त मुग्ध हो जाता है। अगर कोई ऐसी युक्ति होती, जिससे विष और सुधा को अलग-अलग किया जा सकता और हम विष को अग्नि की भेट करके सुधा का पान करते तो समाज का कितना कल्याण होता।

———

समकालीन अंग्रेजी ड्रामा

बीसवीं सदी के अग्रेजी ड्रामा के विषय मे अगर यह कहा जाय कि वह मौजूदा साहित्य का सबसे प्रभावशाली अग है, तो बेजा न होगा। एलिजाबीथन युग का ड्रामा अधिकतर अमीरो और रईसो के मनोरजन के लिए ही लिखा जाता था। शेक्सपियर, बेन जानसन और कई अन्य गुमनाम नाटककार उस युग को अमर कर गये हैं। यद्यपि उनके ड्रामे मे भी गौण रूप से समाज का चित्र खीचा गया है, और भाव, भाषा तथा विचार की दृष्टि से वे बहुत ही बडा महत्व रखते हैं; लेकिन यह निर्विवाद है कि उनका लक्ष्य समाज का परिष्कार नहीं, वरन् ऊँची सोसाइटी का दिल बहलाव था। उनके कथानक अधिकतर प्राचीन काल के महान पुरुषो का जीवन या प्राचीन इतिहास की घटनाओ अथवा रोम और यूनान की पौराणिक गाथाओ से लिये जाते थे। शेक्सपियर आदि के नाटको मे भिन्न भिन्न मनोवृत्तियो के पात्रों का अत्यन्त सजीव चित्रण और बड़ा ही मार्मिक विश्लेषण अवश्य है। और उनके कितने ही चरित्र तो साहित्य मे ही नहीं साधारण जीवन मे भी अपना अमर प्रभाव डाल रहे है; लेकिन यथार्थ जीवन की आलोचना उनमे नहीं की गई है। उस समय ड्रामा का यह उद्देश्य नही समझा जाता था। तीन सदियो तक अग्रेजी ड्रामा इसी लीक पर चलता रहा। बीच मे शेरिडन ही एक ऐसा नाटककार पैदा हुआ, जिसके ड्रामे अधिकतर व्यग्यात्मक हैं, अन्यथा साहित्य का यह विभाग कुछ आगे न बढ सका। यकायक उन्नीसवी सदी की पिछली शताब्दी मे रग बदला और विज्ञान तथा

व्यवसाय ने समाज मे क्रान्ति पैदा कर दी उसका प्रतिबिम्ब एक मौलिक प्रकाश के साथ साहित्य मे उदय हो गया और नवीन निर्णयात्मक विचारो से भरे हुए नाटककारो का एक नक्षत्र-समूह साहित्य के आकाश मे चमक उठा जिसकी दीप्ति आज भी अग्रेजी साहित्य को प्रकाशमान कर रही है। नए ड्रामा का ध्येय अब बिलकुल बदल गया है। वह केवल मनोरजन की वस्तु नहीं है, वह केवल घड़ी दो घड़ी हसाना नहीं चाहता, वह समाज का परिष्कार करना चाहता है, उसकी रूढियो के बन्धनों को ढीला करना चाहता है और उसके प्रमाद या भ्रान्ति को दूर करने का इच्छुक है। समाज की किसी न किसी समस्या पर निष्पक्ष रूप से प्रकाश डालना ही उसका मुख्य काम है और वह इस दुस्तर कार्य को इस खूबी से पूरा कर रहा है कि नाटक की मनोरजकता मे कोई बाधा न पडे, फिर भी वह जीवन की सच्ची आलोचना पेश कर सके।

लेकिन विचित्र बात यह है कि नवीन ड्रामा के प्रवर्त्तकों मे एक भी अग्रेज नहीं है। इबसेन, माटरलिंक, और स्ट्रिंडबर्ग, स्वेडेन, बेलजियम और जर्मनी के निवासी है, पर अग्रेजी ड्रामा ने इन्हे इतना अपनाया है कि आज ये तीनों महान पुरुष अग्रेजी साहित्य के उपास्य बने हुए है। इबसेन को तो नए ड्रामा का जन्मदाता ही कहना चाहिए। वह पहला व्यक्ति था जिसने ड्रामा को समाज की आलोचना का साधन बनाया। नए समाज मे स्त्रियो का स्थान ऊँचा करने मे उसने जो कीर्ति प्राप्त की है, वह अन्य किसी साहित्यकार को नहीं मिल सकी। और माटरलिंक अपने ड्रामो मे उन सत्यो का पर्दा खोलने की चेष्टा करता है, जो वर्तमान जड़वाद की व्यापकता के कारण विस्मृत से हो गये हैं। उसके पात्र हाड़-मास के मनुष्य नहीं, मनोभावो या आध्यात्मिक अनुभूतियो ही के नाम होते है। अग्रेज नाटककारो मे बर्नार्ड शा का नाम सब से मशहूर है, यहाँ तक कि अग्रेजी-साहित्य मे उसी का डका बज रहा है। वह आयरलैंड का निवासी है, और व्यंग परिहास और चुटकियाँ लेने की जो प्रतिभा आयरिश बुद्धि की विशेषता है, वह उसमे कूट-कूट कर

भरी हुई है। अंग्रेजी समाज की कमजोरियो और कृत्रिमताओ का उसने ऐसा पर्दा फाश किया है कि अंग्रेजो जैसा स्वार्थान्ध राष्ट्र भी कुनमुना उठा है। सदियो की प्रभुता ने अंग्रेज जाति मे जो अहमन्यता, जो बनावटी शिष्टता, जो मक्कारी और ऐयारी, जो नीच स्वार्थपरता ठूँस दी है, वही शा के ड्रामो के विषय है। उसकी अमीरजादियो को देखिए, या धर्माचार्यों को, या राष्ट्र के उच्च पदाधिकारियो को, सब नकली जीवन का स्वाग भरे नजर आएँगे। उनका बहुरूप उतार कर उनको नग्न रूप मे खडा कर देना शा का काम है। समाज का कोई अग उसके कलम कुठार से नहीं बचा। वह आत्मा की तह मे प्रतिष्ठित रूढियों की भी परवाह नहीं करता। वह सत्य का उपासक है और असत्य को किसी भी रूप मे नहीं देख सकता।

गाल्जवर्दी भी उपन्यासकार और कवि होते हुए भी नाटककार के रूप मे अधिक सफल हुआ है। उसके ड्रामों में समाजवाद के सिद्धान्तो का ऐसा कलापूर्ण उपयोग किया गया है कि सामाजिक विषमता का चित्र आँखों के सामने आ जाता है, और पाठक उनसे बिना असर लिये नहीं रह सकता। उसके तीन नाटकों के अनुवाद हिन्दी मे हो चुके है, जिन्हे प्रयाग की हिन्दुस्तानी एकाडेमी ने प्रकाशित किया है। 'चादी की डिबिया' मे दिखाया गया है कि धन के बल पर न्याय की कितनी हत्या हो सकती है। 'न्याय' मे उसने एक ऐसे चरित्र की रचना की है, जो सहानुभूति और उदारता के भावो से प्रेरित होकर गबन करता है और अपना कर्मफल भोगने के बाद जब वह जेल से निकलता है, तब समाज उसे ठोकरे मारता है और अन्त मे वह विवश होकर आत्म-हत्या कर लेता है। 'हडताल' मे उसने मालिकों और मजदूरो की मना-वृत्तियो का बड़ा ही मर्मस्पर्शी चित्र खींचा है। उसने और भी कई ड्रामे लिखे है, पर ये तीनो रचनाएँ उसकी कीर्ति को अमर बनाने के लिए काफी हैं। मेसफील्ड, वार्कर, सिंज, सर जेम्स बैरी, पेटर आदि भी सफल नाटककार हैं। और सब के रंग अपनी अपनी विशेषताएँ लिये

हुए है। मेसफील्ड ने मानव-जीवन के काले दागो पर प्रकाश डालने मे खूब ख्याति पाई है। वह घोर वास्तविकतावादी है और मानव जीवन मे जो क्षुद्रता धूर्तता, और लम्पटता व्याप्त हो रही है, इसकी ओर से वह आँखें नही बन्द कर सकता। मनुष्य मे स्वभावतः कितनी पशुता है, इसका उसने बड़ी बारीकी से निरीक्षण किया है। पेटर के ड्रामो मे धर्म और नीति की प्रधानता है। वह नए युग की अश्रद्धा से दुखी है और ससार का कल्याण, धर्म और विश्वास के पुनर्जीवन मे ही समझता है। उसका अपना एक स्कूल है, जो ड्रामा मे काव्यमय प्रसगो को लाना आवश्यक समझता है, जिससे मनुष्य कुछ देर के लिए तो इस छल-कपट से भरे हुए ससार के जलवायु से निकलकर कविता के स्वच्छन्द लोक मे विचर सके। ड्रिंकवाटर, सिंज, आदि ड्रामेटिस्टो का भी यही रग है।

सबसे बडी नवीनता जो वर्त्तमान ड्रामा मे नजर आती है, वह उसका प्रेम चित्रण है। नवीन ड्रामा मे प्रेम का वह रूप बिलकुल बदल गया है, जब कि वह भीषण मानसिक रोग से कम न था और नाटककार की सारी चतुराई प्रेमी और प्रेमिका के संयोग मे ही खर्च हो जाती थी। प्रेमिका किसी न किसी कारण से प्रेमी के हाथ नहीं आ रही है, और प्रेमी है कि प्रेमिका से मिलने के लिए जमीन और आसमान के कुलाबे मिलाये डालता है। प्रेमिका की सहेलियाँ नाना विधि से उसकी विरहाग्नि को शान्त करने का प्रयत्न कर रही है और प्रेमी के मित्र-वृन्द इस दुर्गम समस्या को हल करने के लिए एडी-चोटी का जोर लगा रहे हैं। सारे ड्रामे मे मिलन-चेष्टा और उसके मार्ग मे आने वाली बाधाओ के सिवा और कुछ न होता था। नवीन ड्रामे ने प्रेम को व्यावहारिकता के पिंजड़े मे बन्द कर दिया है। रोमास के लिए जीवन मे गुञ्जायश नहीं रही और न साहित्य मे ही है। प्राचीन ड्रामा जीवन अनुभूतियो के अभाव को रोमास से पूरा किया करता था। नया ड्रामा अनुभूतियो से मालामाल है। फिर वह क्यो रोमास का आश्रय ले। मनुष्य को जिस वस्तु मे सबसे ज्यादा अनुराग है वह मनुष्य है, और खयाली, आकाश-

गामी मनुष्य नहीं, बल्कि अपना ही जैसा, साधारण बल और बुद्धि वाला मनुष्य। नवीन ड्रामा ने इस सत्य को समझा है और सफल हुआ है। आज के नायक और नायिकाओं मे बहुत कुछ परिवर्तन हो गया है। नवीन ड्रामा का नायक वीरता और शिष्टता का पुतला नही होता और न नायिका लज्जा और नम्रता और पवित्रता की देवी है। ड्रामेटिस्ट उसी चरित्र के नायक और नायिका की सृष्टि करता है, जिससे वह अपने विषय को स्वाभाविक और सजीव बनाने मे कामयाब हो सके। नवीन ड्रामा के पात्र केवल व्यक्ति नही होते, वरन् अपने समुदाय के प्रतिनिधि होते है और उस समुदाय की सारी भलाइया और बुराइया उनमे कुछ उग्र रूप मे प्रकट होती है। शा की नायिकाए आम तौर पर स्वच्छन्द और तेजमयी होती है। वे कठिन से कठिन परिस्थितियो मे भी हिम्मत नहीं छोडती। प्रेम अपने व्यावहारिक रूप मे बहुधा कामुकता का रूप धारण कर लेता है। नये ड्रामे मे प्रेम का यही रूप दर्शाया गया है। साराश यह कि आज का नायक कोई आदर्श चरित्र नही है और न नायिका ही। नायक केवल वह चरित्र है जिस पर ड्रामा का आधार हो।

नई ट्रेजेडी का रूप भी बहुत कुछ बदल गया है। अब वही ड्रामा ट्रेजेडी नही समझा जाता, जो दुखान्त हो। सुखान्त ड्रामा भी ट्रेजेडी हो सकता है, अगर उसमे ट्रेजेडी का भाव मौजूद हो अर्थात्—समाज के विभिन्न अगो का सघर्ष दिखाया गया हो। कितनी ही बाते जो दुःख-जनक समझी जाती थीं, इस समय साधारण समझी जाती है, यहाँ तक कि कभी कभी तो स्वाभाविक तक समझी जाने लगी है। फिर नाटककार ट्रेजेडी कहाँ से उत्पन्न करे। पुरुष का पत्नी त्याग ट्रेजेडी का एक अच्छा विषय था; लेकिन आज की हीरोइन, जाते समय पति के मुंह पर थूककर हंसती हुई चली जायगी और पतिदेव भी मुंह पोछ पाछकर अपनी नई प्रेमिका के तलवे सहलाते नजर आयेंगे। काम प्रसंगो का ऐसा वीभत्स चित्रण भी किसी के कान नहीं खडे करता, जिस पर पहले लोग आखें बन्द कर लेते थे। तीन अंक के ड्रामों का भी धीरे धीरे बहिष्कार हो

रहा है। आज ड्रामे तो एक ही अंक के होते हैं। उपन्यास की मूरत उसके लघुरूप कहानी से कुछ मिलती है। ड्रामे भी अब एक ऐक्ट के होने लगे है, जो दो ढाई घण्टो मे समाप्त हो जाते है।

रोमें रोलाँ की कला

रोमे-रोलाँ फ्रास के उन साहित्य-स्रष्टाओ मे है, जिन्होने साहित्य के प्रायः सभी अङ्गो को अपनी रचनाओ से अलकृत किया है और उपन्यास-साहित्य मे तो वह विक्टर ह्यूगो और टाल्सटाय के ही समकक्ष है। उनके प्रसिद्ध उपन्यास 'जान क्रिस्टोफ़र' के विषय मे तो हम कह सकते है कि एक कलाकार की आत्मा का इससे सुन्दर चित्र उपन्यास-साहित्य मे नही है। रोमे रोलाँ आत्मा और हृदय के रहस्यो को व्यक्त करने मे सिद्धहस्त हैं। उनके यहाँ विचित्र घटनाएँ नहीं होतीं, असाधारण और आदर्श चरित्र नहीं होते। उनके उपन्यास जीवन-कथा मात्र होते है, जिनमे हम नायक को भिन्न पर रोज़ आने वाली परिस्थितियो मे सुख और दुःख, मैत्री और द्वेष, निन्दा और प्रशसा, त्याग और स्वार्थ के बीच से गुजरते हुए देखते है—उसी तरह मानो हम स्वय उन्हीं दशाओं मे गुजर रहे हो। एक ही चरित्र नई नई दशाओ मे पडकर इस तरह स्वाभाविक रूप मे हमारे सामने आता है, कि हमको उसमे लेश-मात्र भी असगति नहीं मालूम होती। इसमे सन्देह नहीं कि Interpretation की कला मे उनका कोई सानी नही है। इस उपन्यास मे दो हजार से ऊपर पृष्ठ है। इसमे सैकड़ो ही गौण पात्र आये है, पर हरेक अपना अलग व्यक्तित्व रखते है। लेखक उनकी मनोवृत्तियो और मनोभावो की तह मे जाकर ऐसे-ऐसे चमकते रत्न निकाल लाता है, कि हम मुग्ध भी हो जाते है और चकित भी। आपने क्रिस्टोफर के मुख से एक जगह साहित्य के विषय मे ये विचार प्रकट किये हैं—

लिखता कि उससे पाठक का मनोरजन हो। उसकी कला का उद्देश्य केवल मनोरहस्य को समझाना है। जिस तरह वह स्वयं मनुष्यो को देखता है, मनुष्यो को समझाता है। वह आशावादी है, मनुष्य के भविष्य मे उसे अटल विश्वास है। ससार की सारी विपत्तियो का मूल यह है कि मनुष्य मनुष्य को समझता नही, या समझने की चेष्टा नही करता। इसीलिए द्वेष, विरोध और वैमनस्य है। वह यथार्थवादी अवश्य है; लेकिन उसका यथार्थवाद गन्दी नालियो मे नहीं रहता। उसकी उदार आत्मा किसी वस्तु को उसके कलुषित रूप मे नही देखती। वह किसी का उपहास नही करता। किसी का मज़ाक नहीं उडाता, किसी को हेय नहीं समझता। मानव हृदय उसके लिए समझने की वस्तु है। यह बात नहीं है कि उसे अन्याय देखकर क्रोध नही आता। उसने एक जगह लिखा है—मानव समाज की बुराइयो को दूर करने की चेष्टा प्राणीमात्र का कर्तव्य है। जिसे अन्याय को देखकर क्रोध नहीं आता, वह यही नहीं कि कलाकार नहीं है बल्कि वह मनुष्य भी नही है।

लेकिन अन्याय से सग्राम करने की उसकी नीति कुछ और है। वह मनुष्य को समझने की चेष्टा करता है, उस अन्याय भावना के उद्‌गम तक पहुँचना चाहता है, और इस तरह मानव-आत्मा मे प्रवाह लेकर उसकी सकीर्णताओ को दूर करके समन्वय करना ही उसकी कला है।

स्वातः सुखाय वाली मनोवृत्ति कला के विकास के लिए उत्तम समझी जाती है। हम प्रायः कहा करते है, कि अमुक व्यक्ति जो कुछ लिखता है, शौकिया लिखता है। वह अपनी कला पर अपनी जीविका का भार नही डालता। जिस कला पर जीविका का भार हो, वह इसलिए दूषित समझी जाती है कि कलाकार को जन-रुचि के पीछे चलना पडता है। मन और मस्तिष्क पर जोर डालकर कुछ लिखा तो क्या लिखा। कला तो वही है, जो स्वच्छन्द हो। रोमे रोलाँ का मत इसके विरुद्ध है। वह कहता है, जिस कला पर जीविका का भार नही, वह केवल

शौक़ है, केवल व्यसन, जो मनुष्य अपनी बेकारी का समय काटने के लिए किया करता है। यह केवल मनोरजन है, दिमाग की थकन मिटाने के लिए। जीवन की मुख्य वस्तु कुछ और है; मगर सच्चे कलाकार की कला ही उसका जीवन है। इसी मे वह अपनी सम्पूर्ण आत्मा से मरता है, लिपटता है। अभाव की उत्तेजना के बगैर कला मे तीव्रता कहाँ से आयेगी। व्यसन खिलौने बना सकता है। मूर्तियो का निर्माण करना उसी कलाकार का काम है, जिसकी सम्पूर्ण आत्मा उसके काम मे हो।

साकेतिकता (Suggestiveness) कला की जान समझी जाती है और उसका सदुपयोग किया जाय, तो उससे कला अधिक मर्मग्राही हो जाती है। पाठक यह नही चाहता कि जो बाते वह खुद आसानी से कल्पना कर सकता है, वह उसे बताई जायॅ, लेकिन रोमे रोलॉ की कला सब कुछ स्पष्ट करती चलती है। हॉ, उसका स्पष्टीकरण इस दरजे का होता है, कि पाठक को उसमे भी विचार और बुद्धि से काम लेने का काफी अवसर मिल जाता है। वह पाठको के सामने पहेलियॉ नहीं रखना चाहता। उसकी कला का उद्देश्य मनोवृत्तियो को समझना है। जैसा उसने खुद समझा है, उसे वह पाठक के सम्मुख रख देता है और पाठक को तुरन्त यह मालूम हो जाता है, कि लेखक ने उसका समय नष्ट नहीं किया।

और बीच-बीच मे जीवन और समाज और कला और आत्मा और अनेक विषयो पर रोमे रोलॉ जो भावनाऍ प्रकट करता है, उन पर जो प्रकाश डालता है, वह तो अद्भुत है, अनुपम है। हम उन की सूक्तियो को पढते है, तो विचारो मे डूब जाते है, अपने को भूल जाते हैं। और यह साहित्य का सबसे बड़ा आनन्द है। अगर यह सूक्तियाँ जमा की जायॅ, तो अच्छी खासी किताब बन सकती है। उनमे अनुभव का ऐसा गहरा रहस्य भरा हुआ है कि हमे लेखक की गहरी सूझ और विशाल अनुभवशीलता पर आश्चर्य होता है। इन सूक्तियो का उद्देश्य केवल अपना रचना-कौशल दिखाना नहीं है। वे मनोरहस्यो की

कुजियाँ है, जो एक वाक्य मे सारा अन्धकार, सारी उलझन दूर कर देती है—

'आनन्द से भी हमारा जी भर जाता है। जब स्वार्थमय आनन्द ही जीवन का मुख्य उद्देश्य हो जाता है, तो जीवन निरुद्देश्य हो जाता है।'

'सफलता में एक ही दैवी गुण है। वह मनुष्य मे कुछ करने की शक्ति पैदा कर देती है।'

'सुशीला स्त्रियो मे भी कभी-कभी एक भावना होती है, जो उन्हे अपनी शक्ति की परीक्षा लेने और उसके आगे जाने की प्रेरणा करती है।'

'आत्मा का सब से मधुर सगीत सौजन्य है।'

राष्ट्रभाषा का सवाल

राष्ट्रभाषा हिन्दी और उसकी समस्याएँ

प्यारे मित्रो,

आपने मुझे जो यह सम्मान दिया है, उसके लिए मै आपको सौ जबानो से धन्यवाद देना चाहता हूँ, क्योकि आपने मुझे वह चीज दी है, जिसके मै बिलकुल अयोग्य हूँ। न मैने हिन्दी-साहित्य पढा है, न उसका इतिहास पढा है, न उसके विकासक्रम के बारे मे ही कुछ जानता हूँ। ऐसा आदमी इतना मान पाकर फूला न समाय, तो वह आदमी नही है। नेवता पाकर मैने उसे तुरन्त स्वीकार किया। लोगो मे 'मन भाये और मुँड़िया हिलाये' की जो आदत होती है। वह खतरा मै न लेना चाहता था। यह मेरी ढिठाई है कि मै यहाँ वह काम करने खडा हुआ हूँ, जिसकी मुझ मे लियाकत नही है; लेकिन इस तरह की गदुमनुमाई का मै अकेला मुजरिम नही हूँ। मेरे भाई घर-घर मे, गली-गली मे मिलेगे। आपको तो अपने नेवते की लाज रखनी है। मै जो कुछ अनाप-शनाप बकूँ, उसकी खूब तारीफ कीजिये, उसमे जो अर्थ न हो वह पैदा कीजिये, उसमे अध्यात्म के और साहित्य के तत्त्व खोज निकालिए—जिन खोजा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ!

आपकी सभा ने पन्द्रह-सोलह साल के मुख्तसर से समय मे जो काम कर दिखलाया है, उस पर मै आपको बधाई देता हूँ, खासकर इसलिए कि आपने अपनी ही कोशिशो से यह नतीजा हासिल किया है। सरकारी इमदाद का मुँह नही ताका। यह आपके हौसलो की बुलन्दी की एक मिसाल है। अगर मै यह कहूँ कि आप भारत के दिमाग हैं, तो वह

मुबालगा न होगा। किसी अन्य प्रान्त मे इतना अच्छा सगठन हो सकता है और इतने अच्छे कार्यकर्त्ता मिल सकते है, इसमे मुझे सन्देह है। जिन दिमागो ने अँग्रेजी राज्य की जड़ जमाई, जिन्होने अँग्रेजी भाषा का सिक्का जमाया, जो अँग्रेजी आचार-विचार मे भारत मे अग्रगण्य थे और हैं, वे लोग राष्ट्र भाषा के उत्थान पर कमर बाँध ले, तो क्या कुछ नहीं कर सकते? और यह कितने बडे सौभाग्य की बात है कि जिन दिमागो ने एक दिन विदेशी भाषा मे निपुण होना अपना ध्येय बनाया था, वे आज राष्ट्र-भाषा का उद्धार करने पर कमर कसे नजर आते है और जहाँ से मानसिक पराधीनता की लहर उठी थी, वहाँ से राष्ट्रीयता की तरंगे उठ रही है। जिन लोगो ने अँग्रेजी लिखने और बोलने मे अँग्रेजो को भी मात कर दिया, यहाँ तक कि आज जहाँ कही देखिये अँग्रेजी पत्रों के सम्पादक इसी प्रान्त के विद्वान् मिलेगे, वे अगर चाहे तो हिन्दी बोलने और लिखने मे हिन्दी वालो को भी मात कर सकते है। और गत वर्ष यात्रीदल के नेताओ के भाषण सुनकर मुझे यह स्वीकार करना पड़ता है कि वह क्रिया शुरू हो गयी है। 'हिन्दी-प्रचारक' मे अधिकाश लेख आप लोगो ही के लिखे होते है और उनकी मॅजी हुई भाषा और सफाई और प्रवाह पर हममे से बहुतो को रश्क आता है। और यह तब है जब राष्ट्र-भाषा प्रेम अभी दिलो के ऊपरी भाग तक ही पहुँचा है, और आज भी यह प्रान्त अँग्रेजी भाषा के प्रभुत्व से मुक्त होना नही चाहता। जब यह प्रेम दिलो मे व्याप्त हो जायगा, उस वक्त उसकी गति कितनी तेज होगी, इसका कौन अनुमान कर सकता है? हमारी पराधीनता का सबसे अपमानजनक, सबसे व्यापक, सबसे कठोर अग अंग्रेजी भाषा का प्रभुत्व है। कही भी वह इतने नंगे रूप मे नही नजर आती। सभ्य जीवन के हर एक विभाग मे अँग्रेजी भाषा ही मानो हमारी छाती पर मूँग दल रही है। अगर आज इस प्रभुत्व को हम तोड़ सके, तो पराधीनता का आधा बोझ हमारी गर्दन से उतर जायगा। कैदी को बेड़ी से जितनी तकलीफ होती है, उतनी और किसी बात से नही होती। कैदखाना शायद उसके

घर से ज्यादा हवादार, साफ-सुथरा होगा। भोजन भी वहाँ शायद घर के भोजन से अच्छा और स्वादिष्ट मिलता हो। बाल-बच्चों से वह कभी-कभी स्वेच्छा से बरसों अलग रहता है। उसके दण्ड की याद दिलाने-वाली चीज यही बेडी है, जो उठते-बैठते, सोते-जागते, हँसते-बोलते, कभी उसका साथ नहीं छोडती, कभी उसे मिथ्या कल्पना भी करने नहीं देती, कि वह आजाद है। पैरो से कही ज्यादा उसका असर कैदी के दिल पर होता है, जो कभी उभरने नहीं पाता, कभी मन की मिठाई भी नही खाने पाता। अँग्रेजी भाषा हमारी पराधीनता की वही बेडी है, जिसने हमारे मन और बुद्धि को ऐसा जकड़ रखा है कि उनमे इच्छा भी नही रही। हमारा शिक्षित समाज इस बेड़ी को गले का हार समझने पर मजबूर है। यह उसकी रोटियो का सवाल है और अगर रोटियो के साथ कुछ सम्मान, कुछ गौरव, कुछ अधिकार भी मिल जाय, तो क्या कहना! प्रभुता की इच्छा तो प्राणी-मात्र मे होती है। अँग्रेजी भाषा ने इसका द्वार खोल दिया और हमारा शिक्षित समुदाय चिडियो के झुण्ड की तरह उस द्वार के अन्दर घुसकर जमीन पर बिखरे हुए दाने चुगने लगा और अब कितना ही फड़फडाये, उसे गुलशन की हवा नसीब नही। मजा यह है कि इस झुण्ड की फड़फडाहट बाहर निकलने के लिए नही, केवल जरा मनोरजन के लिए है। उसके पर निर्जीव हो गये, और उनमे उड़ने की शक्ति नही रही, वह भरोसा भी नही रहा कि यह दाने बाहर मिलेंगे भी या नहीं। अब तो वही कफ़स है, वही कुल्हिया है और वही सैयाद।

लेकिन मित्रो, विदेशी भाषा सीखकर अपने गरीब भाइयो पर रोब जमाने के दिन बड़ी तेजी से विदा होते जा रहे है। प्रतिभा का और बुद्धिबल का जो दुरुपयोग हम सदियो से करते आये हैं, जिसके बल पर हमने अपनी एक अमीरशाही स्थापित कर ली है, और अपने को साधारण जनता से अलग कर लिया है, वह अवस्था अब बदलती जा रही है। बुद्धि-बल ईश्वर की देन है, और उसका धर्म प्रजा पर धौस जमाना

नही, उसका खून चूसना नही, उसकी सेवा करना है। आज शिक्षित समुदाय पर से जनता का विश्वास उठ गया है। वह उसे उससे अधिक विदेशी समझती है, जितना विदेशियो को। क्या कोई आश्चर्य है कि यह समुदाय आज दोनो तरफ से ठोकरें खा रहा है? स्वामियो की ओर से इसलिये कि वह समझते है—मेरी चौखट के सिवा इनके लिए और कोई आश्रय नही, और जनता की ओर से इसलिए कि उनका इससे कोई आत्मीय सम्बन्ध नहीं। उनका रहन-सहन, उनकी बोल-चाल, उनकी वेश-भूषा, उनके विचार और व्यवहार सब जनता से अलग है और यह केवल इसलिए कि हम अंग्रेजी भाषा के गुलाम हो गये। मानो परिस्थिति ऐसी है कि बिना अंग्रेजी भाषा की उपासना किये काम नही चल सकता। लेकिन अब तो इतने दिनो के तजरबे के बाद मालूम हो जाना चाहिये कि इस नाव पर बैठकर हम पार नहीं लग सकते, फिर हम क्यो आज भी उसी से चिमटे हुए है? अभी गत वर्ष एक इटर-युनिवर्सिटी कमीशन बैठा था कि शिक्षा सम्बन्धी विषयो पर विचार करे। उसमे एक प्रस्ताव यह भी था कि शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी की जगह पर मातृ-भाषा क्यो न रखी जाय। बहुमत ने इस प्रस्ताव का विरोध किया, क्यो? इसलिए कि अंग्रेजी माध्यम के बगैर अंग्रेजी मे हमारे बच्चे कच्चे रह जायँगे और अच्छी अंग्रेजी लिखने और बोलने मे समर्थ न होगे। मगर इन डेढ़ सौ वर्षों की घोर तपस्या के बाद आज तक भारत ने एक भी ऐसा ग्रन्थ नही लिखा, जिसका इगलैण्ड मे उतना भी मान होता, जितना एक तीसरे दर्जे के अंग्रेजी लेखक का होता है। याद नहीं, पण्डित मदनमोहन मालवीयजी ने कहा था, या सर तेजबहादुर सप्रू ने, कि पचास साल तक अंग्रेजी से सिर मारने के बाद आज भी उन्हे अंग्रेजी मे बोलते वक्त यह सशय होता रहता है कि कहीं उनसे गलती तो नही हो गयी! हम आँखे फोड़-फोड़कर और कमर तोड-तोडकर और रक्त जला-जलाकर अंग्रेजी का अभ्यास करते है, उसके मुहावरे रटते है; लेकिन बडे से बडे भारती-साधक की रचना विद्यार्थियो की स्कूली एक्सर-

साइज से ज्यादा महत्त्व नही रखती। अभी दो-तीन दिन हुए पंजाब के ग्रेजुएटो की अंग्रेजी योग्यता पर वहाँ के परीक्षको ने यह आलोचना की है कि अधिकाश छात्रो मे अपने विचारो के प्रकट करने की शक्ति नही है, बहुत तो स्पेलिंग मे गलतियाँ करते है। और यह नतीजा है कम से कम बारह साल तक आँखे फोडने का। फिर भी हमारे लिए शिक्षा का अंग्रेजी माध्यम जरूरी है, यह हमारे विद्वानो की राय है। जापान, चीन और ईरान मे तो शिक्षा का माध्यम अँग्रेजी नहीं है। फिर भी वे सभ्यता की हरेक बात मे हमसे कोसो आगे है, लेकिन अँग्रेजी माध्यम के बगैर हमारी नाव डूब जायगी। हमारे मारवाड़ी भाई हमारे धन्यवाद के पात्र है कि कम से कम जहाँ तक व्यापार मे उनका सम्बन्ध है; उन्होंने कौमियत की रक्षा की है।

मित्रो, शायद मै अपने विषय से बहक गया हूँ, लेकिन मेरा आशय केवल यह है कि हमे मालूम हो जाय, हमारे सामने कितना महान् काम है। यह समझ लीजिये कि जिस दिन आप अंग्रेजी भाषा का प्रभुत्व तोड देंगे और अपनी एक कौमी भाषा बना लेंगे, उसी दिन आपको स्वराज्य के दर्शन हो जायँगे। मुझे याद नही आता कि कोई भी राष्ट्र विदेशी भाषा के बल पर स्वाधीनता प्राप्त कर सका हो। राष्ट्र की बुनियाद राष्ट्र की भाषा है। नदी, पहाड़ समुद्र और राष्ट्र नही बनाते। भाषा ही वह बन्धन है, जो चिरकाल तक राष्ट्र को एक सूत्र मे बाँधे रहती है, और उसका शीराजा बिखरने नही देती। जिस वक्त अंग्रेज आये, भारत की राष्ट्र-भावना लुप्त हो चुकी थी। यो कहिये कि उसमे राजनैतिक चेतना की गंध तक न रह गयी थी। अंग्रेजी राज ने आकर आपको एक राष्ट्र बना दिया। आज अंग्रेजी राज बिदा हो जाय—और एक न एक दिन तो यह होना ही है—तो फिर आपका यह राष्ट्र कहाँ जायगा? क्या यह बहुत सम्भव नही है कि एक-एक प्रान्त एक-एक राज्य हो जाय और फिर वही विच्छेद शुरू हो जाय? वर्तमान दशा मे तो हमारी कौमी चेतना को सजग और सजीव रखने के लिए अंग्रेजी राज को अमर

रहना चाहिए। अगर हम एक राष्ट्र बनकर अपने स्वराज्य के लिए उद्योग करना चाहते है तो हमे राष्ट्र भाषा का आश्रय लेना होगा और उसी राष्ट्र-भाषा के बख्तर से हम अपने राष्ट्र की रक्षा कर सकेंगे। आप उसी राष्ट्र भाषा के भिक्षु है, और इस नाते आप राष्ट्र का निर्माण कर रहे हैं। सोचिये, आप कितना महान् काम करने जा रहे है। आप कानूनी बाल की खाल निकालनेवाले वकील नही बना रहे है, आप शासन-मिल के मजदूर नही बना रहे हैं, आप एक बिखरी हुई कौम को मिला रहे हैं, आप हमारे बन्धुत्व की सीमाओं को फैला रहे है, भूले हुए भाइयो को गले मिला रहे हैं। इस काम की पवित्रता और गौरव को देखते हुए, कोई ऐसा कष्ट नही है, जिसका आप स्वागत न कर सके। यह धन का मार्ग नहीं है, सभव है कि कीर्ति का मार्ग भी न हो, लेकिन आपके आत्मिक सतोष के लिए इससे बेहतर काम नही हो सकता। यही आपके बलिदान का मूल्य है। मुझे आशा है, यह आदर्श हमेशा आपके सामने रहेगा। आदर्श का महत्व आप खूब समझते है। वह हमारे रुकते हुए कदम को आगे बढ़ाता है, हमारे दिलो से सशय और सन्देह की छाया को मिटाता है और कठिनाइयो मे हमे साहस देता है।

राष्ट्र-भाषा से हमारा क्या आशय है, इसके विषय मे भी मै आपसे दो शब्द कहूँगा। इसे हिन्दी कहिए, हिन्दुस्तानी कहिए, या उर्दू कहिए, चीज एक है। नाम से हमारी कोई बहस नही। ईश्वर भी वही है, जो खुदा है, और राष्ट्र-भाषा मे दोनो के लिए समान रूप से सम्मान का स्थान मिलना चाहिए। अगर हमारे देश मे ऐसे लोगो की काफी तादाद निकल आये, जो ईश्वर को 'गाड' कहते है, तो राष्ट्र-भाषा उनका भी स्वागत करेगी। जीवित भाषा तो जीवित देह की तरह बराबर बनती रहती है। शुद्ध हिन्दी तो निरर्थक शब्द है। जब भारत शुद्ध हिन्दू होता तो उसकी भाषा शुद्ध हिन्दी होती। जब तक यहाँ मुसलमान, ईसाई, पारसी, अफगानो सभी जातियाँ मौजूद है, हमारी भाषा भी

व्यापक रहेगी। अगर हिन्दी भाषा प्रान्तीय रहना चाहती है और केवल हिन्दुओ की भाषा रहना चाहती है, तब तो वह शुद्ध बनायी जा सकती है। उसका अङ्गभङ्ग करके उसका कायापलट करना होगा। प्रौढ से वह फिर शिशु बनेगी, यह असम्भव है, हास्यास्पद है। हमारे देखते-देखते सैकड़ो विदेशी शब्द भाषा मे आ घुसे, हम उन्हे रोक नही सकते। उनका आक्रमण रोकने की चेष्टा ही व्यर्थ है। वह भाषा के विकास मे बाधक होगी। वृक्षो को सीधा और सुडौल बनाने के लिए पौधों को एक थूनी का सहारा दिया जाता है। आप विद्वानो का ऐसा नियन्त्रण रख सकते है कि अश्लील, कुरुचिपूर्ण, कर्णकटु, भद्दे शब्द व्यवहार मे न आ सकें; पर यह नियंत्रण केवल पुस्तको पर हो सकता है। बोल-चाल पर किसी प्रकार का नियन्त्रण रखना मुश्किल होगा। मगर विद्वानो का भी अजीब दिमाग है। प्रयाग मे विद्वानो और पण्डितो की सभा 'हिन्दुस्तानी एकेडमी' मे तिमाही, सेहमाही और त्रैमासिक शब्दो पर बरसो से मुबाहमा हो रहा है और अभी तक फैसला नही हुआ। उर्दू के हामी 'सेहमाही' की ओर है, हिन्दी के हामी 'त्रैमासिक' की ओर, बेचारा 'तिमाही' जो सबसे सरल, आसानी से बोला और समझा जानेवाला शब्द है, उसका दोनो ही ओर से बहिष्कार हो रहा है। भाषा सुन्दरी को कोठरी मे बन्द करके आप उसका सतीत्व तो बचा सकते है, लेकिन उसके जीवन का मूल्य देकर। उसकी आत्मा स्वय इतनी बलवान बनाइये, कि वह अपने सतीत्व और स्वास्थ्य दोनो ही की रक्षा कर सके। बेशक हमे ऐसे ग्रामीण शब्दो को दूर रखना होगा, जो किसी खास इलाके मे बोले जाते है। हमारा आदर्श तो यह होना चाहिए, कि हमारी भाषा अधिक से अधिक आदमी समझ सकें। अगर इस आदर्श को हम अपने सामने रखे, तो लिखते समय भी हम शब्द-चातुरी के मोह मे न पड़ेगे। यह गलत है, कि फारसी शब्दो से भाषा कठिन हो जाती है। शुद्ध हिन्दी के ऐसे पदों के उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनका अर्थ निकालना पण्डितो के लिए भी लोहे

के चने चबाना है। वही शब्द सरल है, जो व्यवहार मे आ रहा है, इससे कोई बहस नही कि वह तुर्की है, या अरबी, या पुर्तगाली। उर्दू और हिन्दी मे क्यों इतना सौतिया डाह है, यह मेरी समझ मे नहीं आता। अगर एक समुदाय के लोगो को 'उर्दू' नाम प्रिय है तो उन्हे उसका इस्तेमाल करने दीजिए। जिन्हे 'हिन्दी' नाम से प्रेम है, वह हिन्दी ही कहे। इसमे लड़ाई काहे की? एक चीज के दो नाम देकर ख्वामख्वाह आपस मे लड़ना और उसे इतना महत्व दे देना कि वह राष्ट्र की एकता मे बाधक हो जाय, यह मनोवृत्ति रोगी और दुर्बल मन की है। मै अपने अनुभव से इतना अवश्य कह सकता हूँ, कि उर्दू को राष्ट्र-भाषा के स्टैण्डर्ड पर लाने मे हमारे मुसलमान भाई हिन्दुओ से कम इच्छुक नही हैं। मेरा मतलब उन हिन्दू-मुसलमानों से है, जो कौमियत के मनवाले है। कट्टर पन्थियो से मेरा कोई प्रयोजन नही। उर्दू का और मुसलिम संस्कृति का कैम्प आज अलीगढ है। वहाँ उर्दू और फारसी के प्रोफेसरो और अन्य विषयो के प्रोफेसरो से मेरी जो बातचीत हुई, उससे मुझे मालूम हुआ कि मौलवियाऊ भाषा से वे लोग भी उतने ही बेजार है, जितने पण्डिताऊ भाषा से, और कौमी भाषा-सघ आन्दोलन मे शरीक होने के लिए दिल से तैयार है। मै यह भी मान लेता हूँ कि मुसलमानो का एक गिरोह हिन्दुओ से अलग रहने मे ही अपना हित समझता है—हालाकि उस गिरोह का जोर और असर दिन-दिन कम होता जा रहा है—और वह अपनी भाषा को अरबी से गले तक ठूस देना चाहता है, तो हम उससे क्यो झगडा करे? क्या आप समझते है, ऐसी जटिल भाषा मुसलिम जनता मे भी प्रिय हो सकती है? कभी नही। मुसलमानो मे वही लेखक सर्वोपरि है, जो आमफ़हम भाषा लिखते है। मौलवियाऊ भाषा लिखनेवालो के लिए वहाँ भी स्थान नही है। मुसलमान दोस्तो से भी मुझे कुछ अर्ज करने का हक है क्योंकि मेरा सारा जीवन उर्दू की सेवकाई करते गुजरा है और भी मै जितनी उर्दू लिखता हूँ, उतनी हिन्दी नही लिखता, और कायस्थ होने

और बचपन से फारसी का अभ्यास करने के कारण उर्दू मेरे लिए जितनी स्वाभाविक है, उतनी हिन्दी नही है। मै पूछता हूँ, आप इसे हिन्दी की गर्दनजदनी समझते है? क्या आपको मालूम है, और नहीं है तो होना चाहिए, कि हिन्दी का सबसे पहला शायर, जिसने हिन्दी का साहित्यिक बीज बोया (व्यावहारिक बीज सदियो पहले पड चुका था) वह अमीर खुसरो था? क्या आपको मालूम है, कम से कम पाँच सौ मुसलमान शायरो ने हिन्दी को अपनी कविता से धनी बनाया है, जिनमे कई तो चोटी के शायर हैं? क्या आपको मालूम है, अकबर, जहाँगीर और औरगजेब तक हिन्दी की कविता का जौक रखते थे और औरगजेब ने ही आमो का नाम 'रसना-विलास' और 'सुधा रस' रखा था? क्या आपको मालूम है, आज भी हसरत और हफीज जालन्धरी जैसे कवि कभी-कभी हिन्दी मे तबाआजमाइ करते हैं? क्या आपको मालूम है हिन्दी मे हजारो शब्द, हजारों क्रियाएँ अरबी और फारसी से आयी है और ससुराल मे आकर घर की देवी हो गयी है? अगर यह मालूम होने पर भी आप हिन्दी को उर्दू से अलग समझते हैं, तो आप देश के साथ और अपने साथ बेइन्साफी करते है। उर्दू शब्द कब और कहाँ उत्पन्न हुआ, इसकी कोई तारीखी सनद नहीं मिलती। क्या आप समझते है वह 'बडा खराब आदमी है' और वह 'बडा दुर्जन मनुष्य है' दो अलग भाषाएँ हैं? हिन्दुओ को 'खराब' भी अच्छा लगता है और 'आदमी' तो अपना भाई ही है। फिर मुसलमान का 'दुर्जन' क्यो बुरा लगे, और 'मनुष्य' क्यो शत्रु-सा दीखे? हमारी कौमी भाषा मे दुर्जन और सज्जन, उम्दा और खराब दोनों के लिये स्थान है, वहाँ तक जहाँ तक कि उसकी सुबोधता मे बाधा नहीं पडती। इसके आगे हम न उर्दू के दोस्त है, न हिन्दी के। मजा यह कि 'हिन्दी' मुसलमानों का दिया हुआ नाम है और अभी पचास साल पहले तक जिसे आज उर्दू कहा जा रहा है, उसे मुसलमान भी हिन्दी कहते थे। और आज 'हिन्दी' मरदूद है। क्या आपको नजर नहीं आता, कि 'हिन्दी' एक स्वाभाविक नाम है? इगलैंडवाले

इंगलिश बोलते है, फ्रांसवाले फ्रेंच, जर्मनीवाले जर्मन, फारसवाले फारसी, तुर्कीवाले तुर्की, अरबवाले अरबी, फिर हिन्दवाले क्यों न हिन्दी बोलें ? उर्दू तो न काफिये मे आती है न रदीफ मे,न बहर मे न वजन मे। हाँ, हिन्दुस्तान का नाम उर्दूस्तान रखा जाय, तो बेशक यहाँ की कौमी भाषा उर्दू होगी। कौमी भाषा के उपासक नामो से बहस नहीं करते, वह तो असलियत से बहस करते है। क्यों दोनों भाषाओं का कोष एक नहीं हो जाता ? हमे दोनों ही भाषाओ मे एक आम लुगत (कोष) की जरूरत है, जिसमे आमफहम शब्द जमा कर दिये जायँ। हिन्दी मे तो मेरे मित्र पण्डित रामनरेश त्रिपाठी ने किसी हद तक यह जरूरत पूरी कर दी है। इस तरह का एक लुगत उर्दू मे भी होना चाहिए। शायद वह काम कौमी-भाषा-सघ बनने तक मुल्तवी रहेगा। मुझे अपने मुसलिम दोस्तों से यह शिकायत है कि वह हिन्दी के आमफहम शब्दो से भी परहेज करते है, हालाँकि हिन्दी मे आमफहम फारसी के शब्द आजादी मे व्यवहार किये जाते हैं।

लेकिन प्रश्न उठता है कि राष्ट्र-भाषा कहाँ तक हमारी जरूरतें पूरी कर सकती है ? उपन्यास, कहानियाँ, यात्रा-वृत्तान्त, समाचार-पत्रों के लेख, आलोचना अगर बहुत गूढ़ न हो, यह सब तो राष्ट्र-भाषा मे अभ्यास कर लेने से लिखे जा सकते है; लेकिन साहित्य में केवल इतने ही विषय तो नहीं है। दर्शन और विज्ञान की अनन्त शाखाएँ भी तो हैं जिनको आप राष्ट्र-भाषा मे नहीं ला सकते। साधारण बाते तो साधारण और सरल शब्दों मे लिखी जा सकती है। विवेचनात्मक विषयो मे यहाँ तक कि उपन्यास मे भी जब वह मनोवैज्ञानिक हो जाता है, आपको मजबूर होकर संस्कृत या अरबी-फारसी शब्दों की शरण लेनी पडती है। अगर हमारी राष्ट्र-भाषा सर्वाङ्गपूर्ण नहीं है, और उसमे आप हर एक विषय, हर एक भाव नहीं प्रकट कर सकते, तो उसमे यह बडा भारी दोष है, और यह हम सभी का कर्तव्य है कि हम राष्ट्र-भाषा को उसी तरह सर्वाङ्गपूर्ण बनावें, जैसी अन्य राष्ट्रो की सम्पन्न भाषाएँ है। यों तो अभी हिन्दी और उर्दू

अपने सार्थक रूप मे भी पूर्ण नही है। पूर्ण क्या, अधूरी भी नही है। जो राष्ट्र-भाषा लिखने का अनुभव रखते हैं, उन्हे स्वीकार करना पड़ेगा कि एक-एक भाव के लिए उन्हे कितना सिर-मगजन करना पडता है। सरल शब्द मिलते ही नहीं, मिलते है, तो भाषा मे खपते नही, भाषा का रूप बिगाड़ देते है, खीर मे नमक के डले की भाँति आकर मजा किरकिरा कर देते है। इसका कारण तो स्पष्ट ही है कि हमारी जनता मे भाषा का ज्ञान बहुत ही थोड़ा है और आमफहम शब्दो की सख्या बहुत ही कम है। जब तक जनता मे शिक्षा का अच्छा प्रचार नहीं हो जाता, उनकी व्यवहारिक शब्दावली बढ नही जाती, हम उनके समझने के लायक भाषा में तात्विक विवेचनाएँ नहीं कर सकते। हमारी हिन्दी भाषा ही अभी सौ बरस की नही हुई, राष्ट्र-भाषा तो अभी शैशवावस्था में है, और फिलहाल यदि हम उसमे सरल साहित्य ही लिख सकें, तो हमको सतुष्ट होना चाहिये। इसके साथ ही हमे राष्ट्र-भाषा का कोष बढाते रहना चाहिये। वही सस्कृत और अरबी फारसी के शब्द, जिन्हे देखकर आज हम भयभीत हो जाते हैं, जब अभ्यास मे आ जायँगे, तो उनका हौआपन जाता रहेगा। इस भाषा-विस्तार की क्रिया, धीरे-धीरे ही होगी। इसके साथ हमे विभिन्न प्रान्तीय भाषाओ के ऐसे विद्वानो का एक बोर्ड बनाना पडेगा, जो राष्ट्र-भाषा की जरूरत के कायल हैं। उस बोर्ड में उर्दू, हिन्दी, बँगला, मराठी, तामिल आदि सभी भाषाओ के प्रतिनिधि रखे जायँ और इस क्रिया को सुव्यवस्थित करने और उसकी गति को तेज करने का काम उनको सौपा जाय। अभी तक हमने अपने मनमाने ढग से इस आन्दोलन को चलाया है। औरो का सहयोग प्राप्त करने का यत्न नहीं किया। आपका यात्री मडल भी हिन्दी के विद्वानो तक ही रह गया। मुसलिम केन्द्रो मे जाकर मुसलिम विद्वानो की हमदर्दी हासिल करने की उसने कोशिश नहीं की? हमारे विद्वान् लोग तो अँगरेजी मे मस्त है। जनता के पैसे से दर्शन और विज्ञान और सारी दुनिया की विद्याएँ सीखकर भी वे जनता की तरफ से आँखे बन्द किये बैठे है।

उनकी दुनिया अलग है, उन्होने उपजीवियो की मनोवृत्ति पैदा कर ली है। काश उनमे भी राष्ट्रीय चेतना होती, काश वे भी जनता के प्रति अपने कर्त्तव्य को महसूस करते, तो शायद हमारा काम सरल हो जाता। जिस देश मे जन शिक्षा की सतह इतनी नीची हो, उसमे अगर कुछ लोग अँगरेजो मे अपनी विद्वत्ता का सेहरा बाँध ही लें, तो क्या? हम तो तब जानें, जब विद्वत्ता के साथ साथ दूसरों को भी ऊँची सतह पर उठाने का भाव मौजूद हो। भारत मे केवल अँग्रेजीदाँ ही नहीं रहते। हजार मे ९९९ आदमी अँग्रेजी का अक्षर भी नही जानते। जिस देश का दिमाग विदेशी भाषा मे सोचे और लिखे, उस देश को अगर संसार राष्ट्र नही समझता तो क्या वह अन्याय करता है? जब तक आपके पास राष्ट्र भाषा नहीं, आपका कोई राष्ट्र भी नहीं। दोनो में कारण और कार्य का सम्बन्ध है। राजनीति के माहिर अँग्रेज शासको को आप राष्ट्र की हाँक लगाकर धोखा नही दे सकते। वे आपकी पोल जानते हैं और आप के साथ वैसा ही व्यवहार करते है।

अब हमे यह विचार करना है कि राष्ट्र-भाषा का प्रचार कैसे बढ़े। अफसोस के साथ कहना पड़ता है कि हमारे नेताओ ने इस तरफ मुजरिमाना गफलत दिखायी है। वे अभी तक इसी भ्रम मे पडे हुए हैं कि यह कोई बहुत छोटा-मोटा विषय है, जो छोटे-मोटे आदमियो के करने का है, और उनके जैसे बडे-बडे आदमियों को इतनी कहाँ फुरसत कि वह झंझट मे पडें। उन्होंने अभी तक इस काम का महत्व नहीं समझा, नहीं तो शायद यह उनके प्रोग्राम की पहली पाँती मे होता। मेरे विचार में जब तक राष्ट्र मे इतना सगठन, इतना ऐक्य, इतना एकात्मपन न होगा कि वह एक भाषा में बात कर सके, तब तक उसमे यह शक्ति भी न होगी कि स्वराज्य प्राप्त कर सके। गैर-मुमकिन है। जो राष्ट्र के अगुआ हैं, जो एलेक्शनों मे खड़े होते है और फतह पाते हैं, उनसे मैं बड़े अदब के साथ गुजारिश करूँगा कि हजरत इस तरह के एक सौ एलेक्शन आयँगे और निकल जायँगे, आप कभी

हारेंगे, कभी जीतेंगे, लेकिन स्वराज्य आपसे उतनी ही दूर रहेगा, जितनी दूर स्वर्ग है। अँग्रेजी मे आप अपने मस्तिष्क का गूदा निकालकर रख दे लेकिन आपकी आवाज मे राष्ट्र का बल न होने के कारण कोई आपकी उतनी परवाह भी न करेगा, जितनी बच्चो के रोने की करता है। बच्चो के रोने पर खिलौने और मिठाइयाँ मिलती हैं। वह शायद आपको भी मिल जावे, जिसमे आपकी चिल्ल-पो से माता-पिता के काम मे विघ्न न पडे। इस काम को तुच्छ न समझिये। यही बुनियाद है, आपका अच्छे से अच्छा गारा, मसाला, सीमेट और बड़ी से बड़ी निर्माण-योग्यता जब तक यहाँ खर्च न होगी, आपकी इमारत न बनेगी। घरौदा शायद बन जाय, जो एक हवा के झोके मे उड़ जायगा। दरअसल अभी हमने जो कुछ किया है, वह नहींके .बराबर है। एक अच्छा-सा राष्ट्र-भाषा का विद्यालय तो हम खोल नहीं सके। हर साल सैकड़ो स्कूल खुलते हैं, जिनकी मुल्क को बिलकुल जरूरत नहीं। 'उसमानिया विश्व विद्यालय' काम की चीज है, अगर वह उर्दू और हिन्दी के बीच की खाई को और चौड़ी न बना दे। फिर भी मै उसे और विश्व-विद्यालयो पर तरजीह देता हूँ। कम से कम अँग्रेजी की गुलामी से तो उसने अपने को मुक्त कर लिया। और हमारे जितने विद्यालय है सभी गुलामी के कारखाने हैं जो लड़कों को स्वार्थ का, जरूरतो का, नुमाइश का, अकर्मण्यता का गुलाम बनाकर छोड देते हैं और लुत्फ यह है, कि यह तालीम भी मोतियो के मोल बिक रही है। इस शिक्षा की बाजारी कीमत शून्य के बराबर है, फिर भी हम क्यो भेड़ो की तरह उसके पीछे दौडे चले जा रहे है? अँग्रेजी शिक्षा हम शिष्टता के लिए नहीं ग्रहण करते। इसका उद्देश्य उदर है। शिष्टता के लिए हमे अँग्रेजी के सामने हाथ फैलाने की जरूरत नहीं। शिष्टता हमारी मीरास है, शिष्टता हमारी घुट्टी मे पडी है। हम तो कहेंगे, हम जरूरत से ज्यादा शिष्ट हैं। हमारी शिष्टता दुर्बलता की हद तक पहुँच गयी है। पश्चिमी शिष्टता मे जो कुछ है, वह उद्योग और पुरुषार्थ है। हमने यह चीजें तो उसमे से छाँटी

नही। छोटा क्या, लोफरपन, अहंकार, स्वार्थान्धता, बेशर्मी, शराब और दुर्व्यसन। एक मूर्ख किसान के पास जाइये। कितना नम्र, कितना मेहमाँनवाज़, कितना ईमानदार, किनना विश्वासी। उसी का भाई टामी है, पश्चिमी शिष्टता का सच्चा नमूना, शराबी, लोफर, गुण्डा, अक्खड़, हया से खाली। शिष्टता सीखने के लिए हमे अँग्रेजी की गुलामी करने की जरूरत नही। हमारे पास ऐसे विद्यालय होने चाहिए जहाँ ऊँची से ऊँची शिक्षा राष्ट्र-भाषा मे सुगमता से मिल सके। इस वक्त अगर ज्यादा नही तो एक ऐसा विद्यालय किसी केन्द्र-स्थान मे होना ही चाहिए। मगर हम आज भी वही भेड़चाल चले जा रहे है, वही स्कूल, वही पढ़ाई। कोई भला आदमी ऐसा पैदा नही होता, जो एक राष्ट्र-भाषा का विद्यालय खोले। मेरे सामने दक्खिन से बीसो विद्यार्थी भाषा पढ़ने के लिए काशी गये, पर वहाँ कोई प्रबन्ध नही। वही हाल अन्य स्थानो मे भी है। बेचारे इधर उधर ठोकरे खाकर लौट आये। अब कुछ विद्यार्थियो की शिक्षा का प्रबन्ध हुआ है, मगर जो काम हमे करना है, उसके देखते नही के बराबर है। प्रचार के और तरीको मे अच्छे ड्रामो का खेलना अच्छे नतीजे पैदा कर सकता है। इस विषय मे हमारा सिनेमा प्रशंसनीय काम कर रहा है, हालाँकि उसके द्वारा जो कुरुचि, जो गन्दापन, जो विलास-प्रेम, जो कुवासना फैलायी जा रही है, वह इस काम के महत्व को मिट्टी मे मिला देती है। अगर हम अच्छे भावपूर्ण ड्रामे स्टेज कर सके, तो उससे अवश्य प्रचार बढ़ेगा। हमे सच्चे मिशनरियो की जरूरत है और आपके ऊपर इस मिशन का दायित्व है। बड़ी मुश्किल यह है कि जब तक किसी वस्तु की उपयोगिता प्रत्यक्ष रूप से दिखाई न दे, कोई उसके पीछे क्यों अपना समय नष्ट करे? अगर हमारे नेता और विद्वान् जो राष्ट्र-भाषा के महत्व से बेखबर नहीं हो सकते, राष्ट्र-भाषा का व्यवहार कर सकते तो जनता मे उस भाषा की ओर विशेष आकर्षण होता। मगर, यहाँ तो अँग्रेजियत का नशा सवार है। प्रचार का एक और साधन है कि भारत के अँग्रेजी और अन्य भाषाओ के पत्रो को हम

इस पर अमादा कर सकें कि वे अपने पत्रों के एक दो कालम नियमित रूप से राष्ट्र-भाषा के लिए दे सकें। अगर हमारी प्रार्थना वे स्वीकार करें, तो उससे भी बहुत फ़ायदा हो सकता है। हम तो उस दिन का स्वप्न देख रहे है, जब राष्ट्र-भाषा-पूर्ण रूप से अँग्रेजी का स्थान ले लेगा, जब हमारे विद्वान् राष्ट्रभाषा मे अपनी रचनाएँ करेंगे, जब मद्रास और मैसूर, ढाका और पूना सभी स्थानो से राष्ट्र भाषा के उत्तम ग्रन्थ निकलेंगे, उत्तम पत्र प्रकाशित होंगे और भू-मण्डल की भाषाओ और साहित्यो की मजलिस मे हिन्दुस्तानी साहित्य और भाषा को भी गौरव स्थान मिलेगा, जब हम मँगनी के सुन्दर कलेवर मे नहीं, अपने फटे वस्त्रो मे ही सही, संसार साहित्य मे प्रवेश करेंगे। यह स्वप्न पूरा होगा या अन्धकार मे विलीन हो जायगा, इसका फैसला हमारी राष्ट्रभावना के हाथ है। अगर हमारे हृदय मे वह बीज पड़ गया है, हमारी सम्पूर्ण प्राण-शक्ति से फले-फूलेगा। अगर केवल जिह्वा तक ही है, तो सूख जायगा।

हिन्दी और उर्दू-साहित्य की विवेचना का यह अवसर नहीं है, और करना भी चाहे, तो समय नहीं। हमारा नया साहित्य अन्य प्रान्तीय साहित्यो की भाँति ही अभी सम्पन्न नहीं है। अगर सभी प्रांतो का साहित्य हिन्दी मे आ सके, तो शायद वह सम्पन्न कहा जा सके। बँगला साहित्य से तो हमने उसके प्रायः सारे रत्न ले लिये हैं और गुजराती, मराठी साहित्य से भी थोड़ी-बहुत सामग्री हमने ली है। तमिल, तेलगु आदि भाषाओ से अभी हम कुछ नही ले सके, पर आशा करते है कि शीघ्र ही हम इस खजाने पर हाथ बढ़ायेंगे, बशर्ते कि घर के भेदियो ने हमारी सहायता की। हमारा प्राचीन साहित्य सारे का सारा काव्यमय है, और यद्यपि उसमे शृङ्गार और भक्ति की मात्रा ही अधिक है, फिर भी बहुत कुछ पढ़ने योग्य है। भक्त कवियो की रचनाएँ देखनी है, तो तुलसी, सूर और मीरा आदि का अध्ययन कीजिये, ज्ञान मे कबीर अपना सानी नहीं रखता और शृङ्गार तो इतना अधिक है कि उसने एक प्रकार से हमारी पुरानी कविता को कलंकित कर दिया है। मगर, वह उन कवियों का

दोष नही, परिस्थितियो का दोष है जिनके अन्दर उन कवियो को रहना पड़ा। उस जमाने मे कला दरबारो के आश्रय से जीती थी और कलाविदो को अपने स्वामियो की रुचि का ही लिहाज करना पडता था। उर्दू कवियो का भी यही हाल है। यही उस जमाने का रग था। हमारे रईस लोग विलास मे मग्न थे, और प्रेम, विरह और वियोग के सिवा उन्हे कुछ न सूझता था। अगर कहीं जीवन का नकशा है भी, तो यह कि ससार चद-रोजा है, अनित्य है, और यह दुनिया दुःख का भण्डार है और इसे जितनी जल्दी छोड़ दो, उतना ही अच्छा। इस थोथे वैराग्य के सिवा और कुछ नहो। हाँ, सूक्तियो और सुभाषितों की दृष्टि से वह अमूल्य है। उर्दू की कविता आज भी उसी रग पर चली जा रही है, यद्यपि विषय मे थोड़ी-सी गहराई आ गयी है। हिन्दी मे नवीन ने प्राचीन से बिलकुल नाता तोड़ लिया है। और आज की हिन्दी कविता भावों की गहराई, आत्मव्यजना और अनुभूतियों के एतबार से प्राचीन कविता से कहीं बढ़ी हुई है। समय के प्रभाव ने उस पर भी अपना रंग जमाया है और वह प्रायः निराशावाद का रुदन है। यद्यपि कवि उस रुदन से दुःखी नही होता, बल्कि उसने अपने धैर्य और सतोष का दायरा इतना फैला दिया है कि वह बड़े से बडे दुःख और बाधा का स्वागत करता है। और चूँकि वह उन्हीं भावों को व्यक्त करता है, जो हम सभी के हृदयो मे मौजूद हैं, उसकी कविता में मर्म को स्पर्श करने की अतुल शक्ति है। यह जाहिर है कि अनुभूतियाँ सबके पास नहीं होतीं और जहाँ थोड़े-से कवि अपने दिल का दर्द कहते हैं, बहुत से केवल कल्पना के आधार पर चलते हैं।

अगर आप दुःख का विकास चाहते है, तो महादेवी, 'प्रसाद', पंत, सुभद्रा, 'लली', 'द्विज,' 'मिलिन्द', 'नवीन', प० माखनलाल चतुर्वेदी आदि कवियो की रचनाएँ पढ़िये। मैंने केवल उन कवियो के नाम दिये हैं, जो मुझे याद आये, नहीं तो और भी ऐसे कई कवि है, जिनकी रचनाएँ पढ़कर आप अपना दिल थाम लेंगे, दुःख के स्वर्ग मे पहुँच जायँगे।

काव्यो का आनन्द लेना चाहे ता मैथिलीशरण गुप्त और त्रिपाठीजी के काव्य पढिये। ग्राम्य-साहित्य का दफीना भी त्रिपाठीजी ने खाद कर आपके सामने रख दिया है। उसमे से जितने रत्न चाहे शौक से निकाल ले जाइये और देखिये उस देहाती गान मे कवित्व की कितनी माधुरी और कितना अनूठापन है। ड्रामे का शोक है, ता लक्ष्मीनारायण मिश्र के सामाजिक और क्रातिकारी नाटक पढ़िये। ऐतिहासिक और भावमय नाटकों की रुचि है, तो 'प्रसाद' जी की लगायी हुई पुष्पवाटियो की सैर कोजिए। उर्दू मे सबसे अच्छा नाटक जो मेरी नजर से गुजरा, वह 'ताज' का रचा हुआ 'अनारकली' है। हास्य-रस के पुजारी है, तो अन्नपूर्णानन्द की रचनाएँ पढिये। राष्ट्र-भाषा के सच्चे नमूने देखना चाहते है, तो जी० पी० श्रीवास्तव के हॅसानेवाले नाटको की सैर कीजिये। उर्दू मे हास्य-रस के कई ऊँचे दरजे के लेखक है और पडित रतननाथ दर तो इस रङ्ग मे कमाल कर गये है। उमर खैयाम का मजा हिन्दी मे लेना चाहे तो 'बच्चन' कवि की मधुशाला मे जा बैठिये। उसकी महक से ही आपको सरूर आ जायगा। गल्प-साहित्य मे 'प्रसाद', 'कौशिक', जैनेन्द्र, 'भारतीय', 'अज्ञेय', विशेश्वर आदि की रचनाओ मे आप वास्तविक जीवन की झलक देख सकते है। उर्दू के उपन्यासकारो में शरर, मिर्जा रुसवा, सज्जाद हुसेन, नजीर अहमद आदि प्रसिद्ध है, और उर्दू मे राष्ट्र-भाषा के सबसे अच्छे लेखक ख्वाजा हसन निजामी है, जिनकी कलम मे दिल को हिला देने की ताकत है। हिन्दी के उपन्यास-क्षेत्र मे अभी अच्छी चीजे कम आयी है, मगर लक्षण कह रहे है कि नयी पौध इस क्षेत्र मे नये उत्साह, नये दृष्टिकोण, नये सन्देश के साथ आ रही है। एक युग की इस तरक्की पर हमे लज्जित होने का कारण नही है।

मित्रो, मै आपका बहुत-सा समय ले चुका; लेकिन एक झगडे की बात बाकी है, जिसे उठाते हुए मुझे डर लग रहा है। इतनी देर तक उसे टालता रहा पर अब उसका भी कुछ समाधान करना लाजिम है।

वह राष्ट्रलिपि का विषय है। बोलने की भाषा तो किसी तरह एक हो सकती है, लेकिन लिपि कैसे एक हो ? हिन्दी और उर्दू लिपियो मे तो पूरब-पच्छिम का अन्तर है। मुसलमाना को अपनी फारसी लिपि उतनी ही प्यारा है, जितनी हिन्दुओ को अपनी नागरी लिपि। वह मुसलमान भी जो तमिल, बँगला या गुजराती लिखते-पढते है, उर्दू को धार्मिक श्रद्धा की दृष्टि से देखते है; क्योकि अरबी और फारसी लिपि मे वही अन्तर है, जो नागरी और बँगला मे है, बल्कि उससे भी कम। इस फारसी लिपि मे उनका प्राचीन गौरव, उनकी संस्कृति, उनका ऐतिहासिक महत्व सब कुछ भरा हुआ है। उसमे कुछ कचाइयॉ है, तो खूबियॉ भी है, जिनके बल पर वह अपनी हस्ती कायम रख सकी है। वह एक प्रकार का शार्टहैंड है। हमे अपनी राष्ट्र-भाषा और राष्ट्रलिपि का प्रचार मित्र-भाव से करना है, इसका पहला कदम यह है कि हम नागरी लिपि का संगठन करे। बॅगला, गुजराती, तमिल, आदि अगर नागरी लिपि स्वीकार कर लें, तो राष्ट्रीय लिपि का प्रश्न बहुत कुछ हल हो जायगा और कुछ नही तो केवल संख्या ही नागरी को प्रधानता दिला देगी। और हिन्दी लिपि का सीखना इतना आसान है और इस लिपि के द्वारा उनकी रचनाओ और पत्रो का प्रचार इतना ज्यादा हो सकता है कि मेरा अनुमान है, वे उसे आसानी से स्वीकार कर लेंगे। हम उर्दू लिपि को मिटाने तो नहीं जा रहे हैं। हम तो केवल यही चाहते है कि हमारी एक क़ौमी लिपि हो जाय। अगर सारा देश नागरी लिपि का हो जायगा, तो सम्भव है मुसलमान भी उस लिपि को क़ुबूल कर लें। राष्ट्रीय चेतना उन्हे बहुत दिन तक अलग न रहने देगी। क्या मुसलमानो मे यह स्वाभाविक इच्छा नहीं होगी कि उनके पत्र और उनकी पुस्तकें सारे भारतवर्ष मे पढ़ी जायॅ ? हम तो किसी लिपि को भी मिटाना नहीं चाहते। हम तो इतना ही चाहते हैं कि अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार नागरी मे हो। मुसलमानों मे राजनैतिक जागृति के साथ यह प्रश्न आप हल हो जायगा। यू० पी० मे यह आन्दोलन

भी हो रहा है कि स्कूलो मे उर्दू के छात्रो को हिन्दी और हिन्दी के छात्रो को उर्दू का इतना ज्ञान अनिवार्य कर दिया जाय कि वह मामूली पुस्तके पढ सके और खत लिख सके। अगर वह आन्दोलन सफल हुआ, जिसकी आशा है, तो प्रत्येक बालक हिन्दी और उर्दू दोनो ही लिपियो से परिचित हो जायगा। और जब भाषा एक हो जायगी तो हिन्दी अपनी पूर्णता के कारण सर्वमान्य हो जायगी और राष्ट्रीय योजनाओ मे उसका व्यवहार होने लगेगा। हमारा काम यही है कि जनता मे राष्ट्र-चेतना को इतना सजीव कर दे कि वह राष्ट्र हित के लिए छोटे-छोटे स्वार्थों को बलिदान करना सीखे। आपने इस काम का बीडा उठाया है, और मै जानता हूँ आपने क्षणिक आवेश मे आकर यह साहस नही किया है बल्कि आपका इस मिशन मे पूरा विश्वास है, और आप जानते है कि यह विश्वास कि हमारा पक्ष सत्य और न्याय का पक्ष है, आत्मा को कितना बलवान् बना देता है। समाज मे हमेशा ऐसे लोगो की कसरत होती है जो खाने-पीने, धन बटोरने और जिन्दगी के अन्य धन्धो मे लगे रहते है। यह समाज की देह है। उसके प्राण वह गिने-गिनाये मनुष्य है, जो उसकी रक्षा के लिए सदैव लड़ते रहते है—कभी अन्धविश्वास से, कभी मूर्खता से, कभी कुव्यवस्था से, कभी पराधीनता से। इन्हीं लडन्तियो के साहस और बुद्धि पर समाज का आधार है। आप इन्हीं सिपाहियो मे है। सिपाही लड़ता है, हारने-जीतने की उसे परवाह नहीं होती। उसके जीवन का ध्येय ही यह है कि वह बहुतो के लिए अपने को होम कर दे। आपको अपने सामने कठिनाइयो की फौजे खड़ी नजर आयेगी। बहुत सम्भव है, आपको उपेक्षा का शिकार होना पडे। लोग आपको सनकी और पागल भी कह सकते है। कहने दीजिए। अगर आपका संकल्प सत्य है, तो आप मे से हरेक एक-एक सेना का नायक हो जायगा। आपका जीवन ऐसा होना चाहिये कि लोगों को आप मे विश्वास और श्रद्धा हो। आप अपनी बिजली से दूसरों मे भी बिजली भर दें, हर एक

पन्थ की विजय उसके प्रचारको के आदर्श-जीवन पर ही निर्भर होती है। अयोग्य व्यक्तियो के हाथों मे ऊँचे-से-ऊँचा उद्देश्य भी निंद्य हो सकता है। मुझे विश्वास है, आप अपने को अयोग्य न बनने देंगे।

दक्षिण-भारत हिन्दी-प्रचार सभा, मद्रास के चतुर्थ उपाधि-वितरणोत्सव के अवसर पर, २६ दिसम्बर, १६३४ ई० को दिया गया दीक्षान्त भाषण।

कौमी भाषा के विषय में कुछ विचार

बहनो और भाइयो,

किसी कौम के जीवन और उसकी तरक्की मे भाषा का कितना बड़ा हाथ है, इसे हम सब जानते है, और उसकी तशरीह करना आप-जैसे विद्वानो की तौहीन करना है। यह दो पैरोवाला जीव उसी वक्त आदमी बना, जब उसने बोलना सीखा। यो तो सभी जीवधारियो की एक भाषा होती है। वह उसी भाषा मे अपनी खुशी और रज, अपना क्रोध और भय, अपनी हॉ या नहीं बतला दिया करता है। कितने ही जीव तो केवल इशारो मे ही अपने दिल का हाल और स्वभाव जाहिर करते है। यह दर्जा आदमी ही को हासिल है कि वह अपने मन के भाव और विचार सफाई और बारीकी से बयान करे। समाज की बुनियाद भाषा है। भाषा के बगैर किसी समाज का खयाल भी नहीं किया जा सकता। किसी स्थान की जलवायु, उसके नदी और पहाड़, उसकी सर्दी और गर्मी और अन्य मौसमी हालतें सब मिल-जुलकर वहॉ के जीवो मे एक विशेष आत्मा का विकास करती है, जो प्राणियो की शक्ल-सूरत, व्यवहार विचार और स्वभाव पर अपनी छाप लगा देती है और अपने को व्यक्त करने के लिए एक विशेष भाषा या बोली का निर्माण करती है। इस तरह हमारी भाषा का सीधा सम्बन्ध हमारी आत्मा से है। यो कह सकते हैं कि भाषा हमारी आत्मा का बाहरी रूप है। वह हमारी शक्ल-सूरत, हमारे रग रूप ही की भॉति हमारी आत्मा से निकलती है। उसके एक-एक अक्षर मे हमारी आत्मा का प्रकाश है। ज्यो-ज्यो हमारी आत्मा

का विकास होता है, हमारी भाषा भी प्रौढ़ और पुष्ट होती जाती है। आदि में जो लोग इशारों में बात करते थे, फिर अक्षरों में अपने भाव प्रकट करने लगे, वही लोग फिलासफी लिखते और शायरी करते हैं, और जब जमाना बदल जाता है और हम उस जगह से निकलकर दुनिया के दूसरे हिस्सों में आबाद हो जाते हैं, हमारा रङ्ग-रूप भी बदल जाता है। फिर भी भाषा सदियों तक हमारा साथ देती रहती है और जितने लोग हमजबान हैं, उनमें एक अपनापन, एक आत्मीयता, एक निकटता का भाव जगाती रहती है। मनुष्य में मेल मिलाव के जितने साधन हैं, उनमें सबसे मजबूत, असर डालनेवाला रिश्ता भाषा का है। राजनीतिक, व्यापारिक या धार्मिक नाते जल्द या देर में कमजोर पड़ सकते हैं और अक्सर टूट जाते हैं; लेकिन भाषा का रिश्ता समय की और दूसरी बिखेरनेवाली शक्तियों की परवा नहीं करता, और एक तरह से अमर हो जाता है।

लेकिन आदि में मनुष्यों के जैसे छोटे छोटे समूह होते हैं, वैसी ही छोटी-छोटी भाषाएँ भी होती हैं। अगर गौर से देखिये, तो बीस-पच्चीस कोस के अन्दर ही भाषाओं में कुछ-न-कुछ फर्क हो जाता है। कानपुर और झाँसी की सरहदें मिली हुई हैं। केवल एक नदी का अन्तर है; लेकिन नदी की उत्तर तरफ कानपुर में जो भाषा बोली जाती है, उसमें और नदी की दक्षिण तरफ की भाषा में साफ-साफ फर्क नजर आता है। सिर्फ प्रयाग में कम-से-कम दस तरह की भाषाएँ बोली जाती हैं। लेकिन जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता जाता है, यह स्थानीय भाषाएँ किसी सूबे की भाषा में जा मिलती हैं और सूबे की भाषा एक सार्वदेशिक भाषा का अङ्ग बन जाती है। हिन्दी ही में ब्रजभाषा, बुन्देलखण्डी, अवधी, मैथिल, भोजपुरी आदि भिन्न-भिन्न शाखाएँ हैं, लेकिन जैसे छोटी-छोटी धाराओं के मिल जाने से एक बड़ा दरिया बन जाता है, जिसमें मिलकर नदियाँ अपने को खो देती हैं, उसी तरह ये सभी प्रान्तीय भाषाएँ हिन्दी की मातहत हो गयी हैं और आज उत्तर भारत का एक देहाती भी हिन्दी समझता

है और अवसर पडने पर बोलता है । लेकिन हमारे मुल्की फैलाव के साथ हमे एक ऐसी भाषा की जरूरत पड गयी है, जो सारे हिन्दुस्तान मे समझी और बोली जाय, जिसे हम हिन्दी या गुजराती या मराठी या उर्दू न कहकर हिन्दुस्तानी भाषा कह सके, जिसे हिन्दुस्तान का पढा बेपढा आदमी उसी तरह समझे या बोले, जैसे हर एक अंग्रेज या जर्मन या फ्रासीसी फ्रेंच या जर्मन या अँग्रेजी भाषा बोलता और समझता है । हम सूबे की भाषाओ के विरोधी नहीं है। आप उनमे जितनी उन्नति कर सके, करें। लेकिन एक कौमी भाषा का मरकजी सहारा लिये बगैर आपके राष्ट्र की जड कभी मजबूत नहीं हो सकतीं। हमे रञ्ज के साथ कहना पड़ता है कि अब तक हमने कौमी भाषा की ओर जितना ध्यान देना चाहिये, उतना नही दिया है। हमारे पूज्य नेता सब-के सब ऐसी जबान की जरूरत को मानते हैं; लेकिन अभी तक उनका ध्यान खास तौर पर इस विषय की ओर नही आया। हम ऐसा राष्ट्र बनाने का स्वप्न देख रहे है, जिसकी बुनियाद इस वक्त सिर्फ अँग्रेजी हुकूमत है। इस बालू की बुनियाद पर हमारी कौमियत का मीनार खडा किया जा रहा है। और अगर हमने कौमियत की सबसे बड़ी शर्त, यानी कौमी जबान की तरफ से लापरवाही की, तो इसका अर्थ यह होगा कि आपकी कौम को जिन्दा रखने के लिए अँग्रेजी की मरकजी हुकूमत का कायम रहना लाजिम होगा वरना कोई मिलानेवाली ताकत न होने के कारण हम सब बिखर जायँगे और प्रान्तीयता जोर पकडकर राष्ट्र का गला घोट देगी, और जिस बिखरी हुई दशा मे हम अँग्रेजो के आने के पहले थे, उसी मे फिर लौट जायँगे।

इस लापरवाही का खास सबब है—अँग्रेजी जबान का बढता हुआ प्रचार और हममे आत्म-सम्मान की वह कमी, जो गुलामी की शर्म को नहीं महसूस करती। यह दुरुस्त है कि आज भारत की दफ्तरी जबान अँग्रेजी है और भारत की जनता पर शासन करने मे अंग्रेजो का हाथ बटाने के लिए हमारा अँगरेजी जानना जरूरी है। इल्म और हुनर और

खयालात मे जो इनकलाब होते रहते हैं, उनसे वाकिफ होने के लिए भी अँगरेजी जबान सीखना लाजिमी हो गया है। जाती शोहरत और तरक्की की सारी कुंजियाँ अँगरेजी के हाथ मे है और कोई भी उस खजाने को नाचीज नही समझ सकता। दुनिया की तहजीबी या सांस्कृतिक बिरादरी मे मिलने के लिए अङ्गरेजी ही हमारे लिए एक दरवाजा है और उसकी तरफ से हम आँख नही बन्द कर सकते। लेकिन हम दौलत और अख्तियार की दौड मे, और बेतहाशा दौड मे कौमी भाषा की जरूरत बिलकुल भूल गये और उस जरूरत की याद कौन दिलाता? आपस मे तो अँगरेजी का व्यवहार था ही, जनता से ज्यादा सरोकार था ही नही, और अपनी प्रान्तीय भाषा से सारी जरूरतें पूरी हो जाती थीं। कौमी भाषा का स्थान अँगरेजी ने ले लिया और उसी स्थान पर विराजमान है। अँगरेजी राजनीति का, व्यापार का, साम्राज्यवाद का, हमारे ऊपर जैसा आतङ्क है, उससे कहीं ज्यादा अँगरेजी भाषा का है। अँग्रेजी राजनीति से, व्यापार से, साम्राज्यवाद से तो आप बगावत करते है, लेकिन अँग्रेजी भाषा को आप गुलामी के तौक की तरह गर्दन मे डाले हुए हैं। अँग्रेजी राज्य की जगह आप स्वराज्य चाहते है। उनके व्यापार की जगह अपना व्यापार चाहते हैं। लेकिन अँग्रेजी भाषा का सिक्का हमारे दिलो पर बैठ गया है। उसके बगैर हमारा पढ़ा-लिखा समाज अनाथ हो जायगा। पुराने समय मे आर्य्य और अनार्य्य का भेद था, आज अँग्रेजीदाँ और गैर-अँग्रेजीदाँ का भेद है। अँग्रेजीदाँ आर्य्य है। उसके हाथ मे, अपने स्वामियो की कृपा-दृष्टि की बदौलत, कुछ अखतियार है, रोब है, सम्मान है। गैर-अँग्रेजीदाँ अनार्य्य है और उसका काम केवल आर्य्यों की सेवा टहल करना है और उनके भोग-विलास और भोजन के लिए सामग्री जुटाना है। यह आर्य्यवाद बड़ी तेजी से बढ़ रहा है, दिन-दूना रात चौगुना। अगर सौ-दो-सौ साल मे भी वह सारे भारत मे फैल जाता, तो हम कहते बला से, विदेशी जबान है, हमारा काम तो चलता है; लेकिन इधर तो

हजार-दो हजार साल मे भी उसके जनता मे फैलने का इमकान नहीं। दूसरे वह पढे-लिखो को जनता से अलग किये चली जा रही है। यहाँ तक कि इनमे एक दीवार खिच गयी है। साम्राज्यवादी जाति की भाषा मे कुछ तो उसके घमण्ड और दबदबे का असर होना ही चाहिए। हम अँग्रेजी पढकर अगर अपने को महकूम जाति का अग भूलकर हाकिम जाति का अग समझने लगते है, कुछ वही गरूर, कुछ वही अहम्मन्यता, 'हम चुनीं दीगरे नेस्त' वाला भाव, बहुतो मे कसदन, और थोडे आदमियो मे बेजाने पैदा हो जाता है, तो कोई ताज्जुब नहीं। हिन्दुस्तानी साहबो की अपनी बिरादरी हो गयी है, उनका रहन-सहन, चाल-ढाल, पहनावा, बर्ताव सब साधारण जनता से अलग है, साफ मालूम होता है कि यह कोई नयी उपज है। जो हमारा अँग्रेजी साहब करता है, वही हमारा हिन्दुस्तानी साहब करता है, करने पर मजबूर है। अँग्रेजियत ने उसे हिप्नोटाइज कर दिया है, उसमे बेहद उदारता आ गयी है, छूतछात से सोलहो आना नफरत हो गयी है, वह अँग्रेजी साहब की मेज का जूठन भी खा लेगा और उसे गुरु का प्रसाद समझ लेगा, लेकिन जनता उसकी उदारता मे स्थान नहीं पा सकती, उसे तो वह काला आदमी समझता है। हाँ, जब कभी अँग्रेजी साहबो से उसे ठोकर मिलती है, तो वह दौड़ा हुआ जनता के पास फरियाद करने जाता है, उसी जनता के पास, जिसे वह काला आदमी और अपना भोग्य समझता है। अगर अँग्रेजी स्वामी उसे नौकरियाँ देता जाय, उसे, उसके लडको, पोतो, सबको, तो उसे अपने हिन्दुस्तानी या गुलाम होने का कभी ख्याल भी न आयगा। मुश्किल तो यही है कि वहाँ भी गुञ्जायश नहीं है। ठोकरो पर-ठोकरो मिलती है, तब यह क्लास देश-भक्त बन जाता है और जनता का वकील और नेता बनकर उसका जोर लेकर अँग्रेज साहब का मुकाबिला करना चाहता है। तब उसे ऐसी भाषा की कमी महसूस होती है, जिसके द्वारा वह जनता तक पहुँच सके। कॉंग्रेस को जो थोड़ा-बहुत यश मिला, वह जनता को उसी भाषा मे अपील करने

से मिला। हिन्दुस्तान मे इस वक्त करीब चौबीस-पचीस करोड़ आदमी हिन्दुस्तानी भाषा समझ सकते है। यह क्या दु.ख की बात नही कि वे, जो भारतीय जनता की वकालत के दावेदार हैं, वह भाषा न बोल सकें और न समझ सके, जो पचीस करोड़ की भाषा है, और जो थोड़ी सी कोशिश से सारे भारतवर्ष की भाषा बन सकती है? लेकिन अँग्रेजी के चुने हुए शब्दो और मुहावरो और मॅजी हुई भाषा मे अपनी निपुणता और कुशलता दिखाने का रोग इतना बढा हुआ है कि हमारी कौमी सभाओ मे सारी कार्रवाई अँग्रेजी मे होती है, अँग्रेजी मे भाषण दिये जाते है, प्रस्ताव पेश किये जाते है, सारी लिखा-पढी अँग्रेजी मे होती है, उस सस्था मे भी, जो अपने को जनता की सस्था कहती है। यहाँ तक कि सोशलिस्ट और कम्यूनिस्ट भी, जो जनता के खासुलखास झंडे-बरदार है, सभी कार्रवाई अँग्रेजी मे करते हैं। जब हमारी कौमी सस्थाओ की यह हालत है, तो हम सरकारी महकमो और युनिवर्सिटियो से क्या शिकायत करे? मगर सौ वर्ष तक अँग्रेजी पढने-लिखने और बोलने के बाद भी एक हिन्दुस्तानी भी ऐसा नहीं निकला, जिसकी रचना का अँग्रेजी मे आदर हो। हम अँग्रेजी भाषा की खैरात खाने के इतने आदी हो गये है कि अब हमें हाथ पॉव हिलाते कष्ट होता है। हमारी मनोवृत्ति कुछ वैसी ही हो गयी है, जैसी अक्सर भिखमगो की होती है जो इतने आरामतलब हो जाते हैं कि मजदूरी मिलने पर भी नहीं करते। यह ठीक है कि कुदरत अपना काम कर रही है और जनता कौमी भाषा बनाने मे लगी हुई है। उसका अँग्रेजी न जानना, कौम की भाषा के लिए अनुकूल जलवायु दे रहा है। इधर सिनेमा के प्रचार ने भी इस समस्या को हल करना शुरू कर दिया है और ज्यादातर फिल्मे हिन्दुस्तानी भाषा मे ही निकल रही है। सभी ऐसी भाषा मे बोलना चाहते है, जिसे ज्यादा-से-ज्यादा आदमी समझ सके; लेकिन जब जनता अपने रहनुमाओ को अग्रेजी मे बोलते और लिखते देखती है, तो कौमी भाषा

से उसे जो हमदर्दी है, उसमे जोर का धक्का लगता है, उसे कुछ ऐसा खयाल होने लगता है कि कौमी भाषा कोई जरूरी चीज नही है। जब उसके नेता, जिनके कदमो के निशान पर वह चलता है, और जो जनता की रुचि बनाते है, कौमी भाषा को हकीर समझे—सिवाय इसके कि कभी-कभी श्रीमुख से उसकी तारीफ कर दिया करे—तो जनता से यह उम्मीद करना कि वह कौमी भाषा के मुर्दे को पूजती जायगी, उसे बेवकूफ समझना है। और जनता को आप जो चाहे इल्जाम दे लें, वह बेवकूफ नहीं है। आपने समझदारी का जो तराजू अपने दिल मे बना रखा है, उस पर वह चाहे पूरी न उतरे, लेकिन हम दावे से कह सकते है कि कितनी ही बातो मे वह आपसे और हमसे कही ज्यादा समझदार है। कौमी भाषा के प्रचार का एक बड़ा जरिया हमारे अखबार है, लेकिन अखबारो की सारी शक्ति नेताओ के भाषणो, व्याख्यानो और बयानो के अनुवाद करने मे ही खर्च हो जाती है, और चूँकि शिक्षित समाज ऐसे अखबार खरीदने और पढ़ने मे अपनी हतक समझता है, इसलिए ऐसे पत्रो का प्रचार बढने नही पाता और आमदनी कम होने के सबब वे पत्र को मनोरंजक नही बना सकते। वाइसराय या गवर्नर अँग्रेजी मे बोले, हमे कोई एतराज नही। लेकिन अपने ही भाइयो के खयालात तक पहुँचने के लिए हमे अँग्रेजी से अनुवाद करना पडे, यह हालत भारत जैसे गुलाम देश के सिवा और कही नजर नहीं आ सकती। और जबान की गुलामी ही असली गुलामी है। ऐसे भी देश ससार मे है, जिन्होने हुक्मरॉ जाति की भाषा को अपना लिया। लेकिन उन जातियो के पास न अपनी तहजीब या सभ्यता थी, और न अपना कोई इतिहास था, न अपनी कोई भाषा थी। वे उन बच्चो की तरह थे, जो थोडे ही दिनो मे अपनी मातृभाषा भूल जाते हैं और नयी भाषा मे बोलने लगते है। क्या हमारा शिक्षित भारत वैसा ही बालक है? ऐसा मानने की इच्छा नहीं होती, हालाँकि लक्षण सब वही है।

सवाल यह होता है कि जिस कौमी भाषा पर इतना जोर दिया

जा रहा है, उसका रूप क्या है ? हमे खेद है कि अभी तक हम उसकी कोई खास सूरत नहीं बना सके है, इसलिए कि जो लोग उसका रूप बना सकते थे, वे अँग्रेजी के पुजारी थे और है; मगर उसकी कसौटी यही है कि उसे ज्यादा-से-ज्यादा आदमी समझ सकें। हमारी कोई सूबेवाली भाषा इस कसौटी पर पूरी नही उतरती। सिर्फ हिन्दुस्तानी करती है; क्योंकि मेरे ख्याल मे हिन्दी और उर्दू दोनो एक जबान है। क्रिया और कर्त्ता, फेल और फाइल, जब एक हैं, तो उनके एक होने मे कोई सन्देह नहीं हो सकता। उर्दू वह हिन्दुस्तानी जबान है, जिसमे फारसी अरबी के लफ्ज ज्यादा हो, उसी तरह हिन्दी वह हिन्दुस्तानी है, जिसमे संस्कृत के शब्द ज्यादा हों। लेकिन जिस तरह अँग्रेजी मे चाहे लैटिन या ग्रीक शब्द अधिक हों या एंग्लोसेक्सन, दोनो ही अँग्रेजी है, उसी भाँति हिन्दुस्तानी भी अन्य भाषाओ के शब्दो के मिल जाने से कोई भिन्न भाषा नहीं हो जाती। साधारण बातचीत मे तो हम हिन्दुस्तानी का व्यवहार करते ही है। थोड़ी-सी कोशिश से हम इसका व्यवहार उन सभी कामो मे कर सकते है, जिनसे जनता का सम्बन्ध है। मै यहाँ एक उर्दू पत्र से दो-एक उदाहरण देकर अपना मतलब साफ कर देना चाहता हूँ—

'एक जमाना था, जब देहातो मे चरखा और चक्की के बगैर कोई घर खाली न था। चक्की चूल्हे से छुट्टी मिली, तो चरखे पर सूत कात लिया। औरतें चक्की पीसती थीं, इससे उनकी तन्दुरुस्ती बहुत अच्छी रहती थी, उनके बच्चे मजबूत और जफाकश होते थे। मगर अब तो अँग्रेजी तहजीब और मुआशरत ने सिर्फ शहरो में ही नहीं देहातो मे भी काया पलट दी है। हाथ की चक्की के बजाय अब मशीन का पिसा हुआ आटा इस्तेमाल किया जाता है। गाँवो मे चक्की न रही, तो चक्की पर गीत कौन गाये ? जो बहुत गरीब है, वे अब भी घर की चक्की का आटा इस्तेमाल करते है। चक्की पीसने का वक्त अमूमन रात का तीसरा पहर होता है। सरे शाम ही से पीसने के लिए

अनाज रख लिया जाता है और पिछले पहर से उठकर औरतें चक्की पीसने बैठ जाती है।'

इस पैराग्राफ को मै हिन्दुस्तानी का बहुत अच्छा नमूना समझता हूँ, जिसे समझने मे किसी भी हिन्दी समझनेवाले आदमी को जरा भी मुश्किल न पड़ेगी। अब मै उर्दू का एक दूसरा पैरा देता हूँ—

'उसकी वफा का जज़बा सिर्फ जिन्दा हस्तियो के लिए महदूद न था। वह ऐसा परवाना था, कि न सिर्फ जलती हुई शमा पर निसार होती थी, बल्कि बुझी हुई शमा पर भी खुद को क़ुरबान कर देता थी। अगर मौत का जालिम हाथ उसके रफ़ीक़ हयात को छीन लेता था तो वह बाकी ज़िन्दगी उसके नाम और उसकी याद मे बसर कर देती थी। एक की कहलाने और एक की हो जाने के बाद फिर दूसरे किसी शख्स का ख़याल भी उसके वफापरस्त दिल मे भूलकर भी न उठता था।'

अगर पहले जुमले को हम इस तरह लिखे—'वह सिर्फ जिन्दा आदमियो के साथ वफा न करती थी' और 'वफापरस्त' की जगह 'प्रेमी' 'रफीक हयात' की जगह 'जीवन साथी' का व्यवहार करें, तो वह साफ हिन्दुस्तानी बन जायगी और फिर उसके समझने मे किसी को दिक्कत न होगी। अब मै एक हिन्दी-पत्र से एक पैरा नकल करता हूँ—

'मशीनो के प्रयोग से आदमियो का बेकार होना और नये-नये आविष्कारो से बेकारी का बढ़ना, फिर बाजार की कमी, रही-सही कमी को और भी पूरा कर देती है। बेकारी की समस्या को अधिक भयकर रूप देने के लिए यही काफी था; लेकिन इसके ऊपर संसार में हर दसवें साल की जन-गणना देखने से मालूम हो रहा है कि जन-सख्या बढ़ती ही जा रही है। पूँजीवाद कुछ लोगो को धनी बनाकर उसके लिए सुख और विलास की नयी-नयी सामग्री जुटा सकता है।'

यह हिन्दी के एक मशहूर और माने हुए विद्वान् की शैली का नमूना है, इसमे 'प्रयोग' 'आविष्कार' 'समस्या' यह तीन शब्द ऐसे है, जो उर्दूदाँ लोगो को अपरिचित लगेंगे। बाकी सभी भाषाओ के बोलनेवालो की

समझ में आ सकते हैं। इसमे साबित हो रहा है कि हिन्दी या उर्दू मे कितने थोडे रद्दोबदल से उसे हम कौमी भाषा बना सकते हैं। हमे सिर्फ अपने शब्दो का कोष बढाना पड़ेगा और वह भी ज्यादा नहीं। एक दूसरे लेख की शैली का नमूना और लीजिए—

'अपने साथ रहनेवाले नागरिको के साथ हमारा जो रोज-राज का सम्बन्ध होता है, उसमे क्या आप समझते है कि वस्तुतः न्यायकर्त्ता, जेल क अधिकारी और पुलिस के कारण ही समाज-विरोधी कार्य्य बढने नही पाते ? न्यायकर्त्ता तो सदा खूँख्वार बना रहता है, क्योकि वह कानून का पागल है। अभियोग लगानेवाला, पुलिस को खबर देनेवाला, पुलिस का गुप्तचर, तथा इसी श्रेणी के आर लोग जो अदालतो के इर्द-गिर्द मँड़राया करते है और किसी प्रकार अपना पेट पालते हैं, क्या यह लोग व्यापक रूप से समाज मे दुर्नीति का प्रचार नहीं करते ? मामलो-मुकदमो की रिपोर्ट पढिये, पर्दे के अन्दर नजर डालिये, अपनी विश्ले-षक बुद्धि को अदालतो के बाहरी भाग तक ही परिमित न रखकर भीतर ले जाइये, तब आपको जो कुछ मालूम होगा, उससे आपका सिर बिल्कुल भन्ना उठेगा।'

यहाँ अगर हम 'समाज विरोधी' की जगह 'समाज को नुकसान पहुँ-चानेवाले' 'अभियोग' की जगह 'जुर्म', 'गुप्तचर' की जगह 'मुखबिर', 'श्रेणी' की जगह 'दर्जा', 'दुर्नीति' की जगह 'बुराई', 'विश्लेषक बुद्धि' की जगह 'परख', 'परिमित' की जगह 'बन्द' लिखे, तो वह सरल और सुबोध हो जाती है और हम उसे हिन्दुस्तानी कह सकते है।

इन उदाहरणो या मिसालो से जाहिर है कि हिन्दी-कोष मे उर्दू के और उर्दू-कोष मे हिन्दी के शब्द बढाने से काम चल सकता है। यह भी निवेदन कर देना चाहता हूँ कि थोड़े दिन पहले फारसी और उर्दू के दरबारी भाषा होने के सबब से फारसी के शब्द जितना रिवाज पा गये हैं उतना संस्कृत के शब्द नहीं। सस्कृत शब्दों के उच्चारण मे जो कठिनाई होती है, इसको हिन्दी के विद्वानो ने पहले ही देख लिया

और उन्होने हजारो सस्कृत शब्दों को इस तरह बदल दिया कि वह आसानी से बोले जा सके। ब्रजभाषा और अवधी मे इसकी बहुत-सी मिसाले मिलती है, जिन्हे यहाँ लाकर मै आपका समय नही खराब करना चाहता। इसलिए कौमी भाषा मे उनका वही रूप रखना पडेगा, और सस्कृत शब्दो की जगह, जिन्हे सर्व-साधारण नही समझते ऐसे फारसी शब्द रखने पड़ेंगे, जो विदेशी होकर भी इतने आम हो गये है कि उनको समझने मे जनता को कोई दिक्कत नही होती। 'अभियोग' का अर्थ वही समझ सकता है, जिसने सस्कृत पढ़ा हो। जुर्म का मतलब बे-पढे भी समझते है। 'गुप्तचर' की जगह 'मुखबिर', 'दुर्नीति', की जगह 'बुराई' ज्यादा सरल शब्द है। शुद्ध हिन्दी के भक्तो को मेरे इस बयान से मत-भेद हो सकता है। लेकिन अगर हम ऐसी कौमी जबान चाहते है, जिसे ज्यादा से-ज्यादा आदमी समझ सकें, तो हमारे लिए दूसरा रास्ता नहीं है, और यह कौन नही चाहता कि उसकी बात ज्यादा-से-ज्यादा लोग समझे, ज्यादा-से ज्यादा आदमियो के साथ उसका आत्मिक सम्बन्ध हो। हिन्दी मे एक फरीक ऐसा है, जो यह कहता है कि चूँकि हिन्दुस्तान की सभी सूबेवाली भाषाएँ सस्कृत से निकली है और उनमे संस्कृत के शब्द अधिक है इसलिए हिन्दी मे हम अधिक-से-अधिक सस्कृत के शब्द लाने चाहिये; ताकि अन्य प्रान्तो के लोग उसे आसानी से समझे। उर्दू की मिलावट करने से हिन्दी का कोई फायदा नहीं। उन मित्रो को मै यही जवाब देना चाहता हूँ कि ऐसा करने से दूसरे सूबो के लोग चाहे आपकी भाषा समझ ले, लेकिन खुद हिन्दी बोलनेवाले न समझेंगे। क्योकि, साधारण हिन्दी बोलनेवाला आदमी शुद्ध सस्कृत शब्दों का जितना व्यवहार करता है, उससे कही ज्यादा फारसी शब्दो का। हम इस सत्य की ओर से आँखे नहीं बन्द कर सकते, और फिर इसकी जरूरत ही क्या है, कि हम भाषा को पवित्रता की धुन मे तोड-मरोड डाले। यह जरूर सच है कि बोलने की भाषा और लिखने की भाषा मे कुछ न-कुछ अन्तर होता है, लेकिन लिखित भाषा सदैव बोल-चाल की भाषा से

मिलते-जुलते रहने की कोशिश किया करती है। लिखित-भाषा की खूबी यही है कि वह बोल चाल की भाषा से मिले। इस आदर्श से वह जितनी ही दूर जाती है, उतना ही अस्वाभाविक हो जाती है। बोल-चाल की भाषा भी अवसर और परिस्थिति के अनुसार बदलती रहती है। विद्वानों के समाज मे जो भाषा बोली जाती है, वह बाजार की भाषा से अलग होती है। शिष्ट भाषा की कुछ-न-कुछ मर्यादा तो होनी ही चाहिए, लेकिन इतनी नही कि उससे भाषा के प्रचार मे बाधा पडे। फारसी शब्दो मे शीन काफ की बड़ी कैद है, लेकिन कौमी भाषा मे यह कैद ढीली करनी पड़ेगी। पञ्जाब के बडे-बडे विद्वान भी 'क' की जगह 'क' ही का व्यवहार करते है। मेरे खयाल मे तो भाषा के लिए सबसे महत्व की चीज है कि उसे ज्यादा-से-ज्यादा आदमी, चाहे वे किसी प्रान्त के रहने वाले हो, समझें, बोले, और लिखे। ऐसी भाषा न पडिताऊ होगी और न मौलवियो की। उसका स्थान इन दोनो के बीच मे है। यह जाहिर है कि अभी इस तरह की भाषा मे इबारत की चुस्ती और शब्दो के विन्यास की बहुत थोडी गुञ्जायश है। और जिसे हिन्दी या उर्दू पर अधिकार है, उसके लिए चुस्त और सजीली भाषा लिखने का लालच बड़ा जोरदार होता है। लेखक केवल अपने मन का भाव नहीं प्रकट करना चाहता; बल्कि उसे बना-सँवारकर रखना चाहता है। बल्कि यो कहना चाहिये कि वह लिखता है रसिको के लिए, साधारण जनता के लिए नहीं। उसी तरह, जैसे कलावत राग-रागिनियाँ गाते समय केवल संगीत के आचार्यों ही से दाद चाहता है, सुननेवालो मे कितने अनाडी बैठे है, इसकी उसे कुछ भी परवाह नहीं होती। अगर हमे राष्ट्र-भाषा का प्रचार करना है, तो हमे इस लालच को दबाना पडेगा। हमे इबारत की चुस्ती पर नही, अपनी भाषा को सलीस बनाने पर खास तौर से ध्यान रखना होगा। इस वक्त ऐसी भाषा कानो और आँखों को खटकेगी जरूर, कहीं गगा-मदार का जोड नजर आयेगा, कही एक उर्दू शब्द हिन्दी के बीच मे इस तरह डटा हुआ मालूम होगा, जैसे कौओं के बीच मे हंस आ

गया हो। कही उर्दू के बीच मे हिन्दी शब्द हलुए मे नमक के डले की तरह मजा बिगाड देगे। पडितजी भी खिलखिलयेगे और मौलवी साहब भी नाक सिकोडेगे और चारो तरफ से शोर मचेगा कि हमारी भाषा का गला रेता जा रहा है, कुन्द छुरी से उसे ज़िबह किया जा रहा है। उर्दू को मिटाने के लिये यह साजिश की गयी है; हिन्दी को डुबाने के लिए यह माया रची गयी है! लेकिन हमे इन बातों को कलेजा मजबूत करके सहना पडेगा। राष्ट्र-भाषा केवल रईसो और अमीरो की भाषा नही हो सकती। उसे किसानो और मजदूरों की भी बनना पडेगा। जैसे रईसो और अमीरो ही से राष्ट्र नहीं बनता, उसी तरह उनकी गोद मे पली हुई भाषा राष्ट्र की भाषा नहीं हो सकती। यह मानते हुए कि सभाओ मे बैठकर हम राष्ट्र-भाषा की तामीर नही कर सकते, राष्ट्र-भाषा तो बाजारो मे और गलियों मे बनती है; लेकिन सभाओ मे बैठकर हम उसकी चाल को तेज जरूर कर सकते हैं। इधर तो हम राष्ट्र-राष्ट्र का गुल मचाते हैं, उधर अपनी-अपनी जबानो के दरवाजो पर सगीनें लिये खडे रहते है कि कोई उसकी तरफ ऑख न उठा सके। हिन्दी मे हम उर्दू शब्दों को बिला तकल्लुफ स्थान देते हैं, लेकिन उर्दू के लेखक सस्कृत के मामूली शब्दो को भी अन्दर नहीं आने देते। वह चुन-चुनकर हिन्दी की जगह फारसी और अरबी के शब्दो का इस्तेमाल करते है। जरा जरा से मुजक्कर और मुअन्नस के भेद पर तूफान मच जाया करता है। उर्दू जबान सिरात का पुल बनकर रह गयी है, जिससे जरा इधर-उधर हुए और जहन्नुम मे पहुँचे। जहाँ राष्ट्र-भाषा के प्रचार करने का प्रयत्न हो रहा है, वहाँ सब से बडी दिक्कत इसी लिङ्ग-भेद के कारण पैदा हो रही है। हमे उर्दू के मौलवियो और हिन्दी के पण्डितो से उम्मीद नहीं कि वे इन फन्दों को कुछ नर्म करेंगे। यह काम हिन्दुस्तानी भाषा का होगा कि वह जहाँ तक हो सके, निरर्थक कैदो से आजाद हो। ऑख क्यो स्त्री लिङ्ग है और कान क्यो पुल्लिङ्ग है, इसका कोई सन्तोष के लायक जवाब नहीं दिया जा सकता।

सकते है। जब तक मुल्की दिमाग अँग्रेजो की गुलामी मे खुश होता रहेगा, उस वक्त तक भारत सच्चे मानी मे राष्ट्र न बन सकेगा। यह भी जाहिर है कि एक प्रान्त या एक भाषा के बोलनेवाले कौमी भाषा नहीं बना सकते। कौमी भाषा तो तभी बनेगी, जब सभी प्रान्तो के दिमागदार लोग उसमे सहयोग देंगे। सम्भव है कि दस-पाँच साल भाषा का कोई रूप स्थिर न हो, कोई पूरब जाय कोई पश्चिम, लेकिन कुछ दिनो के बाद तूफान शान्त हो जायगा और जहाँ केवल धूल और अन्धकार और गुबार था, वहाँ हरा-भरा साफ सुथरा मैदान निकल आयेगा। जिनके कलम मे मुर्दो को जिलाने और सोतो को जगाने की ताकत है, वे सब वहाँ विचरते हुए नजर आयेंगे। तब हमे टैगोर, मुशी, देसाई और जोशी की कृतियो से आनन्द और लाभ उठाने के लिए मराठी और बँगला या गुजराती न सीखनी पडेगी। कौमी भाषा के साथ कौमी साहित्य का उदय होगा और हिन्दुस्तानी भी दूसरी सम्पन्न और सरसब्ज भाषाओ की मजलिस मे बैठेगी। हमारा साहित्य प्रान्तीय न होकर कौमी हो जायगा। इस अँग्रेजी प्रभुत्व की यह बरकत है कि आज एडगर वैलेस, गाई बूथबी जैसे लेखको से हम जितने मानूस है, उसका शताश भी अपने शरत और मुन्शी और 'प्रसाद' की रचनाओ से नही। डॉक्टर टैगोर भी अँग्रेजी मे न लिखते, तो शायद बगाली दायरे के बाहर बहुत कम आदमी उनसे वाकिफ होते। मगर कितने खेद की बात है कि महात्मा गाधी के सिवा किसी भी दिमाग ने कौमी भाषा की जरूरत नहीं समझी और उस पर जोर नहीं दिया। यह काम कौमी सभाओ का है कि वह कौमी भाषा के प्रचार के लिए इनाम और तमगे दे, उसके लिए विद्यालय खोलें, पत्र निकालें और जनता मे प्रोपेगैंडा करें। राष्ट्र के रूप मे संघटित हुए बगैर हमारा दुनिया मे जिन्दा रहना मुश्किल है। यकीन के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता कि इस मंजिल पर पहुँचने की शाही सड़क कौन-सी है। मगर दूसरी कौमो के साथ कौमी भाषा को देखकर सिद्ध होता है कि कौमियत के लिए लाजिमी चीजो मे भाषा भी है और जिसे एक राष्ट्र बनाना है, उसे

एक कौमी भाषा भी बनानी पडेगी। इस हकीकत को हम मानते हैं; लेकिन सिर्फ ख्याल मे। उस पर अमल करने का हममे साहस नहीं है। यह काम इतना बडा और मार्के का है कि इसके लिए एक ऑल इण्डिया सस्था का होना जरूरी है, जो इसके महत्व को समझती हुई इसके प्रचार के उपाय सोचे और करे।

भाषा और लिपि का सम्बन्ध इतना करीबी है कि आप एक को लेकर दूसरे को छोड़ नहीं सकते। संस्कृत से निकली हुई जितनी भाषाएँ है, उनको एक लिपि मे लिखने मे कोई बाधा नही है, थोड़ा-सा प्रातीय सकोच चाहे हो। पहले भी स्व० बाबू शारदाचरण मित्र ने एक लिपि-विस्तार-परिषद् बनाई थी और कुछ दिनो तक एक पत्र निकालकर वह आन्दोलन चलाते रहे, लेकिन उससे कोई खास फायदा न हुआ। केवल लिपि एक हो जाने से भाषाओ का अन्तर कम नहीं होता और हिंदी लिपि मे मराठी समझना उतना ही मुश्किल है, जितना मराठी लिपि मे। प्रान्तीय भाषाओ को हम प्रान्तीय लिपियो मे लिखते जायँ, कोई एतराज नही; लेकिन हिन्दुस्तानी भाषा के लिए एक लिपि रखना ही सुविधा की बात है, इसलिए नहीं कि हमे हिन्दी लिपि से खास मोह है बल्कि इसलिए कि हिन्दी लिपि का प्रचार बहुत ज्यादा है और उसके सीखने मे भी किसी को दिक्कत नहीं हो सकती। लेकिन उर्दू लिपि हिंदी से बिलकुल जुदा है और जो लोग उर्दू लिपि के आदी है, उन्हे हिंदी लिपि का व्यवहार करने के लिए मजबूर नहीं किया जा सकता। अगर जबान एक हो जाय, तो लिपि का भेद कोई महत्व नहीं रखता। अगर उर्दूदॉ आदमी को मालूम हो जाय कि केवल हिंदी अक्षर सीखकर वह डा० टैगोर या महात्मा गाधी के विचारो को पढ़ सकता है, तो वह हिंदी सीख लेगा। यू० पी० के प्राइमरी स्कूलो मे तो दोनो लिपियों की शिक्षा दी जाती है। हर एक बालक उर्दू और हिन्दी की वर्णमाला जानता है। ज़हा तक हिन्दी लिपि पढ़ने की बात है, किसी उर्दूदॉ को एतराज न होगा। स्कूलो मे हफ्ते मे एक घण्टा दे देने से हिन्दीवालो को उर्दू

और उर्दूवालो को हिन्दी लिपि सिखाई जा सकती है। लिखने के विषय मे यह प्रश्न इतना सरल नही है। उर्दू मे स्वर आदि के ऐब होने पर भी उसमे गति का एक ऐसा गुण है कि उर्दू जाननेवाले उसे नहीं छोड़ सकते और जिन लोगो का इतिहास और सस्कृति और गौरव उर्दू लिपि मे सुरक्षित है, उनसे मौजूदा हालत मे उसके छोडने की आशा भी नही की जा सकती। उर्दूदाँ लोग हिन्दी जितनी आसानी से सीख सकते है, इसका लाजिम नतीजा यह होगा कि ज्यादातर लोग लिपि सीख जायँगे और राष्ट्रभाषा का प्रचार दिन-दिन वढता जायगा। लिपि का फैसला समय करेगा। जो ज्यादा जानदार है, वह आगे आयेगी। दूसरी पीछे रह जायेगी। लिपि के भेद का विषय छेडना घोड़े के आगे गाड़ी को रखना होगा। हमे इस शर्त को मानकर चलना है कि हिन्दी और उर्दू दोनो ही राष्ट्र-लिपियाँ है और हमे अख्तियार है, हम चाहे जिस लिपि मे उसका व्यवहार करे। हमारी सुविधा, हमारी मनोवृत्ति, और हमारे संस्कार इसका फैसला करेगे।*

---

*बम्बई के 'राष्ट्र-भाषा-सम्मेलन' मे स्वागताध्यक्ष की हैसियत से २७-१०-३४ को दिया गया भाषण।

हिन्दी-उर्दू की एकता

सज्जनो, आर्य समाज ने इस सम्मेलन का नाम आर्य भाषा सम्मेलन शायद इसलिए रखा है कि यह समाज के अन्तर्गत उन भाषाओं का सम्मेलन है, जिनमे आर्यसमाज ने धर्म का प्रचार किया है। और उनमे उर्दू और हिन्दी दोनो का दर्जा बराबर है। मै तो आर्यसमाज को जितनी धार्मिक संस्था समझता हूँ उतनी तहजीबी (सांस्कृतिक) संस्था भी समझता हूँ। बल्कि आप क्षमा करे तो मै कहूँगा कि उसके तहजीबी कारनामे उसके धार्मिक कारनामो से ज्यादा प्रसिद्ध और रौशन है। आर्यसमाज ने साबित कर दिया है कि सेवा ही किसी धर्म के सजीव होने का लक्षण है। सेवा का ऐसा कौन सा क्षेत्र है जिसमे उसकी कीर्ति की ध्वजा न उड रही हो। कौमी जिन्दगी की समस्याओ को हल करने मे उसने जिस दूरदेशी का सबूत दिया है, उस पर हम गर्व कर सकते है। हरिजनो के उद्धार मे सबसे पहले आर्यसमाज ने कदम उठाया। लड-कियो की शिक्षा की जरूरत को सबसे पहले उसने समझा। वर्ण-व्यवस्था को जन्मगत न मानकर कर्मगत सिद्ध करने का सेहरा उसके सिर है। जाति-भेद-भाव और खान-पान के छूत-छात और चौके-चूल्हे की बाधाओं को मिटाने का गौरव उसी को प्राप्त है। यह ठीक है कि ब्रह्मसमाज ने इस दिशा मे पहले कदम रखा, पर वह थोड़े से अग्रेजी पढे-लिखो तक ही रह गया। इन विचारों को जनता तक पहुँचाने का बीड़ा आर्यसमाज ने ही उठाया। अन्ध-विश्वास और धर्म के नाम पर किये जाने वाले हजारो अनाचारो की कब्र उसने खोदी, हालाँकि मुर्दे को उसमें दफन न कर सका और अभी तक उसका जहरीला दुर्गन्ध उड़-उडकर

समाज को दूषित कर रहा है। समाज के मानसिक और बौद्धिक धरातल (सतह) को आर्यसमाज ने जितना उठाया है, शायद ही भारत की किसी संस्था ने उठाया हो। उसके उपदेशको ने वेदो और वेदागो के गहन-विषयो को जन-साधारण की सम्पत्ति बना दिया, जिन पर विद्वानों और आचार्यों के कई-कई लीवरवाले ताले लगे हुए थे। आज आर्य-समाज के उत्सवो और गुरुकुलो के जलसो मे हजारो मामूली लियाकत के स्त्री-पुरुष सिर्फ विद्वानो के भाषण सुनने का आनन्द उठाने के लिए खिंचे चले जाते है। गुरुकुलाश्रम को नया जन्म देकर आर्यसमाज ने शिक्षा को सम्पूर्ण बनाने का महान् उद्योग किया है। सम्पूर्ण से मेरा आशय उस शिक्षा का है जो सर्वाङ्गपूर्ण हो, जिसमे मन, बुद्धि, चरित्र और देह, सभी के विकास का अवसर मिले। शिक्षा का वर्तमान आदर्श यही है। मेरे खयाल मे वह चिरसत्य है। वह शिक्षा जो सिर्फ अक्ल तक ही रह जाय, अधूरी है। जिन सस्थाओ में युवको मे समाज से पृथक रहनेवाली मनोवृत्ति पैदा हो, जो अमीर और गरीब के भेद को न सिर्फ कायम रखे बल्कि और मजबूत करे, जहाँ पुरुषार्थ इतना कोमल बना दिया जाय कि उसमे मुशकिलो का सामना करने की शक्ति न रह जाय, जहाँ कला और सयम मे कोई मेल न हो, जहाँ की कला केवल केवल नाचने-गाने और नकल करने मे ही जाहिर हो, उस शिक्षा का मै कायल नहीं हूँ। शायद ही मुल्क मे कोई ऐसी शिक्षासंस्था हो जिसने कौम की पुकार का इतनी जवाँमर्दी से स्वागत किया हो। अगर विद्या हममे सेवा और त्याग का भाव न लाये, अगर विद्या हमे आदर्श के लिए सीना खोलकर खड़ा होना न सिखाये, अगर विद्या हममे स्वाभि-मान न पैदा करे, और हमे समाज के जीवनप्रवाह से अलग रखे तो उस विद्या से हमारी अविद्या अच्छी। और समाज ने हमारी भाषा के साथ जो उपकार किया है उसका सबसे उज्ज्वल प्रमाण यह है कि स्वामी दयानन्द ने इसी भाषा में सत्यार्थप्रकाश लिखा और उस वक्त लिखा जब उसकी इतनी चर्चा न थी। उनकी बारीक नजर ने देख लिया

कि अगर जनता मे प्रकाश ले जाना है तो उसके लिए हिन्दी भाषा ही अकेला साधन है, और गुरुकुलो ने हिन्दी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाकर अपने भाषा-प्रेम को और भी सिद्ध कर दिया है।

सज्जनो, मै यहाँ हिन्दी भाषा की उत्पत्ति और विकास की कथा नहीं कहना चाहता, वह सारी कथा भाषा-विज्ञान की पोथियों मे लिखी हुई है। हमारे लिए इतना ही जानना काफी है कि आज हिन्दुस्तान के पन्द्रह-सोलह करोड लोगो के सभ्य व्यवहार और साहित्य की यही भाषा है। हाँ, वह लिखी जाती है दो लिपियों मे और उसी एतबार से हम उसे हिन्दी या उर्दू कहते है। पर है वह एक ही। बोलचाल मे तो उसमे बहुत कम फर्क है, हाँ लिखने मे वह फर्क बढ जाता है। मगर उस तरह का फर्क सिर्फ हिन्दी मे ही नही, गुजराती, बँगला और मराठी वगैरह भाषाओ मे भी कमोबेश वैसा ही फर्क पाया जाता है। भाषा के विकास मे हमारी सस्कृति की छाप होती हे, और जहाँ संस्कृति मे भेद होगा वहाँ भाषा मे भेद होना स्वाभाविक है। जिस भाषा का हम और आप व्यवहार कर रहे है, वह देहली प्रात की भाषा है। उसी तरह जैसे ब्रजभाषा, अवधी, मैथिली, भोजपुरी और मारवाड़ी आदि भाषाएँ अलग-अलग क्षेत्रो मे बोली जाती है और सभी साहित्यिक भाषा रह चुकी है। बोली का परिमार्जित रूप ही भाषा है। सबसे ज्यादा प्रसार तो ब्रजभाषा का है क्योकि यह आगरा प्रात के बडे हिस्से की ही नही, सारे बुन्देलखण्ड की बोलचाल की भाषा है। अवधी अवध प्रान्त की भाषा है। भोजपुरी प्रान्त के पूर्वी जिलो मे बोली जाती है, और मैथिली बिहार प्रात के कई जिलो मे। ब्रजभाषा मे जो साहित्य रचा गया है, वह हिन्दी के पद्य-साहित्य का गौरव है। अवधी का प्रमुख ग्रथ तुलसीकृत रामायण और मलिक मुहम्मद जायसी का रचा हुआ पद्मावत है। मैथिली मे विद्यापति की रचनाएँ ही मशहूर है। मगर साहित्य मे आम तौर पर मैथिल का व्यवहार कम हुआ। साहित्य मे तो अवधी और ब्रजभाषा का व्यवहार होता था। हिन्दी के बिकास के पहले ब्रजभाषा ही हमारी

साहित्यिक भाषा थी और प्रायः उन सभी प्रदेशों मे जहाँ आज हिन्दी का प्रचार है, पहले ब्रजभाषा का प्रचार था। अवध मे और काशी मे भी कवि लोग अपने कवित्त ब्रजभाषा मे ही कहते थे। यहाँ तक कि गया मे भी ब्रजभाषा का ही प्रचार होता था।

तो यकायक ब्रजभाषा, अवधी, भोजपुरी आदि को पीछे हटाकर हिन्दी कैसे सबके ऊपर गालिब आया? यहाँ तक कि अब अवधी और भोजपुरी का तो साहित्य मे कहीं व्यवहार नही है। हाँ, ब्रजभाषा को अभी तक थोड़े-से लोग सीने से चिपटाये हुए है। हिन्दी को यह गौरव प्रदान करने का श्रेय मुसलमानो को है। मुसलमानो ही ने दिल्ली-प्रात की इस बोली को, जिसको उस वक्त तक भाषा का पद न मिला था, व्यवहार मे लाकर उसे दरबार की भाषा बना दिया और दिल्ली के उमरा और सामंत जिन प्रातो मे गये, हिन्दी भाषा को साथ लेते गये। उन्हीं के साथ वह दक्खिन मे पहुँची और उसका बचपन दक्खिन ही मे गुजरा। दिल्ली मे बहुत दिनो तक अराजकता का जोर रहा, और भाषा को विकास का अवसर न मिला। और दक्खिन मे वह पलती रही। गोलकुंडा, बीजापूर, गुलबर्गा आदि के दरबारो मे इसी भाषा मे शेर-शायरी होती रही। मुसलमान बादशाह प्रायः साहित्यप्रेमी होते थे। बाबर, हुमायूँ, जहाँगीर, शाहजहाँ, औरंगजेब, दाराशिकोह सभी साहित्य के मर्मज्ञ थे। सभी ने अपने-अपने रोजनामचे लिखे है। अकबर खुद शिक्षित न हो, मगर साहित्य का रसिक था। दक्खिन के बादशाहो मे अकसर ने कविताएँ कीं और कवियो को आश्रय दिया। पहले तो उनकी भाषा कुछ अजीब खिचड़ी सी थी जिसमे हिन्दी, फारसी सब कुछ मिला होता था। आपको शायद मालूम होगा कि हिन्दी की सबसे पहली रचना खुसरो ने की है, जो मुगलो से भी पहले खिलजी राजकाल मे हुए। खुसरो की कविता का एक नमूना देखिये—

जब यार देखा नैन भर, दिल की गयी चिन्ता उतर,
ऐसा नही कोई अजब, राखे उसे समझाय कर।

जब आँख से ओझल भया, तड़पन लगा मेरा जिया,
हक्का इलाही क्या किया आँसू चले भरलायकर ॥
तूँ तो हमारा यार है, तुम पर हमारा प्यार है,
तुझ दोस्ती बिसियार है, यक शब मिलो तुम आय कर।
मेरा जो मन तुमने लिया, तुमने उठा गम को दिया,
गम ने मुझे ऐसा किया जैसे पतंगा आग पर ॥

खुसरा की एक दूसरी गजल देखिये—

बह गये बालम, वह गये नदियो किनार,
आप पार उतर गये हम तो रहे अरदार।
भाई रे मल्लाहो हम को उतारो पार,
हाथ का देऊँगी मुँदरी, गल का देऊँ हार।

मुसलमानी जमाने मे अवश्य ही हिन्दी के तीन रूप होंगे। एक नागरी लिपि मे ठेठ हिन्दी, जिसे भाषा या नागरी कहते थे, दूसरी उर्दू यानी फारसी लिपि मे लिखी हुई, फारसी से मिली हुई हिन्दी और तीसरी ब्रजभाषा। लेकिन हिन्दी-भाषा का मौजूदा सूरत मे आते-आते सदियाँ गुजर गयी। यहाँ तक कि सन् १८०३ ई० से पहले का कोई ग्रन्थ नहीं मिलता। सदल मिश्र की 'चन्द्रावती' का रचना-काल १८०३ माना जाता है और सदल मिश्र ही हिन्दी के आदि लेखक ठहरते है। इसके बाद लल्लूजी, सैयद इशा अल्लाह खाँ वगैरह के नाम है। इस लिहाज से हिन्दी गद्य का जीवन सवा सौ साल से ज्यादा का नही है, और क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि सवा सौ साल पहले जिस जबान मे कोई गद्य-रचना तक न थी वह आज सारे हिन्दुस्तान की कौमी जबान बनी हुई है? और इसमे मुसलमानो का कितना सहयोग है यह हम बता चुके है। हमे सन्देह है कि मुसलमानो का सहारा पाये बगैर हमको आज यह दरजा हासिल होता।

जिस तरह हिन्दुओं की हिन्दी का रूप विकसित हो रहा था, उसी तरह मुसलमानो की हिन्दी का रूप भी बदलता जा रहा था। लिपि

तो शुरू से ही अलग थी, जबान का रूप भी बदलने लगा। मुसलमानो की सस्कृति ईरान और अरब की है। उसका जबान पर असर पडने लगा। अरबी और फारसी के शब्द उसमे आ-आकर मिलने लगे, यहाँ तक कि आज हिन्दी और उर्दू दो अलग-अलग जबानें-सी हो गयी है। एक तरफ हमारे मौलवी साहबान अरबी और फारसी के शब्द भरते जाते है, दूसरी ओर पण्डितगण, सस्कृत और प्राकृत के शब्द ठूॅस रहे है और दोनो भाषाएँ जनता से दूर होती जा रही है। हिन्दुओ की खासी तादाद अभी तक उर्दू पढती जा रही है, लेकिन उनकी तादाद दिन-दिन घट रही है। मुसलमानो ने हिन्दी से कोई सरोकार रखना छोड दिया। तो क्या यह तै समझ लिया जाय कि उत्तर भारत मे उर्दू और हिन्दी दो भाषाएँ अलग-अलग रहेगी? उन्हे अपने-अपने ढग पर, अपनी-अपनी सस्कृति के अनुसार बढने दिया जाय उनको मिलाने की और इस तरह उन दोनो की प्रगति का रोकने की कोशिश न की जाय? या ऐसा सम्भव है कि दोनो भाषाओ को इतना समीप लाया जाय कि उनमे लिपि के सिवा कोई भेद न रहे। बहुमत पहले निश्चय की ओर है। हाँ, कुछ थोडे-से लोग ऐसे भी हैं जिनका खयाल है कि दोनो भाषाओं मे एकता लायी जा सकती है, और इस बढते हुए फर्क को रोका जा सकता है, लेकिन उनकी आवाज नक्कारखाने मे तूती की आवाज है। ये लोग हिन्दी और उर्दू नामो का व्यवहार नही करते, क्योकि दो नामो का व्यवहार उनके भेद को और मजबूत करता है। यह लोग दोनो को एक नाम से पुकारते है और वह 'हिन्दुस्तानी' है। उनका आदर्श है कि जहाँ तक मुमकिन हो लिखी जानेवाली जबान और बोलचाल की जबान की सूरत एक हो, और वह थोडे से पढे-लिखे आदमियो की जबान न रहकर सारी कौम की जबान हो। जो कुछ लिखा जाय उसका फायदा जनता भी उठा सके, और हमारे यहाँ पढे लिखों की जो एक जमाअत अलग बनती जा रही है, और जनता से उनका सम्बन्ध जो दूर होता जा रहा है, वह दूरी

मिट जाय और पढे-बे-पढे सब अपने को एक जान, एक दिल समझें, और कौम मे ताकत आवे। चूँकि उर्दू जबान अरसे से अदालती और सभ्य-समाज की भाषा रही है, इसलिए उसमे हजारो फारसी और अरबी के शब्द इस तरह घुल मिल गये है कि बज्र देहाती भी उनका मतलब समझ जाता है। ऐसे शब्दो को अलग करके हिन्दी मे विशुद्धता लाने का जो प्रयत्न किया जा रहा है, हम उसे जबान और कौम दोनो ही के साथ अन्याय समझते है। इसी तरह हिन्दी या सस्कृत या अँगरेजी के जो बिगडे हुए शब्द उर्दू मे मिल गये, उनको चुन-चुनकर निकालने और उनकी जगह खालिस फारसी और अरबी के शब्दो के इस्तेमाल को भी उतना ही एतराज के लायक समझते हैं। दोनो तरफ से इस अलगौझे का सबब शायद यही है कि हमारा पढा-लिखा समाज जनता से अलग-थलग होता जा रहा है, और उसे इसकी खबर ही नही कि जनता किस तरह अपने भावो और विचारो को अदा करती है। ऐसी जबान जिसके लिखने और समझनेवाले थोडे से पढे-लिखे लोग ही हो, मसनुई, बेजान और बोझल हो जाती है। जनता का मर्म स्पर्श करने की, उन तक अपना पैगाम पहुँचाने की, उसमे कोई शक्ति नहीं रहती। वह उस तालाब की तरह है जिसके घाट सगमरमर के बने हो जिसमे कमल खिले हों, लेकिन उसका पानी बन्द हो। क्या उस पानी मे वह मजा, वह सेहत देनेवाली ताकत, वह सफाई है जो खुली हुई धारा मे होती है? कौम की जबान वह है जिसे कौम समझे, जिसमे कौम की आत्मा हो, जिसमें कौमके जजबात हो। अगर पढे-लिखे समाज की जबान ही कौम की जबान है तो क्यों न हम अँग्रेजी को कौम की जबान समझें क्योकि मेरा तजरबा है कि आज पढा-लिखा समाज जिस बेतकल्लुफी से अँग्रेजी बोल सकता है, और जिस रवानी के साथ अँग्रेजी लिख सकता है, उर्दू या हिन्दी बोल या लिख नहीं सकता। बडे-बडे दफ्तरों मे और ऊँचे दायरे मे आज भी किसी को उर्दू-हिन्दी बोलने की महीनो, बरसों जरूरत नहीं होती। खानसामे और बैरे भी ऐसे रखे जाते हैं जो अँग्रेजी बोलते

और समझते है । जो लोग इस तरह की जिन्दगी बसर करने के शौकीन हैं उनके लिए तो उर्दू, हिन्दी, हिन्दुस्तानी का कोई झगड़ा ही नहीं। वह इतनी बुलदी पर पहुँच गये है कि नीचे की धूल और गर्मी उन पर कोई असर नही कर सकती । वह मुअल्लक हवा मे लटके रह सकते हैं। लेकिन हम सब तो हजार कोशिश करने पर भी वहाँ तक नही पहुँच सकते। हमे तो इसी धूल और गर्मी मे जीना और मरना है । Intelligentsia मे जो कुछ शक्ति और प्रभाव है, वह जनता ही से आता है। उससे अलग रहकर वे हाकिम की सूरत मे ही रह सकते है, खादिम की सूरत मे, जनता के होकर नहीं रह सकते। उनके अरमान और मसूबे उनके है, जनता के नहीं । उनकी आवाज उनकी है, उनमे जनसमूह की आवाज की गहराई और गरिमा और गम्भीरता नहीं है । वह अपने प्रतिनिधि है, जनता के प्रतिनिधि नहीं ।

बेशक, यह बड़ा जोरदार जवाब है कि जनता मे शिक्षा इतनी कम है, समझने की ताकत इतनी कम कि अगर हम उसे जेहन मे रखकर कुछ बोलना या लिखना चाहे, तो हमे लिखना और बोलना बन्द करना पड़ेगा । यह जनता का काम है कि वह साहित्य पढने और गहन विषयो को समझने की ताकत अपने मे लाये । लेखक का काम तो अच्छी-से अच्छी भाषा मे ऊँचे-से ऊँचे विचारो को प्रकट करना है । अगर जनता का शब्दकोष सौ दो-सौ निहायत मामूली रोजमर्रा के काम के शब्दो के सिवा और कुछ नहीं है, तो लेखक कितनी ही सरल भाषा लिखे, जनता के लिए वह कठिन ही होगी । इस विषय मे हम इतना अर्ज करेगे कि जनता को इस मानसिक दशा मे छोड़ने की जिम्मेदारी भी हमारे ही ऊपर है । हममे जिनके पास इल्म है, और फ़ुरसत है, यह उनका फर्ज था कि अपनी तकरीरों से जनता मे जागृति पैदा करते, जनता मे ज्ञान के प्रचार के लिए पुस्तके लिखते और सफरी कुतुबखाने कायम करते । हममे जिन्हे मकदरत है, वह मदरसे खोलने के लिए लाखों रुपये खैरात करते है । मैं यह नहीं चाहता कि कौम को ऐसे

मुहसिनो को धन्यवाद न देना चाहिये, मगर क्या ऐसी सस्थाएँ न खुल सकती थी और क्या उनसे कौम का कुछ कम उपकार होता जो भाषणों और पुस्तको से जनता मे साहित्य और विज्ञान का प्रचार करती और उनको सभ्यता की ऊँची सतह पर लातीं ? आर्यसमाज ने जिस तरह के विषयो का जनता मे प्रचार किया है उन विषयो को साधारण पढ़ा-लिखा आर्यसमाजी भी खूब समझता है। अदालतो मामलो को, या मुक्ति और आवागमन जैसे गम्भीर विषयों को गाव के किसान भी अगर ज्यादा नहीं समझते, तो साधारण पढे-लिखो के बराबर तो समझ ही लेते है। इसी तरह अन्य विषयो की चर्चा भी जनता के सामने होती रहती तो हमे यह शिकायत न होती कि जनता हमारे विचारो को समझ नही सकती। मगर हमने जनता की परवाह ही कब की है ? हमने केवल उसे दुधार गाय समझा है। वह हमारे लिए अदालतो मे मुकदमे लाती रहे, हमारे कारखानों की बनी हुई चीजें खरीदती रहे। इनके सिवा हमने उससे कोई प्रयोजन नही रखा, जिसका नतीजा यह है कि आज जनता को अँग्रेजो पर जितना विश्वास है उतना अपने पढे-लिखे भाइयो पर नही।

सयुक्त-प्रान्त के साबिक से पहले के गवर्नर सर विलियम मैरिस ने इलाहाबाद की हिन्दुस्तानी एकेडेमी खोलते वक्त हिन्दी-उर्दू के लेखकों को जो सलाह दी थी, उसे ध्यान मे रखने की आज भी उतनी ही जरूरत है, जितनी उस वक्त थी, शायद और ज्यादा। आपने फरमाया कि हिन्दी के लेखको को लिखते वक्त यह समझते रहना चाहिए कि उनके पाठक मुसलमान हैं। इसी तरह उर्दू के लेखको को यह खयाल रखना चाहिए कि उनके कारी हिन्दू है।

यह एक सुनहरी सलाह है और अगर हम इसे गाँठ बाँध लें, तो जबान का मसला बहुत कुछ तय हो जाय। मेरे मुसलमान दोस्त मुझे माफ फरमाये अगर मै कहूँ कि इस मुआमले मे वह हिन्दू लेखको से ज्यादा खतावार है। सयुक्तप्रान्त की कॉमन लैग्वेज रीडरों को देखिए।

आप सहल किस्म की उर्दू पायेंगे। हिन्दी की अदबी किताबो मे भी-अरबी और फारसी के सैकडो शब्द धड़ल्ले से लाये जाते हैं। मगर उर्दू साहित्य मे फारसीयत की तरफ ही ज्यादा झुकाव है। इसका सबब यही है कि मुसलमानो ने हिन्दी से कोई ताल्लुक नहीं रखा है और न रखना चाहते है। शायद हिन्दी से थोड़ी-सी वाकफियत हासिल कर लेना भी वह बरसरे-शान समझते है, हालाकि हिन्दी वह चीज है, जो एक हफ्ते मे आ जाती है। जब तक दोनो भाषाओं का मेल न होगा, हिन्दुस्तानी जबान की गाड़ी जहाँ जाकर रुक गयी है, उससे आगे न बढ सकेगी। और यह सारी करामात फोर्ट विलियम की है जिसने एक ही जबान के दो रूप मान लिये। इसमे भी उस वक्त कोई राजनीति काम कर रही थी या उस वक्त भी दोनो जबानों मे काफी फर्क आ गया था, यह हम नहीं कह सकते। लेकिन जिन हाथों ने यहाँ की जबान के उस वक्त दो टुकड़े कर दिये उसने हमारी कौमी जिन्दगी के दो टुकडे कर दिये। अपने हिन्दू दोस्तो से भी मेरा यही नम्र निवेदन है कि जिन शब्दो ने जन साधारण मे अपनी जगह बना ली है, और उन्हे लोग आपके मुँह या कलम से निकलते ही समझ जाते है, उनके लिए सस्कृत-कोष की मदद लेने की जरूरत नही। 'मोजूद' के लिए 'उपस्थित', 'इरादा' के लिए 'सकल्प', 'बनावटी' के लिए 'कृत्रिम' शब्दो को काम मे लाने की कोई खास जरूरत नही। प्रचलित शब्दों को उनके शुद्ध रूप मे लिखने का रिवाज भी भाषा को अकारण ही कठिन बना देता है। खेत को क्षेत्र, बरस का वर्ष, छेद को छिद्र, काम को कार्य, सूरज को सूर्य, जमना को यमुना लिखकर आप मुँह और जीभ के लिए ऐसी कसरत का सामान रख देते है जिसे नब्बे फी सदी आदमी नहीं कर सकते। इसी मुश्किल को दूर करने और भाषा का सुबोध बनाने के लिए कवियों ने व्रजभाषा और अवधी मे शब्दों के प्रचलित रूप ही रखे थे। जनता मे अब भी उन शब्दों का पुराना बिगड़ा हुआ रूप चलता है, मगर हम विशुद्धता की धुन मे पड़े हुए है।

मगर सवाल यह है, क्या इस हिन्दुस्तानी मे क्लासिकल भाषाओं

के शब्द लिये ही न जायँ ? नही, यह तो हिन्दुस्तानी का गला घोट देना होगा। आज साइंस की नयी-नयी शाखें निकलती जा रही है और नित नये शब्द हमारे सामने आ रहे हैं, जिन्हे जनता तक पहुँचाने के लिए हमे संस्कृत या फारसी की मदद लेनी पड़ती है। किस्से-कहानियों मे तो आप हिन्दुस्तानी जबान का व्यवहार कर सकते है, वह भी जब आप गद्य-काव्य न लिख रहे हो, मगर आलोचना या तनकीद, अर्थशास्त्र, राजनीति, दर्शन और अनेक साइंस के विषयो मे क्लासिकल भाषाओं से मदद लिये बगैर काम नही चल सकता। तो क्या सस्कृत और अरबी या फारसी से अलग-अलग शब्द बन जायँ ? ऐसा हुआ तो एकरूपता कहाँ आयी ? फिर तो वही होगा जो इस वक्त हो रहा है। जरूरत तो यह है कि एक ही शब्द लिया जाय, चाहे वह सस्कृत से लिया जाय, या फारसी से, या दोनों को मिलाकर कोई नया शब्द गढ़ लिया जाय। Sex के लिए हिन्दी मे कोई शब्द अभी तक नहीं बन सका। आम तौर पर 'स्त्री-पुरुष सम्बन्ध' इतना बड़ा शब्द उस भाव को जाहिर करने के लिए काम मे लाया जा रहा है। उर्दू मे 'जिन्स' का इस्तेमाल होता है। जिसी, जिंसियत आदि शब्द भी उसी से निकले है। कई लेखकों ने हिन्दी मे भी जिंसी, जिंस, जिंसियत का इस्तेमाल करना शुरू कर दिया है। लेकिन यह मसला आसान नहीं है। अगर हम इसे मान ले कि हिन्दुस्तान के लिए एक कौमी जबान की जरूरत है, जिसे सारा मुल्क समझ सके तो हमे उसके लिए तपस्या करनी पडेगी। हमे ऐसी सभाएँ खोलनी पड़ेंगी जहाँ लेखक लोग कभी-कभी मिलकर साहित्य के विषयो पर, या उसकी प्रवृत्तियों पर आपस मे खयालात का तबादला कर सकें। दिलो की दूरी भाषा की दूरी का मुख्य कारण है। आपस के हेल-मेल से उस दूरी को दूर करना होगा। राजनीति के पण्डितो ने कौम को जिस दुर्दशा मे डाल दिया है, वह आप और हम सभी जानते है। अभी तक साहित्य के सेवको ने भी किसी-न-किसी रूप मे राजनीति के पण्डितों को अगुआ माना है, और उनके पीछे-पीछे चले हैं। मगर अब साहित्यकारों को

अपने विचार से काम लेना पड़ेगा। सत्य, शिवं, सुन्दर के उसूल को यहाँ भी बरतना पड़ेगा। सियासियात ने सम्प्रदायों को दो कैम्पों में खड़ा कर दिया है। राजनीति की हस्ती ही इस पर कायम है कि दोनों आपस में लड़ते रहें। उनमें मेल होना उसकी मृत्यु है। इसलिए वह तरह-तरह के रूप बदलकर और जनता के हित का स्वाँग भरकर अब तक अपना व्यवसाय चलाती रही है। साहित्य धर्म को फ़िर्क़ाबन्दी की हद तक गिरा हुआ नहीं देख सकता। वह समाज को सम्प्रदायों के रूप में नहीं, मानवता के रूप में देखता है। किसी धर्म की महानता और फ़जीलत इसमें है कि वह इन्सान को इन्सान का कितना हमदर्द बनाता है, उसमें मानवता (इन्सानियत) का कितना ऊँचा आदर्श है, और उस आदर्श पर वहाँ कितना अमल होता है। अगर हमारा धर्म हमें यह सिखाता है कि इन्सानियत और हमदर्दी और भाईचारा सब कुछ अपने ही धर्मवालों के लिए है, और उस दायरे से बाहर जितने लोग हैं, सभी गैर हैं, और उन्हें जिन्दा रहने का कोई हक नहीं, तो मैं उस धर्म से अलग होकर विधर्मी होना ज्यादा पसन्द करूँगा। धर्म नाम है उस रोशनी का जो कतरे को समुद्र में मिल जाने का रास्ता दिखाती है, जो हमारी ज़ात को हमाओस्त में, हमारी आत्मा को व्यापक सर्वात्म में, मिले होने की अनुभूति या यकीन कराती है। और चूँकि हमारी तबीयतें एक-सी नहीं हैं, हमारे संस्कार एक-से नहीं हैं, हम उसी मंजिल तक पहुँचने के लिए अलग-अलग रास्ते अख्तियार करते हैं। इसीलिए भिन्न-भिन्न धर्मों का ज़हूर हुआ है। यह साहित्यसेवियों का काम है कि वह सच्ची धार्मिक जाग्रति पैदा करें। धर्म के आचार्यों और राजनीति के पण्डितों ने हमें गलत रास्ते पर चलाया है। मगर मैं दूसरे विषय पर आ गया। हिन्दुस्तानी को व्यावहारिक रूप देने के लिए दूसरी तदबीर यह है कि मैट्रिकुलेशन तक उर्दू और हिन्दी हरेक छात्र के लिए लाजमी कर दी जाय। इस तरह हिन्दुओं को उर्दू में और मुसलमानों को हिन्दी में काफी महारत हो जायगी,

और अज्ञानता के कारण जो बदगुमानी और सन्देह है, वह दूर हो जायगा। चूंकि इस वक्त भी तालीम का सीगा हमारे मिनिस्ट्रो के हाथ मे है और करिकुलम मे इस तब्दीली से कोई जायद खर्च न होगा, इसलिए अगर दोनो भाई मिलकर यह मुतालबा पेश करें तो गवर्नमेंट को उसके स्वीकार करने मे कोई इन्कार न हो सकेगा। मै यकीन दिलाना चाहता हूँ कि इस तजवीज मे हिन्दी या उर्दू किसी से भी पक्षपात नहीं किया गया है। साहित्यकार के नाते हमारा यह धर्म है कि हम मुल्क मे ऐसी फिजा, ऐसा वातावरण लाने की चेष्टा करे जिससे हम जिन्दगी के हरेक पहलू मे दिन-दिन आगे बढ़े। साहित्यकार पैदाइश से सौन्दर्य का उपासक होता है। वह जीवन के हरेक अङ्ग मे, जिन्दगी के हरेक शोबे मे, हुस्न का जलवा देखना चाहता है। जहाँ सामञ्जस्य या हम-आहँगी है वही सौन्दर्य है, वही सत्य है, वही हकीकत है। जिन तत्वों मे जीवन की रक्षा होती है, जीवन का विकास होता है, वही हुस्न है। वह वास्तव मे हमारी आत्मा की बाहरी सूरत है। हमारी आत्मा अगर स्वस्थ है, तो वह हुस्न की तरफ बेअख्तियार दौड़ती है। हुस्न मे उनके लिए न रुकने-वाली कशिश है। और क्या यह कहने की जरूरत है कि नेफाक और हसद, और सन्देह और संघर्ष, यह मनोविकार हमारे जीवन के पोषक नहीं बल्कि घातक हैं, इसलिए वह सुन्दर कैसे हो सकते हैं? साहित्य ने हमेशा इन विकारो के खिलाफ आवाज उठायी है। दुनिया मे मानव-जाति के कल्याण के जितने आन्दोलन हुए है, उन सभी के लिए साहित्य ने ही जमीन तैयार की है, जमीन ही नहीं तैयार की, बीज भी बोये और उसकी सिंचाई भी की। साहित्य राजनीति के पीछे चलनेवाली चीज नहीं, उसके आगे-आगे चलनेवाला 'एडवास गार्ड' है। वह उस विद्रोह का नाम है जो मनुष्य के हृदय मे अन्याय, अनीति, और कुरुचि से होता है। और लेखक अपनी कोमल भावनाओं के कारण उस विद्रोह की जबान बन जाता है। और लोगों के दिलों पर भी चोट लगती है, पर अपनी व्यथा को, अपने दर्द को दिल हिला देनेवाले शब्दों मे वे जाहिर

नह कर सकते। साहित्य का स्त्रष्टा उन चोटो को हमारे दिलों पर इस तरह अंकित करता है कि हम उनकी तीव्रता को सौगुने वेग के साथ महसूस करने लगते हैं। इस तरह साहित्य की आत्मा आदर्श है और उसकी देह यथार्थ चित्रण। जिस साहित्य मे हमारे जीवन की समस्याएँ न हो, हमारी आत्मा को स्पर्श करने की शक्ति न हो, जो केवल जिन्सी भावो मे गुदगुदी पैदा करने के लिए, या भाषा-चातुरी दिखाने के लिए रचा गया हो वह निर्जीव साहित्य है, सत्यहीन, प्राणहीन। साहित्य मे हमारी आत्माओ को जगाने की, हमारी मानवता को सचेत करने की, हमारी रसिकता को तृप्त करने की शक्ति होनी चाहिए। ऐसी ही रचनाओं से कौमे बनती हैं। वह साहित्य जो हमे विलासिता के नशे मे डुबा दे, जो हमे वैराग्य, पस्तहिम्मती, निराशावाद की ओर ले जाय, जिसके नजदीक ससार दुःख का घर है और उससे निकल भागने मे हमारा कल्याण है, जो केवल लिप्सा और भावुकता मे डूबी हुई कथाएँ लिखकर कामुकता को भड़काये, निर्जीव है। सजीव साहित्य वह है, जो प्रेम से लबरेज हो, उस प्रेम से नहीं, जो कामुकता का दूसरा नाम है, बल्कि उस प्रेम से जिसमे शक्ति है, जीवन है, आत्म-सम्मान है। अब इस तरह की नीति से हमारा काम न चलेगा।

रहिमन चुप ह्वै बैठिये, देखि दिनन को फेर

अब तो हमे डा० इकबाल का शंखनाद चाहिए—

ब शाखे ज़िन्दगिये मा नमीजे तिश्ना बसस्त
तलाशे चश्मए हैवॉ दलीले ब तलबीस्त। १
ता कुजा दर तहे बाले दिगरॉ मी बाशी,
दर हवाये चमन आज़ाद परीदन् आमोज़।२

१) मेरे जीवन की डाली के लिए तृषा की तरी ही काफी है। अमृतकुंड की खोज मे भटकना आकाक्षा के अभाव का प्रमाण है।

२) दूसरो के डैनो का आश्रय तुम कब तक लोगे? चमन की हव मे आजाद होकर उड़ना सीखो।

दर जहाँ बालो - परे खेश कुशूदन आमोज,
कि परीदन् नतवाँ बा परो बाले दिगराँ।३

जब हिन्दुस्तानी कौमी जबान है, क्योकि किसी न किसी रूप मे यह पन्द्रह-सोलह करोड आदमियो की भाषा है, तो यह भी जरूरी है कि हिन्दुस्तानी जबान मे ही हमे भारतीय साहित्य की सर्वश्रेष्ठ रचनाएँ पढने को मिले। आप जानते है, हिन्दुस्तान मे बारह उन्नत भाषाएँ हैं और उनके साहित्य हैं। उन साहित्यो मे जो कुछ संग्रह करने लायक है, वह हमे हिन्दुस्तानी जबान मे ही मिलना चाहिये। किसी भाषा मे भी जो-जो अमर साहित्य है, वह सम्पूर्ण राष्ट्र की सम्पत्ति है। मगर अभी तक उन साहित्यो के द्वार हमारे लिए बन्द थे, क्योकि हिन्दुस्तान की बारहो भाषाओ का ज्ञान बिरले को ही होगा। राष्ट्र प्राणियो के उस समूह को कहते है कि जिनकी एक विद्या, एक तहजीब हो, एक राजनैतिक सगठन हो, एक भाषा हो और एक साहित्य हो। हम और आप दिल से चाहते है कि हिन्दुस्तान सच्चे मानी मे एक कौम बने। इसलिए हमारा कर्तव्य है कि भेद पैदा करने वाले कारणों को मिटायें और मेल पैदा करनेवाले कारणो को संगठित करें। कौम की भावना यूरप मे भी दो-ढाई सौ साल से ज्यादा पुरानी नही। हिन्दुस्तान मे तो यह भावना अग्रेजी राज के विस्तार के साथ ही आयी है। इस गुलामी का एक रोशन पहलू यही है कि उसने हम मे कौमियत की भावना को जन्म दिया। इस खुदादाद मौके से फायदा उठाकर हमे कौमियत के अटूट रिश्ते मे बँध जाना है। भाषा और साहित्य का भेद ही खास तौर से हमे भिन्न भिन्न प्रातीय जत्थो मे बाँटे हुए हैं। अगर हम इस अलग करने वाली बाधा को तोड़ दें तो राष्ट्रीय सस्कृति की एक धारा बहने लगेगी जो कौमियत की सबसे मज-

---

३) दुनिया मे अपने डैने-पखे को फैलाना सीखो। क्योंकि दूसरे के डैने-पखे के सहारे उड़ना सम्भव नहीं है।

बूत भावना है। यही मकसद सामने रखकर हमने 'हस' नाम की एक मासिक पत्रिका निकालनी शुरू की है, जिसमे हरेक भाषा के नये और पुराने साहित्य की अच्छी-से-अच्छी चीजे देने की कोशिश करते है। इसी मकसद को पूरा करने के लिए हमने एक भारतीय साहित्य परिषद् या हिन्दुस्तान की कौमी अदबी सभा की बुनियाद डालने की तजवीज की है और परिषद् का पहला जलसा २३, २४* को नागपूर मे महात्मा गॉधी की सदारत मे करार पाया है। हम कोशिश कर रहे है कि परिषद् मे सभी सूबे के साहित्यकार आये और आपस मे खयालात का तबादला करके हम तजवीज को ऐसी सूरत दे, जिसमे वह अपना मकसद पूरा कर सके। बाज सूबो मे अभी से प्रातीयता के जजबात पैदा होने लगे है। 'सूबा सूबेवालो के लिए' की सदाएँ उठने लगी है। 'हिन्दुस्तान हिन्दुस्तानियो के लिए' की सदा इस प्रातीयता की चीख-पुकार मे कही डूब न जाय, इसका अदेशा अभी से होने लगा है। अगर बंगाल बगाल के लिए, पजाब पजाब के लिए की हवा ने जोर पकड़ा तो वह कौमियत की जो जन्नत गुलामी के पसीने और जिल्लत से बनी थी मादूम हो जायगी और हिन्दुस्तान फिर छोटे-छोटे राजो का समूह होकर रह जायगा। और फिर कयामत के पहले उसे पराधीनता की कैद से नजात न होगी। हमें अफसोस तो यह है कि इस किस्म की सदाएँ उन दिशाओ से आ रही हैं, जहाँ से हमें एकता की दिल बढानेवाली सदाओं की उम्मीद थी। डेढ सौ साल की गुलामी ने कुछ-कुछ हमारी ऑखे खोलनी शुरू की थी कि फिर वही प्रान्तीयता की आवाजें पैदा होने लगीं और इस नयी व्यवस्था ने उन भेद-भावों के फलने-फूलने के लिए जमीन तैयार कर दी है। अगर 'प्राविंशल अटानोमी' ने यह सूरत अख्तियार की तो वह हिन्दुस्तानी कौमियत की जवान मौत नहीं, बाल मृत्यु होगी। और वह तफरीक जाकर रुकेगी कहॉ उसकी तो कोई इति ही नहीं।

---

* २३, २४ अप्रैल, १९३६।

सूबा सूबे के लिए, जिला जिले के लिए, हिन्दू हिन्दू के लिए, मुसलिम मुसलिम के लिए, ब्राह्मण ब्राह्मण के लिए, वैश्य वैश्य के लिए, कपूर कपूर के लिए, सक्सेना सक्सेना के लिए, इतनी दीवारो और कोठरियो के अन्दर कौमियत कै दिन साँस ले सकेगी! हम देखते है कि ऐतिहासिक परम्परा प्रान्तीयता की ओर है। आज जो अलग अलग सूबे हैं किसी जमाने में अलग-अलग राज थे, कुदरती हदे भी उन्हे दूसरे सूबों से अलग किये हुए हैं, और उनकी भाषा, साहित्य, संस्कृति सब एक हैं। लेकिन एकता के ये सारे साधन रहते हुए भी वह अपनी स्वाधीनता को कायम न रख सके, इसका सबब यही तो है कि उन्होने अपने को अपने किले मे बन्द कर लिया और बाहर की दुनिया से कोई सम्बन्ध न रखा। अगर उसी अलहदगी की रीति से वह फिर काम लेगे तो फिर शायद तारीख अपने को दोहराये। हमे तारीख से यह सबक न लेना चाहिए कि हम क्या थे, यह भी देखना चाहिए कि हम क्या हो सकते थे। अकसर हमे तारीख को भूल जाना पडता है। भूत हमारे भविष्य का रहबर नहीं हो सकता। जिन कुपथ्यो से हम बीमार हुए थे, क्या अच्छे हो जाने पर फिर वही कुपथ्य करेंगे? और चूँकि इस अलहदगी की बुनियाद भाषा है, इसलिए हमे भाषा ही के द्वार से प्रान्तीयता की काया मे राष्ट्रीयता के प्राण डालने पड़ेंगे। प्रान्तीयता का सदुपयोग यह है कि हम उस किसान की तरह जिसे मौरूसी पट्टा मिल गया हो अपनी जमीन को खूब जोतें, उसमे खूब खाद डालें और अच्छी-से-अच्छी फसल पैदा करे। मगर उसका यह आशय हर्गिज न होना चाहिए कि हम बाहर से अच्छे बीज और अच्छी खाद लाकर उसमे न डालें। प्रान्तीयता अगर अयोग्यता को कायम रखने का बहाना बन जाय तो यह उस प्रान्त का दुर्भाग्य होगा और राष्ट्र का भी। इस नये खतरे का सामना करना होगा और वह मेल पैदा करनेवाली शक्तियों को संगठित करने ही से हो सकता है।

सज्जनो, साहित्यिक जाग्रति किसी समाज की सजीवता का लक्षण है।

साहित्य की सबसे अच्छी तारीफ जो की गयी है, वह यह है कि वह अच्छे से अच्छे दिल और दिमाग के अच्छे से अच्छे भावो और विचारो का संग्रह है। आपने अँग्रेजी साहित्य पढ़ा है। उन साहित्यिक चरित्रो के साथ आपने उससे कहीं ज्यादा अपनापा महसूस किया है जितना आप किसी यहाँ के साहब बहादुर से कर सकते हैं। आप उसकी इसानी सूरत देखते है, जिसमे वही वेदनाएँ है, वही प्रेम है, वही कमजोरियाँ हैं, जो हममें और आप मे है। वहाँ वह हुकूमत और गुरूर का पुतला नहीं, बल्कि हमारे और आपका-सा इन्सान है जिसके साथ हम दुखी होते है, हँसते है, सहानुभूति करते हैं। साहित्य बदगुमानियों को मिटानेवाली चीज है। अगर आज हम हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के साहित्य से ज्यादा परिचित हो, तो मुमकिन है हम अपने को एक दूसरे से कहीं ज्यादा निकट पायें। साहित्य मे हम हिन्दू नहीं है, मुसलमान नहीं हैं, ईसाई नहीं है, बल्कि मनुष्य है, और वह मनुष्यता हमे और आपको आकर्षित करती है। क्या यह खेद क. बात नहीं है कि हम दोनो जो एक मुल्क मे आठ सौ साल से रहते है, एक दूसरे के पडोस में रहते है, एक दूसरे के साहित्य से इतने बेखबर हैं? यूरोपियन विद्वानों को देखिए। उन्होने हिन्दुस्तान के मुतअल्लिक हर एक मुमकिन विषय पर तहकीकातें की हैं, पुस्तके लिखी है, वह हमे उससे ज्यादा जानते है जितना हम अपने को जानते है। उसके विपरीत हम एक दूसरे से अनभिज्ञ रहने ही मे मग्न है। साहित्य मे जो सबसे बड़ी खूबी है, वह यह है कि वह हमारी मानवता को दृढ बनाता है, हममे सहानुभूति और उदारता के भाव पैदा करता है। जिस हिन्दू ने कर्बला के मार्के की तारीख पढ़ी है, यह असम्भव है कि उसे मुसलमानों से सहानुभूति न हो। उसी तरह जिस मुसलमान ने रामायण पढा है, उसके दिल में हिन्दू मात्र से हमदर्दी पैदा हो जाना यकीनी है। कम-से-कम उत्तरी हिन्दुस्तान मे हरेक शिक्षित हिन्दू-मुसलिम को अपनी तालीम अधूरी समझनी चाहिए, अगर वह मुसलमान है तो हिन्दुओ के और हिन्दू है तो मुसलमानों के साहित्य से

अपरिचित है। हम दोनों ही के लिए दोनो लिपियो का और दोनो भाषाओ का ज्ञान लाजमी है। और जब हम जिन्दगी के पद्रह साल अँगरेजी हासिल करने मे कुरबान करते हैं तो क्या महीने-दो-महीने भी उस लिपि और साहित्य का ज्ञान प्राप्त करने मे नहीं लगा सकते, जिस पर हमारी कौमी तरक्की ही नहीं, कौमी जिन्दगी का दारोमदार है ?

———

आर्यसमाज के अन्तर्गत आर्यभाषा सम्मेलन के वार्षिक अवसर पर लाहौर मे दिया गया भाषण।

उर्दू, हिन्दी और हिन्दुस्तानी

यह बात सभी लोग मानते है कि राष्ट्र को दृढ और बलवान बनाने के लिए देश मे सास्कृतिक एकता का होना बहुत आवश्यक है। और किसी राष्ट्र की भाषा तथा लिपि इस सांस्कृतिक एकता का एक विशेष अग है। श्रीमती खलीदा अदीब खानम ने अपने एक भाषण मे कहा था कि तुर्की जाति और राष्ट्र की एकता तुर्की भाषा के कारण ही हुई है। और यह निश्चित बात है कि राष्ट्रीय भाषा के बिना किसी राष्ट्र के अस्तित्व की कल्पना ही नहीं हो सकती। जब तक भारतवर्ष की कोई राष्ट्रीय भाषा न हो, तब तक वह राष्ट्रीयता का दावा नहीं कर सकता। सम्भव है कि प्राचीन काल मे भारतवर्ष एक राष्ट्र रहा हो; परन्तु बौद्धों के पतन के उपरान्त उसकी राष्ट्रीयता का भी अन्त हो गया था। यद्यपि देश मे सास्कृतिक एकता वर्त्तमान थी, तो भी भाषाओं के भेद ने देश को खण्ड खण्ड करने का काम और भी सुगम कर दिया था। मुसलमानो के शासनकाल मे भी जो कुछ हुआ था, उसमे भिन्न-भिन्न प्रान्तो का राजनीतिक एकीकरण तो हो गया था, परन्तु उस समय भी देश मे राष्ट्रीयता का अस्तित्व नही था। और सच बात तो यह है कि राष्ट्रीयता की भावना अपेक्षाकृत बहुत देर से ससार मे उत्पन्न हुई है और इसे उत्पन्न हुए लगभग दो सौ वर्षो से अधिक नहीं हुए। भारतवर्ष मे राष्ट्रीयता का आरम्भ अंगरेजी राज्य की स्थापना के साथ-साथ हुआ। और उसी की दृढ़ता के साथ साथ इसकी भी वृद्धि हो रही है। लेकिन इस समय राजनीतिक पराधीनता के अतिरिक्त देश के भिन्न-भिन्न अगो

और तत्वों मे कोई ऐसा पारस्परिक सम्बन्ध नहीं है जो उन्हे सघटित करके एक राष्ट्र का स्वरूप दे सके। यदि आज भारतवर्ष से अगरेजी राज्य उठ जाय तो इन तत्वो मे जो एकता इस समय दिखायी दे रही है, बहुत सम्भव है कि वह विभेद और विरोध का रूप धारण कर ले और भिन्न-भिन्न भाषाओ के आधार पर एक ऐसा नया सघटन उत्पन्न हो जाय जिसका एक दूसरे के साथ कोई सम्बन्ध ही न हो। और फिर वही खींचातानी शुरू हो जाय जो अंगरेजो के यहाँ आने से पहले थी। अतः राष्ट्र के जीवन के लिए यह बात आवश्यक है कि देश मे सास्कृतिक एकता हो। और भाषा की एकता उस सास्कृतिक एकता का प्रधान स्तम्भ है; इसलिये यह बात भी आवश्यक है कि भारतवर्ष की एक ऐसी राष्ट्रीय भाषा हो जो देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक बोली और समझी जाय। इसी बात का आवश्यक परिणाम यह होगा कि कुछ दिनों मे राष्ट्रीय साहित्य की सृष्टि भी आरम्भ हो जायगी और एक एसा समय आयेगा, जब कि भिन्न-भिन्न जातियो और राष्ट्रो के साहित्यिक मण्डल मे हिन्दुस्तानी भाषा भी बराबरी की हैसियत से शामिल होने के काबिल हो जायगी।

परन्तु प्रश्न तो यह है कि इस राष्ट्रीय भाषा का स्वरूप क्या हो? आजकल भिन्न-भिन्न प्रान्तों मे जो भाषाएँ प्रचलित हैं, उसमे तो राष्ट्रीय भाषा बनने की योग्यता नहीं, क्योकि उनके कार्य और प्रचार का क्षेत्र परिमित है। केवल एक ही भाषा ऐसी है जो देश के एक बहुत बडे भाग मे बोलो जाती है और उससे भी कहीं बडे भाग मे समझी जाती है। और उसी को राष्ट्रीय भाषा का पद दिया जा सकता है। परन्तु इस समय उस भाषा के तीन स्वरूप है—उर्दू, हिन्दी और हिन्दुस्तानी। और अभी तक यह बात राष्ट्रीय रूप से निश्चित नही की जा सकी है कि इनमे से कौन-सा स्वरूप ऐसा है जो देश मे सबसे अधिक मान्य हो सकता है और जिसका प्रचार भी ज्यादा आसानी से हो सकता है। तीनो ही स्वरूपो के पक्षपाती और समर्थक मौजूद है और उनमे खींचातानी हो रही है।

यहाँ तक कि इस मतभेद को राजनीतिक स्वरूप दे दिया गया है और हम इस प्रश्न पर शान्त चित्त और शान्त मस्तिष्क से विचार करने के अयोग्य हो गये है।

लेकिन इन सब रुकावटों के होते हुए भी यदि हम भारतीय राष्ट्रीयता के लक्ष्य तक पहुँचना और उसकी सिद्धि करना असम्भव समझकर हिम्मत न हार बैठे तो फिर हमारे लिए इस प्रश्न की किसी न किसी प्रकार मीमासा करना आवश्यक हो जाता है।

देश मे ऐसे आदमियो की सख्या कम नहीं है जो उर्दू और हिन्दी की अलग-अलग और स्वतन्त्र उन्नति और विकास के मार्ग मे बाधक नही होना चाहते। उन्होने यह मान लिया है कि आरम्भ मे इन दोनो के स्वरूपो मे चाहे जो कुछ एकता और समानता रही हो, लेकिन फिर भी इस समय दोनो की दोनो जिस रास्ते पर जा रही है, उसे देखते हुए इन दोनो मे मेल और एकता होना असम्भव ही है। प्रत्येक भाषा की एक प्राकृतिक प्रवृत्ति होती है। उर्दू का फारसी और अरबी के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध है। और हिन्दी का सस्कृत तथा प्राकृत के साथ उसी प्रकार का सम्बन्ध है। उनकी यह प्रवृत्ति हम किसी शक्ति से रोक नही सकते। फिर इन दोनों को आपस मे मिलाने का प्रयत्न करके हम क्यो व्यर्थ इन दोनो को हानि पहुँचावे ?

यदि उर्दू और हिन्दी दोनो अपने-आपको अपने जन्म स्थान और प्रचार-क्षेत्र तक ही परिमित रखे तो हमे इनकी प्राकृतिक वृद्धि और विकास के सम्बन्ध मे कोई आपत्ति न हो। बँगला, मराठी, गुजराती, तामिल, तेलगू और कन्नडी आदि प्रान्तीय भाषाओ के सम्बन्ध मे हमे किसी प्रकार की चिन्ता नहीं है। उन्हे अधिकार है कि वे अपने अन्दर चाहे जितनी सस्कृत, अरबी या लैटिन आदि भरती चले। उन भाषाओ के लेखक आदि स्वयं ही इस बात का निर्णय कर सकते है; परन्तु उर्दू और हिन्दी की बात इन सबसे अलग है। यहाँ तो दोनो ही भारतवर्ष की राष्ट्रीय भाषा कहलाने का दावा करती है। परन्तु वे अपने व्यक्तिगत

रूप मे राष्ट्रीय आवश्यकताओ की पूर्ति नहीं कर सकीं और इसीलिए संयुक्त रूप मे स्वय ही उनका सयोग और मेल आरम्भ हो गया। और दोनो का यह सम्मिलित स्वरूप उत्पन्न हो गया जिसे हम बहुत ठीक तौर पर हिन्दुस्तानी जबान कहते है। वास्तविक बात तो यह है कि भारतवर्ष की राष्ट्रीय-भाषा न तो वह उर्दू ही हो सकती है जो अरबी और फारसी के अप्रचलित तथा अपरिचित शब्दो के भार से लदी रहती है और न वह हिन्दी ही हो सकती है जो सस्कृत के कठिन शब्दो से लदी हुई होती है। यदि इन दोनो भाषाओ के पक्षपाती और समर्थक आमने-सामने खडे होकर अपनी साहित्यिक भाषाओ मे बाते करे तो शायद एक दूसरे का कुछ भी मतलब न समझ सके। हमारी राष्ट्रीय भाषा तो वही हो सकती है जिसका आधार सर्व-सामान्य बोधगम्यता हा—जिसे सब लोग सहज मे समझ सकें। वह इस बात की क्यो परवाह करने लगी कि अमुक शब्द इसलिए छोड दिया जाना चाहिए कि वह फारसी, अरबी अथवा सस्कृत का है? वह तो केवल यह मान-दण्ड अपने सामने रखती है कि जन-साधारण यह शब्द समझ सकते है या नहीं। और जन-साधारण मे हिन्दू, मुसलमान, पंजाबी, बगाली, महाराष्ट्र और गुजराती सभी सम्मिलित हैं। यदि कोई शब्द या मुहावरा या पारिभाषिक शब्द जन साधारण मे प्रचलित है तो फिर वह इस बात की परवाह नहीं करती कि वह कहाँ से निकला है और कहाँ से आया है। और यही हिन्दुस्तानी है। और जिस प्रकार अंगरेजो की भाषा अगरेजी, जापान की जापानी, ईरान की ईरानी और चीन की चीनी है, उसी प्रकार हिन्दुस्तान की राष्ट्रीय भाषा को इसी तौर पर हिन्दुस्तानी कहना केवल उचित ही नहीं, बल्कि आवश्यक भी है। और अगर इस देश को हिन्दुस्तान न कहकर केवल हिन्द कहे तो इसकी भाषा को हिन्दी कह सकते है। लेकिन यहाँ की भाषा को उर्दू तो किसी प्रकार कहा ही नहीं जा सकता, जब तक हम हिन्दुस्तान को उर्दूस्तान न कहने लगें, जो अब किसी प्रकार सम्भव ही नही है। प्राचीन काल के लोग यहाँ की भाषा को हिन्दी ही कहते

थे और खुसरो ने खालिकबारी की रचना करके हिन्दुस्तानी की नींव रखी थी। इस ग्रन्थ की रचना मे कदाचित् उसका यही अभिप्राय होगा कि जनसाधारण की आवश्यकता के शब्द उन्हे दोनो ही रूपो मे सिखलाये जायॅ, जिसमे उन्हे अपने रोजमर्रा के कामा में सहूलियत हो जाय। अभी तक इस बात का निर्णय नही हो सका है कि उर्दू की सृष्टि कब और कहॉ हुई थी। जो हो, परन्तु भारतवर्ष की राष्ट्रीय भाषा न तो उर्दू ही है और न हिन्दी, बल्कि वह हिन्दुस्तानी है जो सारे हिन्दुस्तान मे समझी जाती है और उसके बहुत बडे भाग मे बोली जाती है लेकिन फिर भी लिखी कहीं नही जाती। और यदि कोई लिखने का प्रयत्न करता है तो उर्दू और हिन्दी के साहित्यिक उसे टाट बाहर कर देते है। वास्तव मे उर्दू और हिन्दी की उन्नति मे जो बात बाधक है, वह उनका वैशिष्ट्य प्रेम है। हम चाहे उर्दू लिखे और चाहे हिन्दी, जन-साधारण के लिए नही लिखते बल्कि एक परिमित वर्ग के लिए लिखते है। और यही कारण है कि हमारी साहित्यिक रचनाऍ जन-साधारण को प्रिय नहीं होती। यह बात बिलकुल ठीक है कि किसी देश मे भी लिखने और बोलने की भाषाऍ एक नही हुआ करतीं। जो अग्रेजी हम किताबो और अखबारो मे पढते है, वह कही बोली नहीं जाती। पढे लिखे लोग भी उस भाषा मे बातचीत नही करते, जिस भाषा मे ग्रन्थ और समाचार-पत्र आदि लिखे जाते है। और जन साधारण की भाषा तो बिलकुल अलग ही होती है। इग्लैण्ड के हरएक पढे-लिखे आदमी से यह आशा अवश्य की जाती है कि वह लिखी जानेवाली भाषा समझे और अवसर पडने पर उसका प्रयोग भी कर सके। यही बात हम हिन्दुस्तान मे भी चाहते है।

परन्तु आज क्या परिस्थिति है? हमारे हिन्दीवाले इस बात पर तुले हुए है कि हम हिन्दी से भिन्न भाषाओं के शब्दो को हिन्दी मे किसी तरह घुसने ही न देगे। उन्हे 'मनुष्य' से तो प्रेम है परन्तु 'आदमी' से पूरी-पूरी घृणा है। यद्यपि 'दरख्वास्त' जन-साधारण मे भली-भाति

प्रचलित है परन्तु फिर भी उनके यहा इसका प्रयोग वर्जित है। इसके स्थान पर वे 'प्रार्थना पत्र' ही लिखना चाहते है, यद्यपि जन-साधारण इसका मतलब बिल्कुल ही नही समझता। 'इस्तीफा' को वे किसी तरह मंजूर नहीं कर सकते और इसके स्थान पर 'त्याग-पत्र' रखना चाहते हैं। 'हवाई जहाज' चाहे कितना ही सुबोध क्यो न हो, परन्तु उन्हे 'वायुयान' की सैर ही पसन्द है। उर्दू वाले तो इस बात पर और भी अधिक लट्टू है। वे 'खुदा' को तो मानते है, परन्तु 'ईश्वर' को नहीं मानते। 'कुसूर' तो वे बहुत-से कर सकते है, परन्तु 'अपराध' कभी नहीं कर सकते। 'खिदमत' तो उन्हे बहुत पसन्द है, परन्तु 'सेवा' उन्हे एक आख भी नही भाती। इसी तरह हम लोगो ने उर्दू और हिन्दी के दो अलग-अलग कैम्प बना लिये है। और मजाल नहीं कि एक कैम्प का आदमी दूसरे कैम्प मे पैर भी रख सके। इस दृष्टि से हिन्दी के मुकाबले मे उर्दू मे कहीं अधिक कड़ाई है। हिन्दुस्तानी इस चारदीवारी को तोड़कर दोनों मे मेल-जोल पैदा कर देना चाहती है, जिसमे दोनो एक दूसरे के घर बिना किसी प्रकार के संकोच के आ-जा सकें और वह भी सिर्फ मेहमान की हैसियत से नहीं, बल्कि घर के आदमी की तरह। गारसन डि टासी के शब्दो मे उर्दू और हिन्दी के बीच मे कोई ऐसी विभाजक रेखा नहीं खीची जा सकती, जहाँ एक को विशेष रूप से हिन्दी और दूसरी को उर्दू कहा जा सके। अँग्रेजी भाषा के भी अनेक रग है। कही लैटिन और यूनानी शब्दो की अधिकता होती है, कहीं ऐंग्लोसैक्सन शब्दो की। परन्तु हैं दोनो ही अँग्रेजी। इसी प्रकार हिन्दी या उर्दू शब्दो के विभेद के कारण दो भिन्न भिन्न भाषाएँ नही हो सकतीं। जो लोग भारतीय राष्ट्रीयता का स्वप्न देखते हैं और जो इस सास्कृतिक एकता को दृढ़ करना चाहते हैं, उनसे हमारी प्रार्थना है कि वे लोग हिन्दुस्तानी का निमन्त्रण ग्रहण करें, जो कोई नयी भाषा नहीं है बल्कि उर्दू और हिन्दी का राष्ट्रीय स्वरूप है।

संयुक्त प्रान्त के अपर प्राइमरी स्कूलों मे चौथे दरजे तक इसी मिश्रित

भाषा अर्थात् हिन्दुस्तानी की रीडरें पढाई जाती है। केवल उनकी लिपि अलग हाती है। उनकी भाषा मे कोई अन्तर ही नही हाता। इसमे शिक्षा-विभाग का उद्देश्य यह होगा कि इस प्रकार विद्यार्थियो मे बचपन मे ही हिन्दुस्तानी की नींव पड जायगी और वे उर्दू तथा हिन्दी के विशेष प्रचलित शब्दो से भली-भाति परिचित हो जायेगे और उन्हीं का प्रयोग करने लगेगे। इसमे दूसरा लाभ यह भी है कि एक ही शिक्षक शिक्षा दे सकता है। इस समय भी यही व्यवस्था प्रचलित है। लेकिन हिन्दी और उर्दू के पक्षपातियो की ओर से इसकी शिकायते शुरू हो गयी है कि इस मिश्रित भाषा की शिक्षा से विद्यार्थियो को कुछ भी साहित्यिक ज्ञान नही होने पाता और वे अपर प्राइमरी के बाद भी साधारण पुस्तके तक नहीं समझते। इसी शिकायत को दूर करने के लिए इन रीडरो के अतिरिक्त अपर प्राइमरी दरजों के लिए एक साहित्यिक रीडर भी नियत हुई है। हमारे मासिक-पत्र, समाचार-पत्र और पुस्तकें आदि विशुद्ध हिन्दी मे प्रकाशित होती है। इसलिए जब तक उर्दू पढ़नेवाले लड़को के पास फारसी और अरबी शब्दो का और हिन्दी पढ़नेवाले लड़को के पास सस्कृत शब्दों का यथेष्ट भण्डार न हो, तब तक वे उर्दू या हिन्दी की कोई पुस्तक नहीं समझ सकते। इस प्रकार बाल्यावस्था से ही हमारे यहा उर्दू और हिन्दी का विभेद आरम्भ हो जाता है। क्या इस विभेद को मिटाने का कोई उपाय नहीं है?

जा लोग इस विभेद के पक्षपाती हैं, उनके पास अपने-अपने दावे की दलीलें और तर्क भी मौजूद है। उदाहरण के लिए विशुद्ध हिन्दी के पक्षपाती कहते हैं कि संस्कृत की ओर झुकने से हिन्दी भाषा हिन्दुस्तान की दूसरी भाषाओ के पास पहुँच जाती है, अपने विचार प्रकट करने के लिए उसे बने-बनाये शब्द मिल जाते हैं, लिखावट मे साहित्यिक रूप आ जाता है, आदि आदि। इसी तरह उर्दू का झण्डा लेकर चलने-वाले कहते हैं कि फारसी और अरबी की ओर झुकने से एशिया की दूसरी भाषाएँ, जैसे फारसी और अरबी, उर्दू के पास आ जाती हैं।

अपने विचार प्रकट करने के लिए उसे अरबी का विद्या-सम्बन्धी भडार मिल जाता है, जिससे बढ़कर विद्या की भाषा और कोई नहीं है, और लेखन-शैली मे गम्भीरता और शान आ जाती है, आदि, आदि। इसलिए क्यो न इन दोनो को अपने-अपने ढग पर चलने दिया जाय और उन्हे आपस मे मिलाकर क्यों दोनो के रास्तों मे रुकावटे पैदा की जायॅ? यदि सभी लोग इन तर्कों से सहमत हो जायॅ, तो इसका अभिप्राय यही होगा कि हिन्दुस्तान मे कभी राष्ट्रीय भाषा की सृष्टि न हो सकेगी। इसलिए हमे आवश्यक है कि जहाँ तक हो सके, हम इस प्रकार की धारणाओ को दूर करके ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करे जिससे हम दिन पर दिन राष्ट्रीय भाषा के और भी अधिक समीप पहुँचते जायॅ, और सम्भव है कि दस-बीस वर्षों मे हमारा स्वप्न यथार्थता मे परिणत हो जाय। हिन्दुस्तान के हरएक सूबे मे मुसलमानो की थोड़ी-बहुत संख्या मौजूद ही है। सयुक्तप्रान्त के सिवा और-और सूबो मे मुसलमानो ने अपने-अपने सूबे की भाषा अपना ली है। बंगाल का मुसलमान बगला बोलता और लिखता है, गुजरात का गुजराती, मैसूर का कन्नड़ी, मदरास का तामिल और पंजाब का पजाबी आदि। यहाँ तक कि उसने अपने-अपने सूबे की लिपि भी ग्रहण कर ली है। उर्दू लिपि और भाषा से यद्यपि उसका धार्मिक और सास्कृतिक अनुराग हो सकता है, लेकिन नित्यप्रति के जीवन मे उसे उर्दू की बिलकुल आवश्यकता नही पडती। यदि दूसरे-दूसरे सूबो के मुसलमान अपने-अपने सूबे की भाषा निस्सकोच भाव से सीख सकते है और उसे यहाँ तक अपनी भी बना सकते है कि हिन्दुओं और मुसलमानो की भाषा मे नाम को भी कोई भेद नहीं रह जाता, तो फिर संयुक्तप्रान्त आर पजाब के मुसलमान क्यो हिन्दी से इतनी घृणा करते है?

हमारे सूबे के देहातो मे रहनेवाले मुसलमान प्रायः देहातियो की भाषा ही बोलते हैं। जो बहुत से मुसलमान देहातो से आकर शहरो मे आबाद हो गये हैं, वे भी अपने घरों मे देहाती जबान ही बोलते है।

बोल-चाल की हिन्दी समझने मे न तो साधारण मुसलमानो को ही कोई कठिनता होती है और न बोल चाल की उर्दू समझने मे साधारण हिन्दुओ को ही। बोल-चाल की हिन्दी और उर्दू प्राय. एक-सी ह' हैं। हिन्दी के जो शब्द साधारण पुस्तको और समाचार पत्रों मे व्यवहृत होते है और कभी-कभी पण्डितो के भाषणो मे भी आ जाते है, उनकी सख्या दो हजार से अधिक न हागी। इसी प्रकार फारसी के साधारण शब्द भी इससे अधिक न होगे। क्या उर्दू के वर्त्तमान कोषो मे दो हजार हिन्दी शब्द और हिन्दी के कोषो मे दो हजार उर्दू शब्द नहीं बढाये जा सकते और इस प्रकार हम एक मिश्रित कोष की सृष्टि नहीं कर सकते क्या हमारी स्मरण-शक्ति पर यह भार असह्य होगा ? हम अँग्रेजी के असंख्य शब्द याद कर सकते है और वह भी केवल एक अस्थायी आवश्यकता की पूर्ति करने के लिए। तो फिर क्या हम एक स्थायी उद्देश्य की सिद्धि के लिए थोड़े से शब्द भी याद नहीं कर सकते ? उर्दू और हिन्दी भाषाओ मे न तो अभी विस्तार ही है और न दृढ़ता। उनके शब्दो की सख्या परिमित है। प्रायः साधारण अभिप्राय प्रकट करने के लिए भी उपयुक्त शब्द नहीं मिलते। शब्दो की इस वृद्धि से यह शिकायत दूर हो सकती है।

भारतवर्ष की सभी भाषाएँ या तो प्रत्यक्ष रूप से या अप्रत्यक्ष रूप से सस्कृत से निकली हैं। गुजराती, मराठी और बॅगला की तो लिपियॉ भी देवनागरी से मिलती-जुलती है। यद्यपि दक्षिणी भारत की भाषाओ की लिपियॉ बिलकुल भिन्न है; परन्तु फिर भी उनमे सस्कृत शब्दों की बहुत अधिकता है। अरबी और फारसी के शब्द भी सभी प्रान्तीय भाषाओ मे कुछ न-कुछ मिलते है। परन्तु उनमे संस्कृत शब्दो की उतनी अधिकता नही होती, जितनी हिन्दी मे होती है। इसलिए यह बात बिलकुल ठीक है कि भारतवर्ष मे ऐसी हिन्दी बहुत सहज में स्वीकृत और प्रचलित हो सकती है जिसमे संस्कृत के शब्द अधिक हो। दूसरे प्रान्तो के मुसलमान भी ऐसी हिन्दी सहज मे समझ सकते हैं परन्तु

फारसी और अरबी के शब्दो से लदी हुई उर्दू भाषा के लिए सयुक्त प्रान्त और पंजाब के नगरों और कस्बो तथा हैदराबाद के बड़े-बडे शहरो के सिवा और कोई क्षेत्र नहीं। मुसलमान संख्या मे अवश्य आठ करोड़ हैं; लेकिन उर्दू बोलनेवाले मुसलमान इसके एक चौथाई से अधिक न होगे। ऐसी अवस्था मे क्या उच्चकोटि की राष्ट्रीयता के विचार से इसकी आवश्यकता नहीं है कि उर्दू मे कुछ आवश्यक सुधार और वृद्धि करके उसे हिन्दी के साथ मिला लिया जाय? और हिन्दी मे भी इसी प्रकार की वृद्धि करके उसे उर्दू से मिला दिया जाय? और इस मिश्रित भाषा को इतना दृढ कर दिया जाय कि वह सारे भारतवर्ष मे बोली-समझी जा सके? और हमारे लेखक जो कुछ लिखें, वह एक विशेष क्षेत्र के लिए न हो बल्कि सारे भारतवर्ष के लिए हो? सिन्धी भाषा इस प्रकार के मिश्रण का बहुत अच्छा उदाहरण है। सिन्धी भाषा की केवल लिपि अरबी है, परन्तु उसमे हिन्दी के सभी तत्त्व सम्मिलित कर लिये गये है। और शब्दो की दृष्टि से भी उसमे सस्कृत, अरबी और फारसी का कुछ ऐसा सम्मिश्रण हो गया है कि कहीं खटक नही मालूम होती। हिन्दुस्तानी के लिए भी कुछ इसी प्रकार के सम्मिश्रण की आवश्यकता है।

जो लोग उर्दू और हिन्दी को बिलकुल अलग-अलग रखना चाहते हैं, उनका यह कहना एक बहुत बड़ी सीमा तक ठीक है कि मिश्रित भाषा मे किस्से-कहानियाँ और नाटक आदि तो लिखे जा सकते हैं, परन्तु विज्ञान और साहित्य के उच्च विषय उसमे नहीं लिखे जा सकते। वहाँ तो विवश होकर फारसी और अरबी के शब्दो से भरी हुई उर्दू और सस्कृत के शब्दो से भरी हुई हिन्दी का व्यवहार आवश्यक हो जायगा। विज्ञान और विद्या-सम्बन्धी विषय लिखने के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता उपयुक्त पारिभाषिक शब्दों की होती है। और पारिभाषिक शब्दो के लिए हमे विवश होकर अरबी और संस्कृत के असीम शब्द-भण्डारो से सहायता लेनी पड़ेगी। इस समय प्रत्येक प्रान्तीय भाषा अपने लिए अलग-अलग पारिभाषिक शब्द तैयार कर रही है। उर्दू मे भी विज्ञान-सम्बन्धी

पारिभाषिक शब्द बनाये गये है और अभी यह क्रम चल रहा है। क्या यह बात कहीं अधिक उत्तम न होगी कि भिन्न भिन्न प्रान्तीय सभाएँ और सस्थाएँ आपस मे मिलकर परामर्श करें और एक दूसरी की सहायता से यह कठिन कार्य पूरा करे ? इस समय सभी लोगो को अलग अलग बहुत कुछ परिश्रम, माथापच्ची और व्यय करना पड़ रहा है और उसमे बहुत कुछ बचत हो सकती है। हमारी समझ मे तो यह आता है कि नये सिरे से पारिभाषिक शब्द बनाने की जगह कहीं अच्छा यह होगा कि अँग्रेजी के प्रचलित पारिभाषिक शब्दो मे कुछ आवश्यक परिवर्त्तन करके उन्हीं को ग्रहण कर लिया जाय। ये पारिभाषिक शब्द केवल अँग्रेजी मे ही प्रचलित नही है बल्कि प्रायः सभी उन्नत भाषाओ में उनसे मिलते जुलते पारिभाषिक शब्द पाये जाते हैं। कहते हैं कि जापानियों ने भी इसी मार्ग का अवलम्बन किया है और मिस्र मे भी थोडे बहुत सुधार और परिवर्तन के साथ उन्हो को ग्रहण किया गया है। यदि हमारी भाषा में बटन, लालटेन और बाइसिकिल सरीखे सैकडो विदेशी शब्द खप सकते है तो फिर पारिभाषिक शब्दो को लेने मे कौन-सी बात बाधक हो सकती है ? यदि प्रत्येक प्रान्त ने अपने अलग-अलग पारिभाषिक शब्द बना लिये तो फिर भारतवर्ष की कोई राष्ट्रीय विद्या और विज्ञान-सम्बन्धी भाषा न बन सकेगी। बॅगला, मराठी, गुजराती और कन्नडी आदि भाषाएँ सस्कृत की सहायता से यह कठिनता दूर कर सकती है। उर्दू भी अरबी और फारसी की सहायता से अपनी पारिभाषिक आवश्यकताएँ पूरी कर सकती है। परन्तु हमारे लिए ऐसे शब्द प्रचलित अँग्रेजी पारिभाषिक शब्दों से भी कही अधिक अपरिचित होगे। 'आईन अकबरी' ने हिन्दू दर्शन, सगीत और गणित के लिए सस्कृत के प्रचलित पारिभाषिक शब्द ग्रहण करके एक अच्छा उदाहरण उपस्थित कर दिया है। इस्लामी दर्शन, धर्म-शास्त्र आदि में से हम प्रचलित अरबी पारिभाषिक शब्द ग्रहण कर सकते है। जो विद्याएँ पाश्चात्य देशो से अपने-अपने पारिभाषिक शब्द लेकर आयी हैं, यदि उन्हें भी हम उन शब्दों के सहित ग्रहण कर लें तो यह बात हमारी ऐतिहासिक परम्परा से भिन्न न होगी।

यह कहा जा सकता है कि मिश्रित हिन्दुस्तानी उतनी सरस और कोमल न हागी। परन्तु सरसता और कोमलता का मान दण्ड सदा बदलना रहता है। कई साल पहले अचकन पर अँग्रेजी टोपी बेजोड और हास्यास्पद मालूम होती था। लेकिन अब वह साधारणतः सभी जगह दिखायी देती है। स्त्रियो के लिए लम्बे-लम्बे सिर के बाल सौन्दर्य का एक विशेष स्तम्भ है, परन्तु आजकल तराशे हुए बाल प्रायः पसन्द किये जाते है। फिर किसी भाषा का मुख्य गुण उसकी सरसता नहीं है, बल्कि मुख्य गुण तो अभिप्राय प्रकट करने की शक्ति है। यदि हम सरसता और कोमलता की कुरबानी करके भी अपनी राष्ट्रीय भाषा का क्षेत्र विस्तृत कर सके तो हमे इसमे सकोच नही होना चाहिए। जब कि हमारे राजनीतिक ससार मे एक फेडरेशन या सघ की नींव डाली जा रही है, तब क्यों न हम साहित्यिक ससार मे भी एक फेडरेशन या सघ की स्थापना करे, जिसमे हरएक प्रान्तीय भाषा के प्रतिनिधि साल मे एक बार एक सप्ताह के लिए किसी केन्द्र मे एकत्र होकर राष्ट्रीय भाषा के प्रश्न पर विचार-विनिमय करे और अनुभव के प्रकाश मे सामने आनेवाली समस्याओं की मीमासा करे ? जब हमारे जीवन की प्रत्येक बात और प्रत्येक अग मे परिवर्तन हो रहे हैं और प्रायः हमारी इच्छा के विरुद्ध भी परिवर्तन हो रहे हैं, तो फिर भाषा के विषय मे हम क्यो सौ वर्ष पहले के विचारो और दृष्टिकोणो पर अडे रहे ? अब वह अवसर आ गया है कि अखिल भारतीय हिन्दुस्तानी भाषा और साहित्य की एक सभा या सस्था स्थापित की जाय जिसका काम ऐसी हिन्दुस्तानी भाषा की सृष्टि करना हो जो प्रत्येक प्रान्त मे प्रचलित हो सके। यहाँ यह बताने की आवश्यकता नहीं कि इस सभा या संस्था के कर्त्तव्य और उद्देश्य क्या होगे। इसी सभा या संस्था का यह काम होगा कि वह अपना कार्य-क्रम तैयार करे। हमारा तो यही निवेदन है कि अब इस काम मे ज्यादा देर करने की गुञ्जाइश नहीं है।

अन्तरप्रान्तीय साहित्यिक आदान-प्रदान के लिए

[इस शीर्षक के अन्तर्गत लेखक की चार महत्वपूर्ण टिप्पणियाँ प्रस्तुत की जा रही है जिनसे साहित्य और भाषा के अनेक सवालो पर रोशनी पड़ती है। ये टिप्पणियाँ अलग-अलग मौको पर लिखी गयी, लेकिन इनके पीछे काम करनेवाला विचार एक ही है, इसलिए इन्हे एक स्थान पर दिया जा रहा है।

—सग्रहकर्ता]

१ : एक सार्वदेशिक साहित्य-संस्था की आवश्यकता

भारत मे विज्ञान और दर्शन की, इतिहास और गणित की, शिक्षा और राजनीति की आलइडिया संस्थाएँ तो है; लेकिन साहित्य की कोई ऐसी सस्था नहीं है। इसलिए, साधारण जनता को अन्य प्रान्तो की साहित्यिक प्रगति की कोई खबर नहीं होती और न साहित्य-सेवियों को ही आपस मे मिलने का अवसर मिलता है।

बंगाल के दो-चार कलाकारो के नाम से तो हम परिचित है; लेकिन गुजराती, तामिल, तेलुगू और मलयालम आदि भाषाओ के निर्माताओं से हम बिल्कुल अपरिचित है। अँग्रेजी साहित्य का तो जिक्र ही क्या, फ्रास, जर्मनी, रूस, पोलैड, स्वेडेन, बेलजियम आदि देशो के साहित्य से भी अँग्रेजी अनुवादो द्वारा हम कुछ न कुछ परिचित हो गये है, लेकिन बॅगला को छोड़कर भारत की अन्य भाषाओ की प्रगति का हमे बिल्कुल ज्ञान नही है। हरेक प्रान्तीय भाषा अपना सम्मेलन अलग-अलग करती

है, और करना ही चाहिए। हरेक प्रान्त मे लोकल कौंसिलें हैं पर प्रान्तीय साहित्यो की केन्द्रीय संस्था कहाँ है? हमारे खयाल मे ऐसी एक सस्था की जरूरत है और यदि साहित्य सम्मेलन इसकी स्थापना करे, तो वह राष्ट्र और हिन्दी की बड़ी सेवा करेगा।

अभी तक हिन्दी ने जो विस्तार प्राप्त किया है, वह एक प्रकार से अपनी शक्ति द्वारा किया है। हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है, जो भारत के सभी बड़े शहरो मे समझी जाती है, चाहे बोली न जाती हो। अगर अँग्रेजी बीच मे न आ खडी होती, तो अन्य प्रान्तो के निवासी एक-दूसरे से हिन्दी ही मे बातें करते और अब भी करते हैं—यद्यपि वही, जो अँग्रेजी से अनभिज्ञ है।

अब वह समय आ गया है कि प्रान्तीय भाषाओ का सम्बन्ध ज्यादा घनिष्ट किया जाय और हमारे सस्कारो का ऐसा समन्वय हो जाय कि हम राष्ट्रीय भाषा का ही नहीं, राष्ट्रीय साहित्य का निर्माण भी कर सके। हरेक प्रान्त के साहित्य की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। यह आवश्यक है कि हमारी राष्ट्र-भाषा मे उन सारी विशेषताओ का सामजस्य हो जाय और हमारा साहित्य प्रान्तीयता के दायरे से निकलकर राष्ट्रीयता के क्षेत्र मे पहुँच जाय। इस विषय मे हम अन्य भाषाओ के कर्णधारा की सहायता और सहयोग से जितना आगे बढ सकते है, उतना और किसी तरह नहीं बढ़ सकते। यो तो कई बँगला और मराठी के विद्वान् हिन्दी मे बराबर लिख रहे है और अनुमान किया जा सकता है कि हिन्दी का क्षेत्र सदैव फैलता जायगा, लेकिन ऐसी राष्ट्रीय साहित्य-संस्था के द्वारा हम इस प्रगति को और तेज कर सकते हैं।

अभी हमे बम्बई जाने का अवसर मिला था। वहाँ गुजरात के प्रमुख साहित्य-सेवियो से बातचीत करने का हमे सौभाग्य प्राप्त हुआ। हमे मालूम हुआ कि वे ऐसी सस्था के लिए कितने उत्सुक है, बल्कि मैं तो कहूँगा कि यह प्रस्ताव उन्हीं महानुभावो का था और हिन्दी-साहित्य

सम्मेलन के माननीय अधिकारियो से अनुरोध करूँगा, कि वे इस प्रस्ताव को कार्यरूप मे परिणत करे। हिन्दी का प्रचार समस्त भारत मे बढ रहा है। यदि साहित्य-सम्मेलन ऐसी सस्था का आयोजन करे, तो मुझे विश्वास है कि अन्य भाषाओ के लेखक उसका स्वागत करेंगे और हिन्दी का गौरव भी बढेगा और विस्तार भी।

यह कौन नहीं जानता कि भारत मे प्रान्तीयता का भाव बढता जा रहा है। इसका एक कारण यह भी है, कि हरेक प्रान्त का साहित्य अलग है। यह आदान-प्रदान और विचार-विनिमय ही है, जिसके द्वारा प्रान्तीयता के सघर्ष को रोका जा सकता है। राष्ट्रों का निर्माण उसके साहित्य के हाथ मे है। यदि साहित्य प्रान्तीय है, तो उसके पढ़नेवालों मे भी प्रान्तीयता अधिक होगी। अगर सभी भारतीय भाषाओ के साहित्य-सेवियो का वार्षिक अधिवेशन होने लगे, तो सघर्ष की जगह सौम्य सहकारिता का भाव उत्पन्न होगा और यह निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि साहित्यो के सन्निकट हो जाने से प्रान्तो मे भी सामीप्य हो जायगा। जिन विद्वानो का अभी हमने नाम ही सुना है, उन्हे हम प्रत्यक्ष देखेंगे, उनके विचार उनके श्रीमुख से सुनेंगे और सत्सग से बहुत से भ्रम, बहुत सी सकीर्णताएँ आप ही आप शान्त हो जायँगी। अन्यत्र हम पी० ई० एन० नामक विश्व-साहित्य-सस्था का सक्षिप्त विवरण प्रकाशित कर रहे है। जब बड़ी बड़ी उन्नत भाषाओ को ऐसी एक सस्था की जरूरत मालूम होती है, तो क्या भारत की प्रान्तीय भाषाओ का एक केन्द्रीय संस्था से सम्बद्ध हो जाना आवश्यक नही है? भारत की आत्मा, अभिव्यक्ति के लिए अपने साहित्यकारो की ओर देख रही है। दार्शनिक उसके विचारो को प्रकट कर सकता है, वैज्ञानिक उसके ज्ञान की वृद्धि कर सकता है, उसका मर्म, उसकी वेदना, उसका आनन्द, उसकी अभिलाषा, उसकी महत्वाकाक्षा तो साहित्य ही की वस्तु है और वह महान शक्ति प्रान्तीय सीमाओं के अन्दर जकडी पड़ी है। बाहर की ताजा हवा और प्रकाश से वह वचित है और यह बन्धन उसके विकास और वृद्धि मे

है। साहित्य भी उसी जलवायु मे पूरी तरह विकास पा सकता है, जब उसमे आदान-प्रदान होता रहे, उसे चारो तरफ से हवा और रोशनी आजादी के साथ मिलती रहे। प्रान्तीय चारदीवारी के अन्दर साहित्य का जीवन भी पीला, मुर्दा और बे-जान होकर रह जायगा। यही विचार थे, जिन्होने हमे इस परिषद् की बुनियाद डालने को आमादा किया, और यद्यपि अभी हमे वह कामयाबी नही हुई है जिसकी हमने कल्पना की थी पर आशा है कि एक दिन यह परिषद् सच्चे अर्थों मे हिन्दुस्तान का साहित्यिक परिषद् बन जायगा। इस साल तो प्रान्तीय परिषदो से बहुत कम लोग आये थे। इसका एक कारण यह हो सकता है कि हमे जल्दी से काम लेना पड़ा। हम पहले से अपना कार्यक्रम निश्चित न कर सके, प्रान्तीय साहित्यकारो को काफी समय पहले कोई सूचना न दी जा सकी। महात्माजी की बीमारी के कारण दो बार तारीखें बदलनी पड़ी। इतने थोडे समय मे जो कुछ हुआ, वही गनीमत है। हमे गर्व है कि परिषद् की बुनियाद महात्माजी के हाथो पडी। अपने जीवन के अन्य विभागो की भाँति साहित्य मे भी, जिसका जीवन से गहरा सम्बन्ध है, उन्होने लोकवाद का समावेश किया है और गुजराती-साहित्य मे एक खास शैली और स्कूल के आविष्कारक है। आपने बहुत ठीक कहा कि—

'मेरी दृष्टि मे तो साहित्य की कुछ सीमा-मर्यादा होनी चाहिए। मुझे पुस्तको की संख्या बढ़ाने का मोह कभी नही रहा है। प्रत्येक प्रान्त की भाषा मे लिखी और छपी प्रत्येक पुस्तक का परिचय दूसरी सब भाषाओं मे होना मै आवश्यक नहीं मानता। ऐसा प्रयत्न यदि सभव भी हो, तो उसे मै हानिकर समझता हूँ। जो साहित्य एकता का, नीति का, शौर्यादि गुणो का, विज्ञान का पोषक है उसका प्रचार प्रत्येक प्रान्त मे होना आवश्यक और लाभदायक है। भारयीय परिषद् का यही उद्देश्य होना चाहिए कि प्रान्तीय भाषाओ मे जो कुछ ऊँचा उठाने वाला, जीवन देनेवाला, बुद्धि और आत्मा का परिष्कार करने वाला अश है—उसी का हिन्दुस्तानी द्वारा दूसरी भाषाओ को परिचय कराया जाय।'

कुछ लोगों को एतराज है कि महात्माजी ने अपने भाषण मे शृङ्गार-रस का बहिष्कार कर दिया है और उसे निकृष्ट कहा है। यह भ्रम इसलिए हुआ है कि 'शृङ्गार' का आशय समझने मे भेद है। शृङ्गार अगर सौंदर्य-बोध को दृढ करता है, हममे ऊँचे भावो को जाग्रत करता है तो उसका बहिष्कार कौन करेगा। महात्माजी ने बहिष्कार तो उस शृङ्गार साहित्य का किया है जो अश्लील है। एक दल साहित्यकारो का ऐसा भी है, जो साहित्य को श्लील-अश्लील के बन्धन से मुक्त समझता है। वह कालिदास और वाल्मीकि की रचनाओ से अश्लील शृङ्गार की नजीरें देकर अश्लीलता की सफ़ाई देता है। अगर कालिदास या वाल्मीकि या और किसी नये या पुराने साहित्यकार ने अश्लील शृङ्गार रचा है, तो उसने सुरुचि और सौंदर्य-भावना की हत्या की है। जो रचना हमे कुरुचि की ओर ले जाय, कामुकता को प्रोत्साहन दे, समाज मे गदगी फैलाये, वह त्याज्य है, चाहे किसी की भी हो। साहित्य का काम समाज और व्यक्ति को ऊँचा उठाना है, उसे नीचे गिराना नही। महात्माजी ने खुद इन शब्दो मे उसकी व्याख्या की है।

'आजकल शृङ्गार-युक्त अश्लील साहित्य को बाढ़ सब प्रान्तों मे आ रही है। कोई तो यहाँ तक कहते है कि एक शृङ्गार को छोड़कर और कोई रस है ही नहीं। शृङ्गार-रस को बढ़ाने के कारण ऐसे सज्जन दूसरो को 'त्यागी' कहकर उनकी उपेक्षा और उपहास करते है। जो सब चीजो का त्याग कर बैठते हैं, वे भी रस का तो त्याग नही कर पाते। किसी-न-किसी प्रकार के रस से हम सब भरे है। दादाभाई ने देश के लिए सब कुछ छोड़ा था, वे तो बडे रसिक थे। देश-सेवा ही उन्होंने अपना रस बना रक्खा था।'

हर एक समाज की ज़रूरते अलग-अलग हुआ करती हैं, उसी तरह जैसे हर एक मनुष्य को अलग-अलग भोजन की जरूरत होती है। एक बलवान्, स्वस्थ आदमी का भोजन अगर आप एक जीर्ण रोगी को खिला दे, तो वह संसार से प्रस्थान कर जायगा। उसी तरह एक रोगी

का भोजन आप एक स्वस्थ आदमी को खिला दें, तो शायद थोड़े दिनो मे वह खुद रोगी हो जाय। इगलैड या फ्रास समृद्धि के ऊँचे शिखर पर पहुँच गये है वे अगर शराब और नाच और कामुकता मे मग्न हो जायँ, तो उनके लिए विशेप चिन्ता की बात नही। उनके राष्ट्र-देह मे इन विपों को पचाने की ताकत है। हिन्दुस्तान जो गुलामी के जजीरों मे जकडा हुआ एड़ियाँ रगड रहा है, उसके लिए वह सभी चीजे त्याज्य और निषिद्ध है जिनसे जीवन-शक्ति क्षीण होती है, जिनसे सयम-शक्ति का ह्रास होता है। जो आँख केवल नग्न चित्र ही मे सौंदर्य देखती है, और जो रुचि केवल रति-वर्णन या नग्न-विलास मे ही कवित्व का सबसे ऊँचा विकास देखती है, उसके स्वस्थ होने में हमे सदेह है। यह 'सुन्दर' का आशय न समझने की बरकत है। जो लोग दुनिया को अपनी मुट्ठी मे बन्द किये हुए है, उन्हे दिमागी ऐयाशी का अधिकार हो सकता है। पर जहाँ फाका है और नग्नता है और पराधीनता है, वहाँ का साहित्य अगर नगी कामुकता और निर्लज्ज रति वर्णन पर मुग्ध है, तो उसका यही आशय है कि अभी उसका प्रायश्चित्त पूरा नही हुआ, और शायद दो-चार सदियो तक उसे गुलामी मे और बसर करनी पडेगी।

भारतीय-परिषद् के स्वागताध्यक्ष आचार्य काका कालेलकर का भाषण विद्वत्ता-पूर्ण है और इस उद्योग के सभी पहलुओ पर आपने काफी विचार किया है। आपने साहित्य के द्वारा राष्ट्र के एकीकरण की चर्चा करते हुए साम्प्रदायिकता और प्रान्तीयता को देश का महारोग बतलाया, और साहित्य मे इन गलत प्रवृत्तियो को रोकने के लिए नियत्रण की जरूरत बतलाई। आपने इस प्रयास की कठिनाई का अनुमान करते हुए कहा—

'साहित्य को पकड़कर रखना मुश्किल है, बाँध रखना अशक्य है। उसे कायदे के बन्धन में कम-से-कम बाँधना चाहिए। सदाचार और सुरुचि के प्रणेता शिष्ट पुरुषों का अकुश साहित्य के लिए अच्छा है।' लेकिन इसके साथ ही आप यह चेतावनी भी देते है—

'धर्माचार्य तो जीवन की वास्तविकता से कोसो दूर है। वे तो भूतकाल के आदर्शों को भी नही समझते। प्राचीन आदर्श पर जो जग चढा है, उसी को वे धर्म का रहस्य मान बैठे है।'

'यह नियत्रण तभी सफल हो सकेगा जब वह साहित्य की आत्मा से निकलेगा, जब भारतीय परिषद् पूर्ण रूप से विकसित होकर इस योग्य होगा कि संस्कृति के ऐसे महान् अग को कलुषित प्रवृत्तियो से बचाये। इसी तरह अनेक प्रश्नों पर परिषद् साहित्य-समाज की हित-साधना करता रहेगा।'

आपने भी महात्माजी के इस कथन का समर्थन किया कि हमारे साहित्य का आदर्श जन-सेवा होना चाहिए—

'जो साहित्य केवल विलासिता का ही आदर्श अपने सामने रखता है, उसके सगठन करने की आवश्यकता ही क्या ? हम तो जन-सेवा के लिए ही साहित्य की सेवा करने मे प्रवृत्त हुए है। भाषा जन-सेवा का कीमती साधन है। इसीलिए हम उसका महत्त्व मानते हैं। राष्ट्रीय एकता के बिना, सस्कृति-विनिमय के बिना, लोक-जीवन प्रसन्न, पुरुषार्थी और परिपूर्ण नही हो सकता है।'

परिषद् के स्वीकृत प्रस्तावो मे एक प्रस्ताव इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए रक्खा गया था—

अ) जो साहित्य जीवन के उच्च आदर्शों का विरोधी हो, सुरुचि को बिगाड़ता हो, अथवा साम्प्रदायिक सद्भावना मे बाधा डालता हो, ऐसे साहित्य को यह परिषद् हरगिज प्रोत्साहित न करेगा।

आ) लोक-जीवन के जीवित और प्रत्यक्ष सवालो को हल करने-वाले साहित्य के निर्माण को यह परिषद् प्रोत्साहन देगा।

परिषद् का अभी कोई विधान नहीं बन पाया है। उसके सचालन के लिए एक कमेटी बन गई है, और वही उसका विधान भी बनायेगी, और उसके कार्यक्रम का निश्चय भी करेगी। हमारी अभिलाषा है कि यह संस्था शुद्ध साहित्यिक संस्था हो, ताकि वह हिन्दुस्तान की साहित्यिक

एकाडेमी का पद ले सके। उसमे किसी सम्मेलन या भाषा को प्रधानता देना उसके लिए घातक होगा। उसे किसी भी प्रान्तीय-परिषद् के अतर्गत न होकर पूर्ण स्वतन्त्र होना चाहिए। प्रान्तीय परिषदो को उसके लिए मेम्बरों को चुनने का अधिकार होगा और उन्हे चाहिए कि ऐसे ही महानुभावो को उसमे भेजें जिन्होने अपनी साहित्य-सेवा और लगन से यह अधिकार प्राप्त कर लिया है। अगर वहाँ भी गिरोहबन्दी हुई, तो परिषद् की उपयोगिता ग़ायब हो जायगी। यहाँ सम्मान और अधिकार बाँटने का प्रश्न नहीं है। यहाँ तो ऐसे साहित्य सेवियो की ज़रूरत है, जो हमारे साहित्य को ऊँचा उठा सके, उसमे प्रगति ला सके, उसमे सार्वजनिकता पैदा कर सके। महात्माजी ने इस विषय मे जो सलाह दी है, वह हमे हृदयगम कर लेनी होगी—

'हमे अब सोच लेना है कि साहित्य सम्मेलन के कार्य और भारतीय-परिषद् के कार्य मे कुछ अतिव्याप्ति है या नही। साहित्य-सम्मेलन का कर्तव्य अन्य साहित्यो का सगठन करना नहीं है। उसका कर्तव्य तो हिन्दी-भाषा की सेवा करना है और हिन्दी का देश मे प्रचार बढ़ाना है। इस परिषद् का उद्देश्य हिन्दी-भाषा की सेवा करना नहीं है। इसका उद्देश्य तो अन्य साहित्यो के रत्न इकट्ठे करके उसे देश के आम वर्ग के सामने रखना है।'

इस वक्त भी कई प्रान्तो को परिषद् के नेक इरादो मे विश्वास नहीं है। उनका ख्याल है, कि हिन्दी वालो ने उन पर अपना प्रभुत्व जमाने के लिए यह नया स्वाग रचा है। उनके दिल से यह सन्देह मिटाना होगा और तभी वे उसमे शरीक होगे और परिषद् वास्तव मे हिन्दुस्तान के साहित्य परिषद् का गौरव पा सकेगा।

❦

३ : भारतीय साहित्य परिषद् की अस्ल हक़ीक़त

हैदराबाद के रिसाला 'उर्दू' मे मौलाना अब्दुल हक साहब ने भारतीय साहित्य-परिषद् के जलसे का सक्षिप्त हाल लिखते हुए कुछ ऐसी बातें लिखी है जो हमारे खयाल मे गलतफहमी के कारण पैदा हुई है, और उन शंकाओं के रहते हुए हमे भय है कि कहीं परिषद् को उर्दू के सहयोग से हाथ न धोना पड़े। इसलिए जरूरी मालूम होता है कि उस विषय पर हम अपने विचार प्रकट करके उन शकाओं को मिटाने की चेष्टा करे। भारतीय साहित्य-परिषद् ने जब हिन्दुस्तान के सभी साहित्यों के प्रतिनिधियों को निमंत्रित किया, तो इसीलिए कि इस साहित्यिक उद्योग मे हम सब राजनैतिक मतभेदो को भूलकर शरीक हों, और कम-से-कम साहित्य के क्षेत्र मे तो एकता का अनुभव कर सकें। अगर परिषद् के बानियो का उद्देश्य इस बहाने से केवल हिन्दी का प्रचार करना होता, तो उसे सभी साहित्यों को नेवता देने की कोई जरूरत न थी। हिन्दी-प्रचार का काम हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और नागरी-प्रचारिणी सभा के ज़रिये हो रहा है। उस काम के लिए एक नया परिषद् ही क्यों बनाया जाता। हमारे सामने यही, और एक मात्र यही उद्देश्य था कि हिन्दुस्तान मे कोई ऐसी सस्था बनाई जाय, जिसमे सभी भाषाओ के साहित्यकार आपस मे मिलें, साहित्य और समाज के नये-नये जटिल प्रश्नों पर विचार करें, साहित्य की नई विचारधाराओं की आलोचना करे, और इस तरह उनमे एक विशाल बिरादरी के अङ्ग होने की भावना जागे, उनमें आत्म-विश्वास पैदा हो, उन्हें दूसरे साहित्यों का ज्ञान हो और अपने साहित्य में जो कमी नज़र आये, उसे पूरा कराने की प्रेरणा मिले। यह सभी मानते हैं कि अगर हिन्दुस्तान का जिन्दा रहना है, तो वह एक राष्ट्र के रूप मे ही ज़िन्दा रह सकता है, एक राष्ट्र बनकर ही वह संसार की सस्कृति में अपने स्थान की रक्षा कर सकता है, अपने खोये हुए गौरव

को पा सकता है। अलग-अलग राष्ट्रो के रूप मे तो उसकी दशा फिर वही हो जायगी, जो मुसलमानो और उसके बाद ॲंग्रेजो के आने के समय थी। हममे से कोई भी यह नहीं चाहता कि हमारे प्रान्तीय भेद भाव फिर वही रूप धारण करें कि जब एक प्रात शत्रु के पैरो के नीचे पड़ा हो, तो दूसरा प्रान्त ईर्ष्यामिश्रित हर्ष के साथ दूर से बैठा तमाशा देखता रहे। यह कहने मे हमे कोई सकोच नहीं है कि ॲंग्रेजो के आने के पहले हममे राष्ट्रीय भावना का नाम भी न था। यह सच है कि उस वक्त राष्ट्र-भावना इतनी प्रबल और विकसित न हुई थी, जितनी आज है, फिर भी यूरोप मे इस भावना का उदय हो गया था। उदय ही नहीं हो गया था, प्रखर भी हो गया था। ॲंग्रेजो की संगठित राष्ट्रीयता के सामने हिन्दुस्तान की असगठित, बिखरी हुई जनता को परास्त होना पड़ा। इसम सन्देह नहीं कि उस वक्त भी हिन्दुस्तान मे सास्कृतिक एकता किसी हद तक मौजूद थी, मगर वह एकता कुछ उसी तरह की थी, जैसी आज यूरोप के राष्ट्रो मे पाई जाती है। वेदा और शास्त्रो को सभी मानते थे, जैसे आज बाइबल को सारा यूरोप मानता है। राम और कृष्ण और शिव के सभी उपासक थे, जैसे सारा यूराप ईसा और अनेक महात्माओं का उपासक है। कालिदास, वाल्मीकि, भवभूति आदि का आनन्द सभी उठाते थे, जैसे सारा यूरोप होमर और वर्जिल या प्लेटो और अरस्तू का आनन्द उठाता है। फिर भी उनमे राष्ट्रीय एकता न थी। यह एकता ॲंग्रेजी राज्य का दान है और जहॉं ॲंग्रेज़ी राज्य ने देश का बहुत कुछ अहित किया है, वहॉं एक बहुत बड़ा हित भी किया है, यानी हममे राष्ट्रीय भावना पैदा कर दी। अब यह हमारा काम है कि इस मौके से फ़ायदा उठायें और उस भावना को इतना सजीव, इतना घनिष्ठ बना दें कि वह किसी आघात से भी हिल न सके। प्रान्तीयता का मर्ज फिर ज़ोर पकड़ने लगा है। उसके साफ़-साफ़ लक्षण दिखाई देने लगे है। इन दो सदियो की ग़ुलामी मे हमने जो सबक़ सीखा था, वह हम अभी से भूलने लगे है, हालॉंकि ग़ुलामी अभी ज्यों

की-त्यो कायम है। अनुमान कह रहा है कि प्राविशल आटोनोमी मिलते ही प्रान्तीयता और भी ज़ोर पकड़ेगी, प्रान्तो मे द्वेष बढेगा, और यह राष्ट्र-भावना कमजोर पड जायगी। भारतीय परिषद् का उद्देश्य जहाँ साहित्यिक सगठन, सच्चे साहित्यिक आदर्शों का प्रचार और साहित्यिक सहयोग था, वहाँ एक उद्देश्य यह भी था कि उस सगठन और सहयोग के द्वारा हमारी राष्ट्र-भावना भी बलवान् हो। हमारा यह मनोभाव कभी न था कि इस उद्योग से हम प्रान्तीय साहित्यो की उन्नति और विकास मे बाधा डाले। जब हमारी मातृभषाएँ अलग हैं, तो साहित्य भी अलग रहेगे। अगर एक-एक प्रान्त रहकर हम अपना अस्तित्व बनाये रह सकते, तो हमे इस तरह के उद्योग की जरूरत ही न होती, लेकिन हम यह अनुभव करते है कि हमारा भविष्य, राष्ट्रीय एकता के हाथ है। उसी पर हमारी जिंदगी और मौत का दारमदार है। और राष्ट्रीय एकता के कई अंगो मे भाषा और साहित्य की एकता भी है। इसलिए साहित्यिक एकता के विचार के साथ एक भाषा का प्रश्न भी अनायास ही बिना बुलाये मेहमान की तरह आ खड़ा होता है। भाषा के साथ लिपि का प्रश्न भी आ ही जाता है। और परिषद् के इस जलसे मे भी ये दोनो प्रश्न आ गये।

झगड़ा हुआ भाषा पर, यानी साहित्य-परिषद् भाषा के किस रूप का आश्रय ले। 'हिन्दी' शब्द से उर्दू को उतनी ही चिढ़ है जितनी 'उर्दू' से हिन्दी को है। और यह भेद केवल नाम का नहीं है। हिन्दी जिस रूप मे लिखी जा रही है, उसमे संस्कृत के शब्द बेतकल्लुफ आते है। उर्दू जिस रूप मे लिखी जाती है उसमे फारसी और अरबी के शब्द बेतकल्लुफ़ आते है। इन दोनो का बिचला रूप हिन्दुस्तानी है, जिसका दावा है कि वह साधारण बोल-चाल की ज़बान है, जिसमे किसी भाषा के शब्दों का त्याग नहीं किया जाता, अगर वह बोल-चाल मे आते हैं। हिन्दी को 'हिन्दुस्तानी' चाहे उतना प्रिय न हो, पर उर्दू को 'हिन्दुस्तानी' के स्वीकार करने मे कोई बाधा नहीं है क्योकि उसे वह अपनी परिचित-सी लगती है। मगर परिषद् ने 'हिन्दुस्तानी' को अपना माध्यम बनाना न

स्वीकार करके 'हिन्दी हिन्दुस्तानी' को स्वीकार किया। उर्दूवालों को 'हिन्दी हिन्दुस्तानी' का मतलब समझने न आया, शायद वह समझे कि हिन्दी हिन्दुस्तानी केवल हिन्दी का ही दूसरा नाम है। यही उन्हे भ्रम हुआ कि शायद हिन्दुस्तानी के साथ हिन्दी को जोडकर उर्दू के साथ अन्याय हो रहा है। इसी बदगुमानी मे पड़कर मौलाना अब्दुल हक साहब क कलम से ये शब्द निकले है—

'एक दिन वह था कि महात्मा गान्धी ने हिन्दुस्तानी यानी उर्दू जबान और फारसी हरूफ मे अपने दस्तेखास से हकीम अजमलखाँ का खत लिखा था और आज वह वक्त आ गया है कि उर्दू तो उर्दू, वह तनहा 'हिन्दुस्तानी' का लफ्ज भी लिखना और सुनना पसन्द नहीं करते। उन्होने अपनी गुफतगू मे एक बार नहीं कई बार फरमाया कि अगर रेजोल्यूशन मे तनहा 'हिन्दुस्तानी' का लफ्ज रक्खा गया तो उसका मतलब उर्दू समझा जायगा लेकिन उनको नेशनल कांग्रेस के रेजोल्यूशन मे तनहा हिन्दुस्तानी का लफ्ज़ रखते हुए यह खयाल न आया। आखिर इसकी क्या वजह है ? कौन से ऐसे अस्बाब पैदा हो गये हैं जो इस हैरतअगेज इन्कलाब के बाइस हुए। गोर करने के बाद मालूम हुआ कि इस तमाम तगैयुर व तबद्दुल, जोड़ तोड़, दाँव-पेंच का बाइस हमारे मुल्क का बदनसीब पालिटिक्स है। जब तक महात्मा गाधी और उनके रफका (सहकारियों) को यह तवक्का (आशा) थी कि मुसलमानों से कोई सियासी (राजनैतिक) समझौता हो जायगा, उस वक्त तक वह हिन्दुस्तानी-हिन्दुस्तानी पुकारते रहे, जो थपककर सुलाने के लिये अच्छी खासी लोरी थी; लेकिन जब उन्हे इसकी तवक्का न रही, या उन्होने ऐसे समझौते की जरूरत न समझी, तो रिया (फरेब) की चादर उतार फेकी और असली रग मे नजर आने लगे। वह शौक से हिन्दी का प्रचार करें। वह हिन्दी नहीं छोड़ सकते ता हम भी उर्दू नहीं छोड़ सकते। उनको अगर अपने वसीअ जराए और वसायल (विशाल साधनों) पर घमंड है, तो हम भी कुछ ऐसे हेठे नहीं है।'

हमे मौलाना अबदुल हक-जैसे वयोवृद्ध, विचारशील और नीति-चतुर बुजुर्ग के कलम से ये शब्द देखकर दुःख हुआ। जिस सभा में वह बैठे हुए थे, उसमे हिन्दीवालो की कसरत थी। उर्दू के प्रतिनिधि तीन से ज्यादा न थे। फिर भी जब 'हिन्दी हिन्दुस्तानी' और अकेले हिन्दुस्तानी पर वोट लिये गये तो 'हिन्दुस्तानी' के पक्ष में आधो से कुछ ही कम राये आई। अगर मेरी याद ग़लती नहीं कर रही है तो शायद पन्द्रह और पचीस का बटवारा था। एक हिन्दी-प्रधान जलसे मे जहाँ उर्दू के प्रतिनिधि कुल तीन हो; पन्द्रह रायो का हिन्दुस्तानी के पक्ष मे मिल जाना हार होने पर भी जीत ही है। बहुत सभव है कि दूसरे जलसे मे हिन्दुस्तानी का पक्ष और मज़बूत हो जाता। और जो हिन्दुस्तानी अभी व्यवहार मे नहीं आई, उसके और ज्यादा हिमायती नहीं निकले तो कोई ताज्जुब नही। जो लोग 'हिन्दुस्तानी' का वकालतनामा लिये हुए हैं, और उनमे एक इन पक्तियो का लेखक भी है, वह भी अभी तक 'हिन्दुस्तानी' का कोई रूप नहीं खड़ा कर सके। केवल उसकी कल्पना-मात्र कर सके हैं, यानी वह ऐसी भाषा हो, जो उर्दू और हिन्दी दोनों ही के सगम की सूरत मे हो, जो सुबोध हो और आम बोल-चाल की हो। यह हम हिन्दुस्तानी-हिमायतियो का कर्तव्य है कि मिलकर उसका प्रचार करें, उसे ऐसा रूप दें कि उर्दू और हिन्दी दोनो ही पक्षवाले उसे अपना लें। दिल्ली और लाहौर मे हिन्दुस्तानी सभाएँ खुली हुई हैं। दूसरे शहरों मे भी खोली जा सकती हैं। यह उनका कर्तव्य होना चाहिए कि हिन्दुस्तानी के विकास और प्रचार का उद्योग करें। और अभी जो चीज सिर्फ कल्पना है, वह सत्य बनकर खड़ी हो जाय। हम मौलाना साहब से प्रार्थना करेंगे कि परिषद् से इतनी जल्द बड़ी-बड़ी आशाएँ न रक्खें और नीयतो पर शुबहा न करें। मुमकिन है आज जो बात मुश्किल नज़र आ रही है, वह साल-दो-साल मे आसान हो जाय। केवल तीन उर्दू पक्षवालों की मौजूदगी का ही यह नतीजा था कि परिषद्

ने अपने रेजोल्यूशनो की भाषा में तरमीम स्वीकार की। अभी से निराश होकर वह परिषद् का जीवन खतरे मे न डाले।

❦

४ : प्रान्तीय साहित्य की एकता

आज 'हंस' भारत के समस्त साहित्यों का मुखपत्र बनने की इच्छा से एक नई विशाल भावना को लेकर अवतीर्ण हो रहा है। इसका मुख्य उद्देश्य है भारत के भिन्न भिन्न प्रान्तो की साहित्य समृद्धि को राष्ट्रवाणी हिन्दी के द्वारा सारे भारत के आगे उपस्थित करना।

राष्ट्र, वस्तु नहीं...वह एक भावना है। करोड़ों स्त्री पुरुषो की संकल्पयुक्त इच्छा पर इस भावना की रचना हुई है। आज अगणित भारतवासी अपने आचार और विचार मे इसी भावना को व्यक्त कर रहे हैं। सारा हिन्द एक और अविभाज्य है।

यह भावना, कई तरह से, कई रूपो मे प्रकट है। अंग्रेजी पढ़े लिखे लोग अंग्रेजी भाषा के द्वारा इस भावना को जाहिर करते है; दूसरे अनेक अपनी अपनी मातृभाषा मे। प्रयत्न एक ही दिशा मे अनेकों हो रहे हैं। वे राष्ट्रभाषा और साहित्य के बिना एकरूप नहीं हो सकते।

अब हिन्दी, राष्ट्रभाषा के रूप मे सर्वजनमान्य हो चुकी है। महात्मा गान्धी जैसे राष्ट्र विधाता इसे जीवित राष्ट्रभाषा बनाने का व्रत ले चुके हैं। परन्तु यह भाषा सिर्फ व्यवहार की, आपस के बोलचाल की ही नहीं, साहित्य की भी होनी चाहिए। सास्कारिक विनिमय तथा सौन्दर्य दर्शन में भी उसका उपयोग होना चाहिए। यदि भारत एक और अविभाज्य हो, तो इसका संस्कार-विनिमय और सौन्दर्य-दर्शन एक ही भाषा मे और परस्परावलम्बी साहित्य-प्रवाह द्वारा करना चाहिए।

भारतीय राष्ट्रभाषा कोई भी हो, उसमे हमें प्रत्येक देश भाषा के

तत्वों का बल पहुँचाना होगा। भारतीय साहित्य वही है, जिसमें प्रान्त-प्रान्त की साहित्य-समृद्धि का सर्वांग सुन्दर सार-तत्व हो। अपने राष्ट्र की आत्मा का साहित्य द्वारा सबको दर्शन होना चाहिए। ये ही विचार हमारे इस प्रयत्न के प्रेरणा रूप है।

देश के सभी प्रान्तों के साहित्य मे आन्तरिक एकता भरी हुई है। साहित्यिक रचनाएँ चाहे जिस भाषा मे लिखी गई हों, वे एक सूत्र मे पिरोई हुई हैं। यह सूत्र कोई नया नहीं, परम्परा से चला आ रहा है। हर एक साहित्य मे भगवान व्यास कृष्ण द्वैपायन की प्रेरणा है। रामायण के अप्रतिम सौन्दर्य का प्रतिबिम्ब उसमे झलकता है। पुराणों की प्रतिध्वनियाँ युग-युग के साहित्य मे गूँजती है। संस्कृत साहित्य के निर्माताओं की ज्योति ने प्रत्येक प्रान्त के साहित्यकारो को प्रोत्साहन दिया है। अपने कथा साहित्य ने भी एकसूत्र-रूप हो हरेक प्रान्त के साहित्य को एक श्रखला मे बाँध लिया है। जातक की कथाएँ किसी न किसी रूप मे प्रत्येक प्रान्तीय साहित्य में मिलती है। गुणाढ्य की बृहत्कथा और पचतन्त्र के अनुवाद सभी प्रान्तो मे प्रेम से अपनाये गये है। यह अपनी लोक कथायें इस देश की स्वयभू और जीवन साहित्य हैं और इसका मूल तत्व इस देश की, यहाँ की प्रजा की समान संस्कारी कल्पना मे है।

पिछले काल मे भगवत् धर्म और भगवद्भक्ति ने हर एक प्रान्त के साहित्य को पुनर्जन्म दिया है। विद्यापति और चंडीदास, सूर और तुलसी, नरसी, मीरा और कबीर, ज्ञानदेव और साधु तुकाराम, आलवार और और आचार्यों के पद शकर, रामानुज, मध्व, वल्लभ और चैतन्य के प्रभावशाली सिद्धान्त एक ओर से भारत की सास्कारिक एकता का ख्याल कराते है और दूसरी तरफ समस्त भारत के सस्कारों को एक रूप बनाते हैं।

और मुस्लिम राज्य काल मे हिन्दू मुस्लिम सस्कारों के विनिमय का असर किस प्रान्त पर नहीं पड़ा? अगर संगीत मे मुसलमानों ने हिन्दुओं की शब्दावली और रस को अपनाया, तो नीति और राजकीय विषयो मे

मुसलमानो की शब्दावली का यहाँ प्रचार हुआ। दोनो ने मिलकर हिन्दुस्तानी भाषा की सृष्टि की, जो आज हमारी राष्ट्रभाषा है और हिन्दुस्तानी का आदि कवि खुसरो था, जो बलबन का समकालीन था। उसकी पहेलियाँ और मुकरियाँ और पद आज तक हिन्दी भाषा की सम्पत्ति हैं और इस क्षेत्र मे अब तक कोई उसका जोड़ पैदा नहीं हुआ। सदियो तक सास्कृतिक आदान-प्रदान होता रहा। हिन्दू कवि फारसी और उसके बाद उर्दू मे कविता करते थे और मुसलमान कवि हिन्दी मे। जिन मुसलमान कवियो ने हिन्दी मे पद्य रचे, और हिन्दी पद्य ग्रन्थों की टीकाएँ कीं, उन पर आज भी हिन्दी को गर्व है। जायसी की पद्मावत तो हिन्दी भाषा का आज भी गौरव है. और सूफी कवियो ने तो मतों और पन्थो के बन्धन को तोडकर प्रेम और एकता की जो धारा चलाई उससे कौन सी भाषा प्रभावित नहीं हुई ? कई सदियो के ससर्ग से हमारी संस्कृति ने जो रूप धारण कर लिया है, उसमे किन जन समूहो का क्या अश है, उसका निर्णय करना आज असम्भव है।

अंग्रेजो के आने के बाद साहित्य के आदर्श अँग्रेजी साहित्य के आधार पर नये साचे मे ढले। निबन्ध, उपन्यास, गल्प, नाटक और कविता की समृद्धि संस्कृत साहित्य के बाण, माघ और कालिदास से आई है, पर उनका स्वरूप, सूक्ष्मता और सरसता, इंगलैंड में प्रचलित रोमान्टिसिज्म द्वारा निर्मित लेखक के हृदय से निकली हैं। और यह सब शैली, वर्डस्वर्थ, स्काट और लिटन की प्रेरणा से मिली है।

१९०४ ई० में बग भग के बाद जो ज्वलत राष्ट्रीयता का संचार हमारे जीवन में हुआ, उसका प्रतिबिम्ब प्रत्येक साहित्य मे मिलता है। आज महात्मा गान्धी के लेखों और भाषणों की और उसी तरह कवीन्द्र रवीन्द्र की कृतियों की प्रेरणा हर एक एक साहित्य को प्रगति के पथ पर अग्रसर कर रही है।

भारतीय साहित्य मे मौलिक एकता पहले भी थी और अब भी है, सिर्फ भाषा का परिधान हर प्रान्त मे पृथक्-पृथक् रहा। सारा साहित्य

एक ही स्थल पर एक ही भाषा द्वारा भारतीयो को मिलने लगे, तो जरूर यह एकता स्वरूप पाकर दृढ़ बनेगी। एक ही जगह मे और एक ही भाषा मे समस्त प्रान्तों का साहित्य संगृहीत होने से प्रत्येक साहित्य को स्फूर्ति और वेग मिले बिना न रहेगे। कुछ लोगो को यह खौफ है कि इससे प्रान्तीय साहित्यों की खूब या सरसता चली जायगी। कई भाइयों को इस प्रयत्न मे प्रान्तीय गौरव के भंग होने के लक्षण दीखते हैं, पर गहराई के साथ सोचें, तो यह भय बिना आधार का लगता है। प्रान्तीय साहित्य एक दूसरे के साथ बराबर की कतार मे खड़े हुए एक दूसरे का माप करते रहे, और एक दूसरे के सम्पर्क से नये आदेश, नई प्रेरणा, नई स्फूर्ति पाते रहे, क्या इससे किसी भी साहित्य को कोई आघात पहुँच सकता है? आज जो कई जगह हमारा साहित्य संकुचित होता हुआ दीख रहा है, वह प्रवाहित हो उठेगा। कालिदास, होमर, गेटे या शेली, ये मनुष्य मात्र को सरसता का पाठ सिखाते है। और जब तक हमारा प्रान्तीय साहित्य विशाल क्षेत्र मे न विचरण करे, तब तक विश्व साहित्य मे स्थान प्राप्त करने के लायक नहीं होगा। अतः इसमे सन्देह नहीं, इन प्रयत्नो के परिणामस्वरूप साहित्य सकुचित होने के बदले और भी अधिक रमणीयता तथा विशालता प्राप्त करेगा।

कुछ साहित्यकार कहते है, कि ये प्रयत्न हिन्दी मे किसलिए? अंग्रेजी मे क्यो नहीं?

यह पूर्वोक्त प्रश्न, यह बेढंगा सवाल, आज ई० स० १९३५ मे भी पूछा जा सकता है, इससे हमे आश्चर्य और दुःख होता है। इस देश में क्या इतनी शक्ति नहीं रही, और राष्ट्रभक्ति इतनी निस्सत्व हो गई है कि भारत को विदेशियो की भाषा द्वारा अपने प्राण व्यक्त करने के लिए मजबूर होना पड़े। और अगर यह बात ठीक है, तो हमे लज्जा के मारे डूब मरना चाहिए। अग्रेजी सुन्दर भाषा है, उसके साहित्य मे अमर सरसता समाई हुई है, उसकी प्रेरणा के सहारे हमारा बहुत सा आधुनिक साहित्य तिर्मित हुआ है; परन्तु यह भाषा कितने लोगों की समझ मे

आती है ? इस भाषा मे हम अपने भारतीय संस्कारो को किस रीति से दिखला सकते है ? अपनी देश भाषा से बधे हुए अपने सस्कारो को पर-भाषा के बेढंगे स्वरूप मे किस प्रकार व्यक्त करे ?

हिन्दी कई प्रान्तीय भाषाओ की बड़ी बहन है। उर्दू के साथ इसका बहुत निकट सम्बन्ध है। कई करोड़ प्रजा हिन्दी मे बोलती है, और उससे भी अधिक सख्या इसे समझ सकती है। आज इसे राष्ट्र सिंहासन पर राष्ट्र विधाताओं ने बिठाया है। इसे छोड़ हम क्या परभाषा मे साहित्य का विनिमय करें।

हिन्दी को छोड़कर दूसरी भाषा इस देश की हो नहीं सकती है। हमे इस वस्तु का भान, इस बात का विश्वास, जितनी जल्दी हो जाय, उतना ही इस देश का भाग्योदय जल्दी नजदीक आ पहुँचेगा।

हिन्दी मे हर एक प्रान्त का साहित्य अवतीर्ण हो तो यह प्रयाग या काशी की हिन्दी न होगी, इस हिन्दी मे हर एक प्रान्त की विशेषताएँ अवश्य होगी। इसकी वाक्य रचना मे विविधता आयेगी। इसके कोष मे अन्य अपरिचित भाषाओ के शब्द भी आकर जमा होगे। ऐसी अनेक सामग्रियों मे से नई राष्ट्रभाषा प्रकट होगी।

ऐसी एक सर्वसामान्य भाषा के लिए मौलिक हिन्दी का ही उपयोग करना जरूरी है। थोड़े सरल शब्दो की यह एक भाषा बने, यह सर्वथा वाछनीय है; परन्तु यह काम साहित्यिक दृष्टि से उतना सहल नहीं, यह हम अच्छी तरह समझते हैं। आज हिन्दी मे, बंगला मे, मराठी और गुजराती में, तेलुगू और मलयालम मे, सस्कृत के अश प्रति दिन बढते जा रहे हैं। संस्कृत की समृद्धि और उसके माधुर्य की सहायता न होती, तो इन भाषाओ का विकास सम्भव नहीं था, अर्थात् उसकी समृद्धि और माधुर्य रखने और सरलता को सुरक्षित रखने के लिए ये प्रश्न बहुत से साहित्यकारो के सामने उपस्थित हैं। वे इन कठिनाइयो को खूब जानते हैं, कि ये आसानी से हल होने वाली नहीं हैं। इससे भी बड़ा और महत्व का एक प्रश्न है। हिन्दू और मुसलमान...दोनों को समझ में आये, ऐसी

साहित्य की कौन सी भाषा है ? बाजार मे, लश्कर में, सामान्य व्यवहार मे सरल हिन्दी, सरल उर्दू के नजदीक आ सकती है; परन्तु जहाँ साहित्यिक वाक्पटुता, कविता, अर्थ सूचकता या अर्थ गम्भीरता का सवाल आयेगा, वहाँ यह भाषा निकम्मी हो जाती है। वहाँ प्रत्येक लेखक अपनी प्यारी मे से आवश्यक और अपेक्षित समृद्धि ले लेता है। इसमे निराशा के लिए जगह नहीं। हिन्दू मुसलमानो को एक साहित्य की भाषा पैदा कर छुटकारा पाना होगा। प्रत्येक पक्ष अपनी विशेषता खोकर या छोड़-कर आगे न बढ़े, दोनो पक्ष एक दूसरे की खूबियाँ अपना कर नई भाषा की सृष्टि कर सकेंगे।

इसके लिए जितना धीरज चाहिए, उतनी ही उदारता भी। संसार की बडी बड़ी वस्तुयें लम्बी मुद्दत और भगीरथ प्रयत्नो के बाद ही बनती है।

हिन्दी-साहित्य सम्मेलन

नागपुर मे हिन्दी-साहित्य सम्मेलन की काफी धूम-धाम रही। मेहमानों के ठहरने का इन्तजाम ऐग्रिकल्चर-कालेज के होस्टल मे किया गया था। आराम की सभी चीजें मौजूद थीं। भोजन भी किफ़ायत से और मुनासिब दामो मिलता था। सम्मेलन का पंडाल भी वहाँ से थोड़ी ही दूर पर था। मच पर तो शामियाना तना हुआ था पर श्रोताओ के लिए खुले मे फ़र्श का प्रबन्ध था। लाउड स्पीकर भी लगा हुआ था। फाटक पर और रास्ते के दोनो तरफ़ बिजली के रंगीन बल्ब लगा दिये गये थे। नेताओं का ऐसा जमघट सम्मेलन के किसी जलसे मे शायद ही हुआ हो। महात्माजी, पंडित जवाहरलालजी नेहरू, बाबू राजेन्द्र प्रसाद, सरदार साहब श्रीराजगोपालाचार्य आदि प्रतिष्ठित नेताओं ने सम्मेलन को गौरव

प्रदान कर दिया था। चौबीस अप्रेल की शाम को पडाल मे स्वागता-ध्यक्षजी का मुख्तसर॰ पर समयानुकूल भाषण हुआ। पश्चात् सभापति ने अपना सदारती भाषण सुनाया। अब तक हमने सम्मेलन के जितने सदारती भाषण पढे, हमे अपने कानो से सुनने का केवल एक बार दिल्ली मे अवसर मिला। उसमे दो-एक को छोड़कर सभी भाषणों का एक ढर्रा-सा निकला हुआ जान पड़ा। जो आया उसने हिन्दी-भाषा की उत्पत्ति से आरम्भ किया और उसके ही विकास की लम्बी कथा पढ़ सुनाई। साहित्य की समस्याओं और धाराओं से उसे कोई मतलब नहीं। बाबू राजेन्द्र प्रसाद का भाषण विद्वत्तापूर्ण भी था, आलोचनात्मक भी और व्यावहारिक भी। भाषा और साहित्य का ऐसा कोई पहलू नहीं, जिस पर आपने प्रकाश न डाला हो और मौलिक आदेश न दिया हो। भाषा के भडार को बढ़ाने के विषय मे आपने जो सलाह दी, उससे किसी भी प्रगतिशील आदमी को आपत्ति नहीं हो सकती। आपने बतलाया कि हिन्दी मे अरबी और फ़ारसी के जो शब्द आकर मिल गये हैं, उन्हे व्यवहार मे लाना चाहिए। पारिभाषिक शब्दो के विषय में आपका प्रस्ताव है कि यथासाध्य सभी प्रान्तीय भाषाओ मे एक ही शब्द रखा जाय। प्रत्येक भाषा मे अलग-अलग शब्द गढने मे समय और श्रम लगाना बेकार है। आपने यह भी बताया कि गॉव मे ऐसे हजारो शब्द हैं, जिनको हमने साहित्यिक हिन्दी से बाद कर दिया है, हालॉकि वे अपने आशय को जितनी सफ़ाई और निश्चयता से बताते हैं, वह सस्कृत से लिए हुये शब्दों मे नहीं पाई जाती।

साहित्य के मर्म के विषय मे भी आपके विचार इतने ऊँचे और मान्य है। आपने सच्चे-साहित्य की बात यो बताई—

'सच्चे साहित्य का एक ही माप है। चाहे उसमे रस कोई भी हो पर यदि वह मानव जाति को ऊपर ले जाता हो, तो सच्चा साहित्य है, और यदि उसका प्रभाव इससे उल्टा पड़ता हो, तो चाहे जैसी भी सुन्दर और ललित भाषा में क्यो न हो, वह ग्राह्य नहीं हो सकता।

इससे स्पष्ट है कि सच्चे साहित्य के निर्माण मे वही सफल हो सकता है जिसने तपस्या और सयम से अपने को इस योग्य बनाया हो। इसके लिए एक प्रकार की दैवी शक्ति चाहिए, जो पूर्व सस्कार और इस जन्म की तपस्या और सयम का ही फल हो सकती है।'

साहित्य मे संयम, साधना और अनुभूति का कितना महत्त्व है, इस पर ज़ोर देते हुए आपने आगे चलकर कहा—

'अनुभूति और मस्तिष्क-चमत्कार मे उतना ही भेद है, जितना मधु के सुन्दर वर्णन मे और उसके चखने मे। इसलिए चाहे जिस प्रकार के ग्रथ क्यो न लिखे जायँ, यदि वह अनुभूति और जीवन से निकले है, तो उनकी कीमत है और उनमे ओज और प्रभाव है। यदि वह केवल चमत्कार मात्र है, तो उन्हे केवल वागाडम्बर ही मानना चाहिए। इस कसौटी पर अपने आधुनिक साहित्य को कसा जाय, तो थोड़े ही ग्रन्थ खरे निकलेंगे। यही कारण है कि गोस्वामी तुलसीदास और सूरदास आज भी प्रिय है और करोड़ो के जीवन-सुधार मे प्रेरक होते हैं। उनके पदो मे एक प्रकार का आनन्द है, जो दूसरो की रचनाओ मे शीघ्र ही नही मिलता। इसलिए कविता और दूसरे साहित्य-निर्माण करनेवालों से यही सविनय निवेदन है कि यह उनका धर्म है कि युग और समय के अनुसार सच्चे साहित्य का निर्माण करे। जातीय जीवन की झलक साहित्य मे आनी चाहिए। हमारी भावनाओ और उमंगों को साहित्य मे प्रतिबिम्बित होना चाहिए। हमारी उम्मीदे, अभिलाषाएँ और उच्चाकाक्षाएँ साहित्य मे प्रदर्शित होनी चाहिए और उनको साहित्य से पुष्टि भी मिलनी चाहिए।'

इस भाषण का एक एक शब्द विचार और अनुकरण करने योग्य है। यही बाते हम भी बराबर कहते आये है; पर कही-कहीं उसका जवाब यही मिला है कि कला कला के लिए है, उसमे किसी प्रकार का उद्देश्य न होना चाहिए। आशा है वह सज्जन अब इस उत्तरदायित्वपूर्ण कथन को पढ़कर अपने विचारों मे तरमीम करेंगे।

सम्मेलन मे इतिहास-परिषद्, दर्शन-परिषद् और विज्ञान परिषद् की भी आयोजना की गई थी, पर हमे एक खास जरूरत से २५ की शाम ही को चला आना पड़ा, और उन परिषदो की कोई रिपोर्ट भी नही मिल सकी। यह सम्मेलन का काम था कि कम से-कम पत्रो-पत्रिकाओं के पास तो उनकी रिपोर्ट भेज देता। हमे साहित्य-परिषद् के सभापति श्री बालकृष्णजी 'नवीन' का भाषण पढ़ने को मिला। उसमे जोर है, प्रवाह है, जोश है। कवि सम्मेलनो की मौजूदा हालत और उसके सुधार के विषय मे आपने जो कुछ कहा, वह सर्वथा मानने योग्य है; पर जहाँ आपने कला को उपयोगिता के बन्धन से आजाद कर दिया, वहीं आपसे हमारा मतभेद है। आखिर कवि किस लिए कविता करता है? क्या कवि भी श्यामा चिड़िया है, जो प्रकृतिदत्त उल्लास मे अपना मीठा राग सुनाने लगता है? ऐसा तो नहीं है। श्यामा जगल मे भी गायेगी, कोई सुननेवाला है या नहीं, इसकी उसे परवा नहीं; बल्कि जमघट मे तो उसकी जबान बन्द हो जाती है। उसके पिंजरे पर कपड़े की मोटी तह लपेटकर जब उसे एकान्त के भ्रम मे डाला जाता है, तभी वह जमघट मे चहकती है। कवि तो इसीलिए कविता करता है कि उसने जो अनुभूति पाई है, वह दूसरो को दे, उन्हे अपने दुःख-सुख मे शरीक करे। ऐसा शायद ही कोई पागल कवि होगा, जो निर्जनता मे बैठकर अपनी कविता का आनन्द ले। कभी-कभी वह निर्जनता मे भी अपनी कविता का आनन्द लेता है, इसमे सन्देह नहीं; पर इससे उसकी तृप्ति नहीं होती। वह तो अपनी अनुभूतियों को, अपनी व्यथाओ को लिखेगा, छपायेगा और सुनायेगा। दूसरो को उससे प्रभावित होते देखकर ही उसे उसकी सत्यता का विश्वास होता है। जब तक वह अपने रोने पर दूसरों को रुला न ले, उसे इसका सन्तोष ही कैसे होगा कि वह वहीं रोया, जहाँ उसे रोना चाहिए था। दूसरो को सुन कर अपनी भावनाओ और व्यथाओं की सत्यता जाँचने का यह नशा इतना जबरदस्त होता है कि वह अपनी अनुभूतियों को मुबालगे के साथ बयान करता है, ताकि सुननेवालों पर

गहरा असर पड़े। इसलिए यह कहना कि कविता का कुछ उद्देश्य ही नहीं होता और उसको उपयोगिता के बन्धन मे बाँधना ग़लती है, एक सारहीन बात है। कवि को देखना होगा कि वह जो दूसरो को रुला रहा है, या हँसा रहा है तो क्यो ? मेरी पत्नी का स्वर्गवास हो गया है, तो मैं क्यो दूसरों के सामने रोता और उनको रुलाता फिरूँ ? इसीलिए कि बिना दूसरो के सामने रोये दिल का बोझ हलका नहीं होता ? नहीं। उसका उद्देश्य है, हमारी करुण भावनाओ को उत्तेजित करना, हमारी मानवता को जगाना और यही उसकी उपयोगिता है। मगर हम तो कवि की सभी अनुभूतियो के क़ायल नहीं। अगर उसने अपनी प्रेयसी के नखशिख के बखान मे वाणी का चमत्कार दिखाया है, तो हम देखेंगे कि उसने किन भावो से प्रेरित होकर यह रचना की है। अगर उससे हमारे मनोभावो का परिष्कार होता है, हममे सौन्दर्य की भावना सजग होती है, तो उसकी रचना ठीक, वरना ग़लत।

छोटी टिप्पणियाँ

हंस के जन्म पर

'हंस' के लिए यह परम सौभाग्य की बात है, कि उसका जन्म ऐसे शुभ अवसर पर हुआ है, जब भारत में एक नए युग का आगमन हो रहा है, जब भारत पराधीनता की बेडियों से निकलने के लिए तड़पने लगा है। इस तिथि की यादगार एक दिन देश में कोई विशाल रूप धारण करेगी। बहुत छोटी-छोटी, तुच्छ विजयों पर बड़ी-बड़ी शानदार यादगारें बन चली हैं। इस महान् विजय की यादगार हम क्या और कैसे बनावेंगे, यह तो भविष्य की बात है पर यह विजय एक ऐसी विजय है, जिसकी नज़ीर ससार में नहीं मिल सकती और उसकी यादगार भी वैसी ही शानदार होगी। हम भी उस नये देवता की पूजा करने के लिये, उस विजय की यादगार क़ायम करने के लिये, अपना मिट्टी का दीपक लेकर खडे होते हैं। और हमारी बिसात ही क्या है। शायद आप पूछें, सग्राम शुरू होते ही विजय का स्वप्न देखने लगे! उसकी यादगार बनाने की भी सूझ गई! मगर स्वाधीनता केवल मन की एक वृत्ति है। इस वृत्ति का जागना ही स्वाधीन हो जाना है। अब तक इस विचार ने जन्म ही न लिया था। हमारी चेतना इतनी मंद, शिथिल और निर्जीव हो गई थी कि उसमे ऐसी महान् कल्पना का आविर्भाव ही न हो सकता था; पर भारत के कर्णधार महात्मा गाधी ने इस विचार की सृष्टि कर दी। अब वह बढ़ेगा, फूले-फलेगा। अब से पहले हमने अपने उद्धार के जो उपाय सोचे, वह व्यर्थ सिद्ध हुए, हालाँकि उनके आरम्भ में भी सत्ताधारियों की ओर से ऐसा ही विरोध हुआ था। इसी भाँति इस संग्राम

मे भी एक दिन हम विजयी होगे। वह दिन देर मे आयेगा या जल्द, यह हमारे पराक्रम, बुद्धि और साहस पर मुनहसर है। हॉ, हमारा यह धर्म है कि उस दिन को जल्द से-जल्द लाने के लिये तपस्या करते रहे। यही 'हस' का ध्येय होगा, और इसी ध्येय के अनुकूल उसकी नीति होगी।

हंस की नीति

कहते हैं, जब श्रीरामचद्र समुद्र पर पुल बॉध रहे थे, उस वह वक्त छोटे-छोटे पशु-पक्षियों ने मिट्टी ला लाकर समुद्र के पाटने मे मदद दी थी। इस समय देश मे उससे कही विकट संग्राम छिडा हुआ है। भारत ने शान्तिमय समर की भेरी बजा दी है। हस भी मानसरोवर की शान्ति छोड़कर, अपनी नन्हीं-सी चोच मे चुटकी-भर मिट्टी लिये हुए, समुद्र पाटने—आजादी के जग मे योग देने—चला है। समुद्र का विस्तार देखकर उसकी हिम्मत छूट रही है; लेकिन सघ शक्ति ने उसका दिल मजबूत कर दिया है। समुद्र पटने के पहले ही उसकी जीवन-लीला समाप्त हो जायगी, या वह अन्त तक मैदान मे डटा रहेगा, यह तो कोई ज्योतिषी ही जाने, पर हमे ऐसा विश्वास है कि हस की लगन इतनी कच्ची न होगी। यह तो हुई उसकी राजनीति। साहित्य और समाज मे वह उन गुणों का परिचय देगा, जो परम्परा ने उसे प्रदान कर दिये हैं।

डोमिनियन और स्वराज्य

न डोमिनियन मॉगे से मिलेगा, न स्वराज्य। जो शक्ति डोमिनियन छीनकर ले सकती है, वह स्वराज्य भी ले सकती है। इग्लैण्ड के लिये दोनों समान हैं। डोमिनियस स्टेटस मे गोलमेज-कान्फ्रेस का उलझावा है, इसलिये वह भारत को इस उलझावे मे डाल कर भारत पर बहुत दिनो तक राज्य कर सकता है। फिर उसमे किस्तो की गुजायश है और किस्तो की अवधि एक हज़ार वर्षो तक बढ़ाई जा सकती है। इसलिए इग्लैण्ड का डोमिनियम स्टेटस के नाम से न घबड़ाना समझ मे आता है। स्वराज्य मे किस्तों की गुजायश नहीं, न गोलमेज़ का उलझावा

है, इसलिए वह स्वराज्य के नाम से कानो पर हाथ रखता है। लेकिन हमारे ही भाइयो मे इस प्रश्न पर क्यो मतभेद है, इसका रहस्य आसानी से समझ मे नही आता। वे इतने बेसमझ तो है नही कि इंग्लैण्ड की इस चाल को न समझते हों। अनुमान यही होता है कि इस चाल को समझकर भी वे डोमिनियन के पक्ष मे हैं, तो इसका कुछ और आशय है। डोमिनियन पक्ष को गौर से देखिए, तो उसमे हमारे राजे-महाराजे, हमारे जमींदार, हमारे धनी-मानो भाई ही ज्यादा नजर आते है। क्या इसका यह कारण है कि वे समझते है कि स्वराज्य की दशा मे उन्हे बहुत कुछ दबकर रहना पडेगा? स्वराज्य मे मजदूरो और किसानो की आवाज इतनी निर्बल न रहेगी? क्या यह लोग उस आवाज के भय से थरथरा रहे है? हमे तो ऐसा ही जान पडता है। वह अपने दिल मे समझ रहे है कि उनके हितों की रक्षा अंग्रेजी-शासन ही से हो सकती है। स्वराज्य कभी उन्हे गरीबो को कुचलने और उनका रक्त चूसने न देगा। डोमिनियम का अर्थ उनके लिये यही है कि दो-चार गवर्नरियाँ दो-चार बडे-बड़े पद, उन्हे और मिल जायँगे। इनका डोमिनियन स्टेटस इसके सिवा और कुछ नही है। ताल्लुकेदार और राजे इसी तरह गरीबो को चूसते चले जायँगे। स्वराज्य गरीबों की आवाज है, डोमिनियन गरीबो की कमाई पर मोटे होनेवालो की। सम्भव है, अभी अमीरो की आवाज कुछ दिन और गरीबो को दबाये रक्खे। गरीबों के सब्र का प्याला अब भर गया है। इंग्लैण्ड को अगर अपना रोजगार प्यारा है, अगर अपने मजदूरो की प्राण-रक्षा करनी है; तो उसे गरीबो को आवाज को ठुकराना नहीं चाहिए, वरना भारत के राजों और शिक्षित-समाज के ऊँचे ओहदेदारो के सँभाले उसका रोजगार न सँभलेगा। जब एक बार गरीब समझ जायँगे कि इंग्लैण्ड उनका दुशमन है, तो फिर इंग्लैण्ड की खैरियत नही। इंग्लैण्ड अपनी संगठित शक्ति से उनका संगठित होना रोक सकता है; लेकिन बहुत दिनों तक नहीं।

युवकों का कर्तव्य

अब युवकों का क्या कर्तव्य है ? युवक नई दशाओं का प्रवर्त्तक हुआ करता है। संसार का इतिहास युवकों के साहस और शौर्य का इतिहास है। जिसके हृदय मे जवानी का जोश है, यौवन की उमग है, जो अभी दुनिया के धक्के खा-खाकर हतोत्साह नहीं हुआ, जो अभी बाल-बच्चों की फ़िक्र से आजाद है अगर वही हिम्मत छोड़कर बैठ रहेगा, तो मैदान मे आयेगा कौन ? फिर, क्या उसका उदासीन होना इसाफ की बात है ? आखिर यह सग्राम किस लिए छिड़ा है ? कौन इससे ज्यादा फायदा उठावेगा ? कौन इस पौधे के फल खावेगा ? बूढे चंद दिनों के मेहमान हैं। जब युवक ही स्वराज्य का सुख भोगेंगे, तो क्या यह इंसाफ की बात होगी, कि वह दुबके बैठे रहें। हम इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते, कि वह गुलामी मे खुश है और अपनी दशा को सुधारने की लगन उन्हे नहीं है। यौवन कहीं भी इतना बेजान नहीं हुआ करता। तुम्हारी दशा देखकर ही नेताओ को स्वराज्य की फ़िक्र हुई है। वह देख रहे हैं कि तुम जी तोड़कर डिग्रियाँ लेते हो पर तुम्हें कोई पूछता नही, जहाँ तुम्हे होना चाहिए, वहाँ विदेशी लोग डटे हुए हैं। स्वराज्य वास्तव मे तुम्हारे लिए है, और तुम्हे उसके आन्दोलन मे प्रमुख भाग लेना चाहिए। गवर्नर और चासेलर तुम्हे तरह-तरह के स्वार्थमय उपदेश देकर, तुम्हें अपने कर्तव्य से हटाने की कोशिश करेंगे, पर हमे विश्वास है, तुम अपना नफा-नुकसान समझते हो और अपने जन्म-अधिकार को एक प्याले-भर दूध के लिये न बेचोगे। लेकिन यह न समझो, कि केवल स्वराज्य का झंडा गाड़कर, और 'इन्क़लाब' की हाँक लगाकर तुम अपना कर्तव्य पूरा कर लेते हो। तुम्हे मिशनरी जोश और धैर्य के साथ इस काम में जुट जाना चाहिए। संसार के युवको ने जो कुछ किया है, वह तुम भी कर सकते हो। क्या तुम स्वराज्य का संदेश गाँव मे नहीं पहुँचा सकते ? क्या तुम गाँवों के संगठन में योग नहीं दे सकते ? हम सच कहते है, एल-एल० बी०, या एम० ए० हो जाने के बाद यह अमली तालीम,

वह अनुभव तुम्हें इतना हितकर होगा, जितना पुस्तक-ज्ञान उम्र-भर भी नहीं हो सकता। तुम मर्द हो जाओगे।

सरल जीवन स्वाधीनता के संग्राम की तैयारी हो

लेकिन जब हम अपने छात्रों का विलास-प्रेम देखते हैं, तो हमे उनके विषय मे बडी चिन्ता होती है। वह रोज अपनी जरूरते बढाते जाते हैं. विदेशी चीजो की चमक-दमक ने उन्हे अपना गुलाम बना लिया है। वे चाय और काफी के, साबुन और सेंट के और न-जाने कितनी अल्लम-गल्लम चीजों के दास हो गये हैं। बाजार में चले जाइए, आप युवको और युवतियों को शौक़ और विलास की चीजें खरीदने मे रत पाऍगे। वह यह समझ रहे हैं, कि विलास की चीजे बढ़ा लेने से ही जीवन का आदर्श ऊँचा हो जाता है। युनिवर्सिटियो में अपने अध्यापको का विलास-प्रेम देखकर यदि उन्हे ऐसा विचार होता है, तो उनका दोष नहीं। यहाँ तो आवें का आवाँ बिगड़ा हुआ है। सादे और सरल जीवन से उन्हें घृणा सी होती है। अगर उनका कोई सहपाठी सीधा-सादा हो, तो वे उसकी हँसी उड़ाते हैं, उस पर तालियाँ बजाते हैं। अग्रेज अगर इन चीजों के शौकीन हैं, तो इसलिए कि इस तरह वे अपने देश के व्यवसाय की मदद करते है। फिर, वह सम्पन्न हैं, हमारी और उनकी बराबरी ही क्या? उन्होंने फ़सल काट ली है, अब मजे से बैठे खा रहे हैं। हमने तो अभी फ़सल बोई भी नहीं, हम अगर उनकी नकल करें, तो इसके सिवा कि बीज खा डालें, और क्या कर सकते हैं। और यही हो रहा है। जिस गाढ़ी कमाई को देशी व्यवसाय और धधे मे खर्च होना चाहिए था, वह यूरोप चली जा रही है और हम उन आदतो के गुलाम होकर अपना भविष्य खाक मे मिला रहे हैं। शौक और सिंगार के बन्दे जिन्दगी मे कभी स्वाधीनता का अनुभव कर सकते हैं, हमे इसमे सन्देह है। विद्यालय से निकलते ही उन्हे नौकरी चाहिए—इसके लिये वह हर तरह की खुशामद और नकघिसनी करने के लिये तैयार है। नौकरी मिल गई, तो उन्हे अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिये ऊपरी आमदनी की फिक्र

होती है। उनकी आत्मा की स्वतन्त्रता, शौक की वेदी पर चढा दी जाती है। दुनिया के जितने बडे-से-बडे महापुरुष हो गये हैं, और है, वे जीवन की सरलता का उपदेश देते आये है और दे रहे है, मगर हमारे छात्र है, कि हैट और कालर की फिक्र मे अपना भविष्य बिगाड रहे हैं।

शांति-रक्षा

हिज एक्सेलेन्सी वाइसराय से लेकर सूबो के हिज एक्सेलेन्सियो तक सभी कानून और शाति की रक्षा की धमकियाँ दे रहे है, जिसका अर्थ यह है, कि इस वक्त कानून और शाति की रक्षा के लिये, जो कुछ किया जा रहा है, उससे ज्यादा और भीषण रीति से किया जायगा। और, उधर महात्मा गाधी है कि किसी दशा मे भी शाति को हाथ से नहीं छोड़ना चाहते, यहाँ तक कि अवज्ञा का सारा भार उन्होने अपने सिर ले लिया है।

जहाँ तक शाति-रक्षा का सबध है, ऐसा कौन आदमी होगा, जो सरकार से इस विषय मे सहयोग न करे और मुल्क मे बदअमली हो जाने दे। मगर मुशकिल यह है, कि सरकार ने जिस चीज का नाम शाति रख छोड़ा है, वह हमारे लिये न शाति है, न कानून। जो कानून राष्ट्र बनाता है, उसका पालन वह स्वय शाति-पूर्वक करता है, लेकिन जो कानून दूसरे लोग उसके लिए बना देते हैं, उसकी पाबदी वह करती तो है पर सगीनो और मशीनगनो के जोर से, और ऐसी शाति को कौन शाति कहेगा, जिसका आधार तलवारो की झकार और तोपो की गरज है! जहाँ तक हमे याद है, सरकार ने और चाहे जितनी गलतियाँ की हो, शाति की रक्षा मे उसने कभी गलती नहीं की। यह दूसरी बात है, कि हिन्दू मुसलमान आपस मे लड-लडकर एक दूसरे के प्राण ले, एक-दूसरे की जायदाद लूटें, घर मे आग लगावें, औरतो की आबरू बिगाडें! न जाने सरकार की शाति-रक्षिणी शक्ति ऐसे नाजुक मौको पर क्यों नहीं काम करती!

जेल-सुधार

जिस तरह किसी व्यक्ति के चरित्र का अन्दाजा उसके मित्रो को देखकर किया जा सकता है, उसी तरह किसी राज्य की सुव्यवस्था का अन्दाजा, उसके जेलो की दशा से हो सकता है। रूस के जेल भारत के जेलो को देखते स्वर्ग है। यहाँ तक कि ईरान जैसे देश के जेल भी बहुत कुछ सुधर चुके है। हमारे जेलों की दशा जितनी खराब है, शायद ससार मे, इस बात मे कोई उसका सानी न मिलेगा। जतीन्द्रनाथ दास के उत्सर्ग का कुछ फल उस सुधार के रूप मे निकला है, जो अभी किये गये है; मगर कैदियों का कई दरजो मे विभाजित किया जाना और हरेक कक्षा के साथ अलग-अलग व्यवहार करना, उन बुराइयों की दवा नही है। जेल ऐसे होने चाहिए, कि कैदी उसमे से मन और विचार मे कुछ सुधरकर निकले, यह नहीं कि उसके पतन की क्रिया वहाँ जाकर और भी पूरी हो जाय। इस सुधार से यह फल न होगा, हाँ जो धनी हैं, उन्हे वहाँ कुछ आराम हो जायगा। गरीब की सब जगह मौत है, जेल मे भी। मालूम नहीं ईश्वर के घर भी यही भेद-भाव है, या इससे कुछ अच्छी दशा है।

जापान के लोग लम्बे हो रहे हैं

हिन्दुस्तान के लोग दिन-दिन दुर्बल होते जाते है। लेकिन जापान के एक पत्र ने लिखा है—जापानियों का डील धीरे-धीरे ऊँचा हो रहा है। बलिष्ठ तो वे पहले भी होते थे; लेकिन अब वे ऊँचे भी हो रहे हैं। इसका कारण है, रहन-सहन मे सुधार। अब वे पहले से अच्छा और पुष्टिकारक भोजन पाते है, ज्यादा साफ और हवादार घरो मे रहते है, आर्थिक चिन्ताओ का भार भी कम हो गया है। जहाँ अस्सी फी सैकडे आदमी आधे पेट भोजन भी नहीं पाते, वे क्या बढ़ेगे और क्या मोटाएँगे? शायद सौ वर्ष के बाद हिन्दुस्तानियो की कहानी रह जायगी।

राजनीति और रिशवत

वर्तमान राजनीति मे रिशवत भी एक जरूरी मद है। क्या इंग्लैण्ड, क्या फ्रास, क्या जापान, सभी सभ्य और उन्नत दे ो में यह मरज दिन-दिन बढता जा रहा है। चुनाव लड़ने के लिए बडे-बडे लोग जमा किये जाते है और बोटरो से वोट लेने के लिए सभी तरह के प्रलोभनो से काम लिया जाता है। जब देश के शासक खुद ऐसे काम करते है, तो उसे रोके कौन? शैतान ही जानता है चुनाव के लिए कैसी-कैसी चाले चली जाती है, कैसे-कैसे दाँव खेले जाते है। अपने प्रतिद्वन्द्वी को नीचा दिखाने के लिए बुरे-से बुरे साधन काम मे लाये जाते हैं। जिस दल के पास धन ज्यादा हो, और कार्यकर्त्ता—कनवैसर—अच्छे हो, उसकी जीत होती है। यह वर्तमान शासन-पद्धति का कलंक है। इसका फल यह होता है कि सबसे योग्य व्यक्ति नहीं, सबसे चालबाज़ लोग ही चुनाव के सग्राम मे विजयी होते है। ऐसे ही स्वार्थी, आदर्श-हीन, विवेकहीन मनुष्यों के हाथ मे ससार का शासन है। फिर अगर ससार में स्वार्थ का राज्य है, तो क्या आश्चर्य!

पहले हिन्दुस्तानी, फिर और कुछ

हिन्दू तो हमेशा से यही रट लगाते चले आ रहे हैं लेकिन मुसलमान इस आवाज़ मे शरीक न थे। बीच मे एक बार मौ० मुहम्मदअली या शायद उनके बड़े भाई साहब ने यह आवाज मुंह से निकालने का साहस किया था; मगर थोडे दिनो के बाद उन्होंने फिर पहलू बदला और 'पहले मुसलमान फिर और कुछ' का नारा बलन्द किया। फिर क्या था, मुसलिम दल मे उनका जितना सम्मान कम हो गया था, उससे कई गुना ज्यादा मिल गया। आज अगर कोई मुसलमान 'पहले हिन्दुस्तानी' होने का दावा करे, तो उस पर चारो तरफ से बौछारें होने लगेगी। 'पहले मुसलमान' बनकर धर्मान्ध जनता की निगाह मे गौरव प्राप्त कर लेना तो आसान है; पर उसका मुसलमानो की मनोवृत्ति पर जो बुरा

असर पडता है, वह देश-हित के लिए घातक है। मुसलमान किसी प्रश्न पर राष्ट्र की आँखो से नहीं देखता, वह उसे मुसलिम आँखो से देखता है। वह अगर कोई प्रश्न पूछता है, तो मुसलिम दृष्टि से, किसी बात का विरोध करता है, तो वह मुसलिम दृष्टि से। लाखों मुसलमान बाढ और सूखे के कारण तबाह हो रहे है। उनकी तरफ किसी मुसलिम मेम्बर की निगाह नही जाती। आज तक कोई ऐसा मुसलिम संघटन नहीं हुआ, जो मुसलिम जनता की सासारिक दशा को सुधारने का प्रयत्न करता। हाँ, उनकी धार्मिक मनोवृत्ति से फायदा उठानेवालों की कमी नही है। महात्मा गाँधी खद्दर का प्रचार दिलोजान से कर रहे हैं। इससे मुसलमान जुलाहों का फ़ायदा अगर हिन्दू कोरियो से ज्यादा नहीं, तो कम भी नहीं है। लेकिन जहाँ इस सूबे के छोटे-से-छोटे शहर ने महात्माजी को थैलियाँ भेंट कीं, अलीगढ़ ने केवल सूखा ऐड्रेस देना ही काफी समझा। यह मुसलिम मनोवृत्ति है। देखा चाहिए, सर तेजबहादुर सप्रू सर्वदल सम्मेलन को सफल बनाने मे कहाँ तक सफल होते है। हमारी आशा तो नौजवान मुसलमानो का मुँह ताक रही है। इसलामिया कालेज लाहौर मे, जहाँ अधिकाश मुसलमान छात्र थे, स्वाधीनता का प्रस्ताव मुसलमान नेताओं के विरोध पर भी पास हो गया। इससे पता चलता है, कि हवा का रुख किधर है।

महात्माजी का वाइसराय से निवेदन

महात्माजी ने वाइसराय को जो पत्र लिखा है उसे Ultimatum कहना, उस पत्र के महत्त्व को मिटाना है। वह एक सच्चे, आत्मदर्शी हृदय के उद्‌गार है। उसमे एक भी ऐसा शब्द नहीं है, जिसमे मालिन्य, क्रोध, द्वेष या कटुता की गंध हो। उस पवित्र आत्मा में मालिन्य या द्वेष का स्थान ही नही है। वह किसी का शत्रु नही, सबका मित्र है। अँग्रेजी शासन का ऐसा सपूर्ण इतिहास इतने थोड़े-से शब्दो मे, इतनी सद्‌प्रेरणा के साथ महात्माजी के सिवा दूसरा कौन लिख सकता था। उस पत्र मे जितनी जागृति, जितनी स्फूर्ति, जितना सत्साहस है, वह शायद

भगवतगीता मे हो तो हो, और तो हमे कहीं नहीं मिलता। भारत के ही इतिहास मे नहीं, ससार के इतिहास मे भी वह यादगार बनकर रहेगा। पाठक के हृदय पर एक-एक शब्द देव-वाणी-सा प्रभाव डालता है, प्रतिक्षण आत्मा ऊँची होती जाती है, यहाॅ तक कि उसे समाप्त कर लेने पर आप अपने को एक नई दुनिया मे पाते हैं। महात्मा गाॅधी ने स्पष्ट कह दिया है, कि हम पद के लिए, धन के लिए, अधिकार के लिए स्वराज्य नहीं चाहते, हम स्वराज्य चाहते है उन गूॅगे, बेज़बान आदमियो के लिए, जो दिन-दिन दरिद्र होते जा रहे है। अगर आज सभी अॅग्रेज अफ़सरों की जगह हिन्दुस्तानी हो जायॅ, तब भी हम स्वराज्य से उतने ही दूर रहेगे, जितने इस वक्त है। हमारा उद्देश्य तो तभी पूरा होगा, जब हमारी दरिद्र, क्षुधित, वस्त्रहीन जनता की दशा कुछ सुधरेगी।

मगर हमारे ही देश मे हमारे ही कुछ ऐसे भाई हैं, जिन्हे इस निवेदन मे कोई नयी बात, कोई नया सन्देश नही नजर आता। उन पर उसके ऊॅचे, पवित्र भावो का ज़रा भी असर नहीं पड़ा। वह अब भी यही रट लगाये जा रहे हैं कि महात्माजी आग से खेल रहे है, समाज की जड खोदनेवाली शक्तियो को उभार रहे है। जिन्हे अॅग्रेजो के साथ मिलकर प्रजा को लूटते हुए अपना स्वार्थ सिद्ध करने का अवसर प्राप्त है, वे इसके सिवा और कह ही क्या सकते हैं। वे अपना स्वार्थ देखते है, अपनी प्रभुता का सिक्का जमते देखना चाहते हैं। उनके स्वराज्य मे गरीबो को मजदूरो को, किसानो को स्थान नहीं है, स्थान है केवल अपने लिए; मगर जिस व्यक्ति के हृदय मे गरीबो की दिन-दिन गिरती हुई दशा देख कर ज्वाला-सी उठती रहती है, जो उनकी मूक वेदना देख-देखकर तड़प रहा है, वह किसी ऐसे स्वराज्य की कल्पना से संतुष्ट नहीं हो सकता, जिसमे कुछ ऊॅचे दरजे के आदमियो का हित हो और प्रजा की दशा ज्यो-की त्यो बनी रहे। हमारी लड़ाई केवल अॅग्रेज सत्ताधारियो से नहीं, हिन्दुस्तानी सत्ताधारियों से भी है। हमे ऐसे लक्षण नज़र आ रहे है, कि यह दोनों सत्ताधारी इस अधार्मिक संग्राम मे आपस मे मिल जायेंगे और

प्रजा को दबाने की, इस आन्दोलन को कुचलने की कोशिश करेंगे। लेकिन यह उन्हीं के हक मे बुरा होगा। प्रजा की दशा तो अब जितनी बुरी है, उससे बुरी और हो ही क्या सकती है? हॉ, जो लोग प्रजा के मत्थे ऐश करते है, यूरोप मे विहार करते हैं, मोटरो में बैठे हुए हवा मे उड़ते है, उनकी खैरियत नही है। हम उन्हे धमकी नहीं दे रहे हैं, धाँधली उसी वक्त तक हो सकती है, जब तक जनता सोई हुई है। हम अब भी आशा रखते हैं, कि महात्माजी का सदुद्योग सत्ताधारियो के विचार-कोण मे इच्छित परिवर्तन करेगा। विचारो का परिवर्तन अब तक तलवार से होता आया है, लेकिन विचार जैसी सूक्ष्म वस्तु पर तलवार का असर या तो होता ही नहीं, या होता है तो स्थायी नही होता। सूक्ष्म वस्तु पर सूक्ष्म वस्तु का ही असर पड़ता है। भारत ने इसके पहले भी ससार के सामने आध्यात्मिक आदर्श रक्खे हैं, वही चेष्टा वह फिर कर रहा है। वह इतिहास की परम्परागत प्रगति को बदल देना चाहता है। वह सफल होगा या विफल, यह दैव के हाथ है, लेकिन उसकी विफलता भी ऐसी होगी, जिस पर सैकड़ों सफलताऍ भेंट की जा सकती है।

हमे आशा है, कि वाइसराय के हृदय पर इस निवेदन का कुछ असर होगा, वह उस सौजन्य, विनम्रता और सच्चाई की कुछ कद्र करेंगे। पर वाइसराय की ओर से उसका जो जवाब दिया गया है, वह सिद्ध कर रहा है कि महात्माजी का सन्देश उनके हृदय तक नहीं पहुँचा।

प्रगतिशील लेखक संघ का अभिनंदन

हमे यह जानकर सच्चा आनन्द हुआ कि हमारे सुशिक्षित और विचारशील युवकों मे भी साहित्य मे एक नई स्फूर्ति और जागृति लाने की धुन पैदा हो गई है। लन्दन मे The Indian Progressive Writers, Association की इसी उद्देश्य से बुनियाद डाल दी गई है, और उसने जो अपना मैनिफ़ेस्टो भेजा है, उसे देखकर यह आशा होती है कि अगर यह सभा अपने नये मार्ग पर जमी रही, तो साहित्य में नवयुग का उदय होगा। उस मैनिफेस्टो का कुछ अंश हम यहाँ आशय रूप मे देते हैं—

भारतीय समाज मे बड़े-बड़े परिवर्तन हो रहे हैं। पुराने विचारो और विश्वासो की जड़ें हिलती जा रही हैं और एक नये समाज का जन्म हो रहा है। भारतीय साहित्यकारो का धर्म है कि वह भारतीय जीवन मे पैदा होनेवाली क्राति को शब्द और रूप दें और राष्ट्र को उन्नति के मार्ग पर चलाने मे सहायक हों। भारतीय साहित्य, पुरानी सभ्यता के नष्ट हो जाने के बाद से जीवन की यथार्थताओ से भागकर उपासना और भक्ति की शरण मे जा छिपा है। नतीजा यह हुआ है कि वह निस्तेज और निष्प्राण हो गया है, रूप मे भी अर्थ मे भी। और आज हमारे साहित्य मे भक्ति और वैराग्य की भरमार हो गई है। भावुकता ही का प्रदर्शन हो रहा है, विचार और बुद्धि का एक प्रकार से बहिष्कार कर दिया गया है। पिछली दो सदियो में विशेषकर इसी तरह का साहित्य रचा गया है जो हमारे इतिहास का लज्जास्पद काल है। इस सभा का

उद्देश्य अपने साहित्य और दूसरी कलाओ को पुजारियो पडितो और अप्रगतिशील-वर्गों के आधिपत्य से निकालकर उन्हे जनता के निकटतम ससर्ग मे लाया जाय, उनमे जीवन और वास्तविकता लाई जाय, जिससे हम अपने भविष्य को उज्ज्वल कर सकें। हम भारतीय सभ्यता का परम्पराओ की रक्षा करते हुए, अपने देश की पतनोन्मुखी प्रवृत्तियो की बड़ी निर्दयता से आलोचना करेगे और आलोचनात्मक तथा रचनात्मक कृतियों से उन सभी बातो का सचय करेगे, जिससे हम अपनी मंज़िल पर पहुँच सकें। हमारी धारणा है कि भारत के नये साहित्य को हमारे वर्तमान जीवन के मौलिक तथ्यो का समन्वय करना चाहिये, और वह है हमारी रोटी का, हमारी दरिद्रता का, हमारी सामाजिक अवनति का और हमारी राजनैतिक पराधीनता का प्रश्न। तभी हम इन समस्याओं को समझ सकेंगे और तभी हममे क्रियात्मक शक्ति आयेगी। वह सब कुछ जो हमे निष्क्रियता, अकर्मण्यता और अन्धविश्वास की ओर ले जाता है, हेय है, वह सब कुछ जो हममें समीक्षा की मनोवृत्ति लाता है, जो हमे प्रियतम रूढियों को भी बुद्धि की कसौटी पर कसने के के लिए प्रोत्साहित करता है, जो हमें कर्मण्य बनाता है और हममे सगठन की शक्ति लाता है, उसी को हम प्रगतिशील समझते हैं।

इन उद्देश्यों को सामने रखकर इस सभा ने निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकार किये हैं—

(१) भारत के भिन्न भिन्न भाषा-प्रातो मे लेखकों की सस्थाएँ बनाना, उन संस्थाओं मे सम्मेलनों, पैम्फलेटो आदि द्वारा सहयोग और समन्वय पैदा करना, प्रान्तीय, केन्द्रीय और लन्दन की संस्थाओं में निकट सम्बन्ध स्थापित करना।

(२) उन साहित्यिक सस्थाओं से मेल-जाल पैदा करना, जो इस सभा के उद्देश्यों के विरुद्ध न हों।

३) प्रगतिशील साहित्य की सृष्टि और अनुवाद करना, जो कलात्मक दृष्टि से भी निर्दोष हो, जिससे हम साम्कृतिक अवसाद को दूर कर सके और भारतीय स्वाधीनता और सामाजिक उत्थान की ओर बढ सकें।

४) हिन्दुस्तानी को राष्ट्र-भाषा और इडो-रोमन लिपि को राष्ट्र-लिपि स्वीकार कराने का उद्योग करना।

(५) साहित्यकारो के हित की रक्षा करना, उन साहित्यकारों को सहायता करना, जो अपनी पुस्तके प्रकाशित कराने के लिए सहायता चाहते हो।

६) विचार और राय को आज़ाद करने के लिए प्रयत्न करना।

मैनिफेस्टो पर सर्वश्री डा० मुल्कराज आनन्द, डा० के० एस० भट्ट, डा० जे० सी० घोष, डा० एस० सिन्हा, एम० डी० तासीर और एस० एस० जहीर के शुभ नाम है, और पत्र-व्यवहार का पता है—

Dr M. R. Anand
32, Russell Square
London (W. C. I)

हम इस सस्था का हृदय से स्वागत करते है और आशा करते है कि वह चिरजीवी हो। हमे वास्तव मे ऐसे ही साहित्य की जरूरत है और हमने यही आदर्श अपने सामने रक्खा है। हस भी इन्हीं उद्देश्यों के लिए जारी किया गया है। हाँ, हम अभी इडो-रोमन को राष्ट्र-लिपि स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं है, क्योंकि हम नागरी-लिपि मे सशोधन करके उसे इतना पूर्ण बना लेना चाहते हैं, जिससे वह भारत की सभी भाषाओ के लिये समान रूप से उपयोगी हो। हम यह भी कह देना चाहते है, कि अगर यह सस्था भारत के उस साहित्य को, जो उसके उद्देश्यो के अनुकूल हो, अँग्रेजी में अनुवाद कराके प्रकाशित कराने का प्रबन्ध कर सके, तो यह साहित्य और राष्ट्र—दोनों ही की सच्ची सेवा होगी। हम

हिन्दी-लेखक-संघ के सदस्यो से भी निवेदन कर देना चाहते हैं 'कि वे इन प्रस्तावो पर विचार करें और उस पर अपना मत प्रकट करें। लेखक-संघ के उद्देश्य भी बहुत कुछ इस संस्था से मिलते हैं और कोई कारण नहीं कि दोनो मे सहयोग न हो सके।

उठो मेरी दुनिया के ग़रीबों को जगा दो

अबकी बिहार का प्रातीय साहित्य सम्मेलन २२-२३ फरवरी को पूर्णिया मे हुआ। श्री बाबू यशोदानन्दन जी ने, जो हिन्दी के वयोवृद्ध साहित्य-सेवी है, सभापति का आसन ग्रहण किया था। इस जीर्णावस्था मे भी उन्होने यह दायित्व स्वीकार किया, यह उनके प्रौढ साहित्यानुराग का प्रमाण है। प्रान्त के हरेक भाग से प्रतिनिधि आये हुए थे और खूब उत्साह था। मेहमानो के आदर-सत्कार मे स्वागताध्यक्ष श्री बाबू रघुवशसिह के सुप्रबन्ध से कोई कमी नहीं हुई। सभापति महोदय ने अपने भाषण मे हिंदी भाषा, साहित्य, देव नागरी लिपि आदि विषयो का विस्तार से उल्लेख किया और बिहार मे हिन्दी के प्रचार और प्रगति की जो चर्चा की, वह बिहार के लिए गौरव की वस्तु है। हमे नही मालूम था कि कविता मे खड़ी बोली के व्यवहार की प्रेरणा पहले बिहार मे हुई, और हिन्दी साहित्य-सम्मेलन की कल्पना भी बिहार की ही ऋणी है। मुसलमानी शासन-काल मे हिन्दी की वृद्धि क्योंकर हुई, इस पर आपने निष्पक्ष प्रकाश डाला। आप उर्दू को कोई स्वतत्र भाषा नहीं मानते, बल्कि उसे हिन्दी का ही एक रूप कहते है। आपने कहा—

'मुसलमानी-शासन ने हिन्दी-भाषा के प्रसार और प्रचार के मार्ग मे बडी सहायता पहुँचाई है। उसी काल मे हिन्दी के तीन रूप हो गये थे। एक नागरी लिपि मे व्यक्त ठेठ हिन्दी, जिसे लोग अधिकाश मे 'भाषा' या 'देव-नागरी' या 'नागरी' कहते थे, दूसरा उर्दू यानी फारसी लिपि में लिखी हुई फारसी मिश्रित हिन्दी, अर्थात् उर्दू और तीसरी पद्य हिन्दी यानी ब्रज-भाषा। जो हिन्दी आज राष्ट्र-भाषा के सिंहासन पर अभिषिक्त होने की अधिकारिणी है, वह देव नागरी है। यह और उर्दू वस्तुतः एक ही है और दिल्ली प्रात की बोली है।'

कवि हैं और जीवन मे कविता का स्थान क्या है, यह खूब जानते हैं। आपने बहुत ठीक कहा, कि कविता केवल मनोरंजन की वस्तु नही और न गा-गाकर सुनाने की चीज है। वह तो हमारे हृदय मे प्रेरणाओ की डालने वाली, हमारे अवसाद-ग्रस्त मन मे आनन्दमय स्फूर्ति का सचार करने वाली, हममे कोमल भावनाओ को जगाने वाली (स्त्रैण भावनाओ को नहीं) वस्तु है। कविता मे अगर जागृति पैदा करने की शक्ति नहीं है, तो वह बेजान है। आप हाला बाँधे, या तन्त्री के तार, या बुलबुल और क़फ़स, उसमें जीवन को तड़पाने वाली शक्ति होनी चाहिए। प्रेमिकाओ के सामने बैठकर आँसू बहाने का यह जमाना नही है। उस व्यापार मे हमने कई सदियाँ खो दीं, विरह का रोना रोते-रोते हम कहीं के न रहे। अब हमे ऐसे कवि चाहिए, जो हज़रते इक़बाल की तरह हमारी मरी हुई हड्डियो मे जान डाले॥ देखिए, इस कवि ने लेनिन को खुदा के सामने ले जाकर क्या फ़रियाद कराई है और उसका खुदा पर इतना असर होता है कि वह अपने फ़रिश्तो को हुक्म देता है—

उठो, मेरी दुनिया के गरीबो को जगा दो,
काख़े[1] उमरा के दरो-दीवार हिला दो।
गरमाओ गुलामो का लहू सोज़े यक़ीं से,
कुंजिश्क[2] फ़रोमाया[3] को शाहीं[4] से लड़ा दो।
सुलतानिये[5] जमहूर[6] का आता है ज़माना,
जो नक्शे कोहन[7] तुमको नज़र आये मिटा दो।
जिस खेत से दहक़ाँ[8] को मयस्सर नही रोटी,
उस खेत के हर ख़ोशाए[9] गदुम को जला दो।
क्यो खालिको[10] मखलूक[11] मे हायल रहे परदे,
पीराने[12] कलीसा को कलीसा[13] से उठा दो।

---

(१) महल (२) चिड़ा (३) तुच्छ (४) शिक्रा (५-६) प्रजा-राज्य (७) पुराना (८) किसान (९) गेहूँ की बाल (१०) स्रष्टा (११) सृष्टि (१२) मठधारी (१३) गिरजे।

अतीत का मुर्दा बोझ

२१, २२ सितम्बर को पटना ने अपने साहित्य परिषद् का कई बरसों के बाद आने वाला वार्षिकोत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया। हिन्दी के शब्द जादूगर श्री माखनलाल जी चतुर्वेदी सभापति थे और साहित्यकारों का अच्छा जमघट था। हम तो अपने दुर्भाग्य से उसमें सम्मिलित होने का गौरव न पा सके। शुक्रवार की सन्ध्या समय से ही हमे ज्वर हो आया और वह सोमवार को उतरा। हम छटपटा कर रह गये। रविवार को भी हम यही आशा करते रहे कि आज ज्वर उतर जायगा और हम चले जायगे, लेकिन ज्वर ने उस वक्त गला छोड़ा, जब परिषद् का उत्सव समाप्त हो चुका था। पटने जाकर खाट पर सोने से काशी मे खाट पर पडे रहना और ज्यादा सुखद था, और यों भी बीमारी के समय, चाहे वह हलकी ही क्यों न हो, बुजुर्गों के मतानुसार, और धर्मशास्त्रों के आदेशानुसार, काशी के समीप ही रहना ज्यादा कल्याणकारी होता है...लौकिक और पारलौकिक दोनो दृष्टियों से! अतएव हमें आशा है कि हमारे साहित्यिक बन्धुओं ने हमारी गैरहाजिरी मुआफ कर दी होगी। इस ज्वर ने ऐसा अच्छा अवसर हमसे छीन लिया, इसका बदला हम उससे अवश्य लेंगे, चाहे हमे अहिंसा नीति तोड़नी क्यो न पडे। सभापति का जो भाषण छपकर बासी भात के रूप मे मिला है, वह गर्म गर्म कितना स्वादिष्ट होगा...यह सोचता हूँ तो यही जी चाहता है कि ज्वर महोदय कहीं फिर दिखें, लेकिन उनका कहीं पता भी नहीं। इस भाषण मे जीवन है, आदेश है, मार्ग निर्देशन

है और साहित्यसेवियो के लिये आदर्श है, मगर आपने पूर्वजो का बोझा मस्तक पर लादने की जो बात कही, वह हमारी समझ में न आई। हमारा ख्याल है कि हम पूर्वजो का बोझ जरूरत से ज्यादा लादे हुए हैं, और उसके बोझ के नीचे दबे जा रहे है। हम अतीत मे रहने के इतने आदी हो गये हैं कि वर्तमान और भविष्य की जैसे हमें चिन्ता ही नहीं रही। यूरोप और पश्चिमी जग इसीलिए हमारी उपेक्षा करता है कि वह हमे पाच हजार साल पहले के जन्तु समझता है, जिसके लिए अजायबघरो और पिंजरापोलो मे ही स्थान है। वह हमारे भोजपत्रों और ताम्र लेखों को लाद लादकर इसलिए नहीं ले जाता कि उनसे ज्ञान का अर्जन करे, बल्कि इसलिए कि उन्हे अपने संग्रहालयो मे सुरक्षित रखकर अपने विजय गर्व को तुष्टि दे, उसी तरह जैसे पुराने जमाने मे विजय की लूट के साथ नर नारियों की भी लूट होती थी और जुलूसों मे उनका प्रदर्शन किया जाता था। प्राचीन अगर हमे आदर्श और मार्ग देता है, तो उसके साथ ही रूढ़ियाँ और अन्ध विश्वास भी देता है। चुनाचे आज राम और कृष्ण राम लीला और रास लीला की वस्तु बनकर रह गये हैं, और बुद्ध और महावीर ईश्वर बना दिये गये हैं। यह प्राचीन का भार नहीं तो और क्या है कि आज भी असंख्य प्राणी, जिसमे अच्छे खासे पढे लिखे आदमियों की सख्या है, नदियों मे नहाकर अपना मन शुद्ध कर लिया करते हैं ? प्राचीन, उन राष्ट्रो और जातियो के लिए गर्व की वस्तु होगी और होनी चाहिए जो अपने पूर्वजो के पुरुषार्थ और उनकी साधनाओं से आज मालामाल हो रहे हैं। जिस जाति को पूर्वजो से पराजय का अपमान और रूढियों का तौक ही विरासत मे मिला, वे प्राचीन के नाम को क्यो रोयें। ऐसे दर्शन को क्या हम लेकर चाटें, जिसने हमारे पूर्वजो को इतना अकर्मण्य बना दिया कि जब बख्तियार खिलजी ने बिहार विजय किया, तो पता चला कि सारा नगर और किला एक विशाल वाचनालय था। विद्वान लोग मजे से राज्य का आश्रय पाते थे और अपनी कुटिया मे बैठे हुए प्राचीन शास्त्रो मे डूबे रहते थे।

उनके इर्द गिर्द क्या हो रहा है, दुनिया किस गति से बढी जा रही है, उन्हे इसकी खबर न थी। और शायद बख्तियार उन विद्वानो से मुजाहिम न होता और उनकी वृत्ति ज्यो की त्यो बनी रहती, तो वे उसी बेफिक्री से अपना शास्त्र पढे जाते और आध्यात्मिक विचारों के आनन्द लूटते रहते और अमर जीवन की मंजिल नापते चले जाते। उधर पश्चिम के नाविक समुद्र के तूफान का मुकाबला करके ससार विजय कर रहे थे और हमारे बाबा दादा बैठे मुक्ति का मार्ग ढूँढ रहे थे। पश्चिम ने जिस वस्तु के लिए तपस्या की, उसे वह वस्तु मिली। हमारे पूर्वजो ने जिस वस्तु की तपस्या की, वह उन्हे मिली या मिलेगी इसके बारे मे अभी कुछ कहना कठिन है। जिसके लिए ससार मिथ्या हो, और दुःख का घर हो, उसकी यदि संसार उपेक्षा करे, तो उन्हे शिकायत का क्या मौका है? हमे स्वर्ग की ओर से निश्चिन्त रहना चाहिए, वह हमे मिलेगा और जरूर मिलेगा। चतुर्वेदी जी के ही शब्दो मे 'ग्रन्थो के बन्धनो के आदी हम स्वामी राम के कथन मे भी मुक्ति का गीत ढूँढने के बजाय वेदान्त का बन्धन ढूँढने लगे।' और क्यो न ढूँढते? बन्धनो के सिवा, और ग्रन्थो के सिवा हमारे पास और क्या था? पडित लोग पढते थे और योद्धा लोग लड़ते थे और एक दूसरे की बेइज्जती करते थे और लड़ाई से फुरसत मिलती थी तो व्यभिचार करते थे। यह हमारी व्यावहारिक सस्कृति थी। पुस्तको मे वह जितनी ही ऊची और पवित्र थी, व्यवहार मे उतनी ही निन्द्य और निकृष्ट।

आगे चलकर सभापति जी ने हमारी वर्तमान साहित्यिक मनोवृत्ति का जो चित्र खींचा है, उसका एक एक शब्द यथार्थ है :

'हम अपनी इस आदत को क्या करे? यदि किसी के दोष सुनता हूँ तो तुरन्त मान लेता हूँ और उस अद्रव्य को पेट मे लेकर फिर बाहर लाता हूँ और अपनी साहित्यिक पीढी को उस निन्द्य निधि की खैरात बाटता हूँ। संसार के दोषो का मैं बिना प्रमाण सरल विश्वासी होता हूँ और यह चाहता हूँ कि मेरी ही तरह मेरा पाठक भी मेरी

लोक निन्दा पर विश्वास करे। किन्तु यदि किसी के गुण, किसी की मौलिकता, किसी की उच्चता की चर्चा सुनता हूँ, तब मै उसके लिए प्रमाण वसूल करने के इजहार लेना चाहता हूँ।'

और भाषण के अन्तिम शब्द तो बड़े ही मर्मस्पर्शी है :

'हम बडे हों या छोटे, हमने घर घर या व्यक्ति व्यक्ति मे मरने का डर बोया है। हमारे लिए मार डालना ही गुनाह नहीं, मर जाना गुनाह हो गया है......आज के साहित्यिक चिन्तक पर जिम्मेवारी है कि वह पुरुषार्थ को दोनो हाथों मे लेकर जीने का खतरा और मरने का स्वाद अपनी पीढ़ी मे बोये। यह पुरुषार्थ शस्त्रधरो से नहीं हो सकता, यह तो कलम के धनियों ही के करने का काम है।'

साहित्यिक उदासीनता

हिन्दी साहित्य मे आजकल जो शिथिलता-सी छाई हुई है, उसे देखकर साहित्य प्रेमियों को हताश होना पड़ता है। आज हिन्दी मे एक भी ऐसा सफल प्रकाशक नहीं, जो साल भर मे दो चार पुस्तकों से अधिक निकाल सकता हो। प्रत्येक प्रकाशक के कार्यालय में हस्त-लिखित पुस्तकों का ढेर लगा पड़ा है; पर प्रकाशको को साहस नहीं होता कि उन्हे प्रकाशित कर सके। दो-चार इने गिने लेखको की पुस्तकें ही छपती है; पर वहाँ भी पुस्तको की निकासी नहीं होती। दो हजार का एडीशन बिकते-बिकते कम-से-कम तीन साल लग जाते हैं। अधिकाश पुस्तको की तो दस साल मे अगर दो हजार प्रतियाँ निकल जायँ, तो गनीमत समझी जाती है। जब पुस्तको की बिक्री का यह हाल है, तो प्रकाशक पुरस्कार कहाँ से दे और दें भी तो वह पत्र-पुष्प से अधिक नहीं हो सकता। पत्र-पुष्प से लेखक को क्या सतोष हो सकता है क्योकि वह भी आदमी है और उसे भी जरूरते होती ही हैं। इसका फल यह है, कि लेखक अलग उत्साहहीन होते जाते हैं, प्रकाशक अलग कधा डालते जाते है और साहित्य की जो उन्नति होनी चाहिए, वह नहीं होने पाती। लेखक को अच्छा पुरस्कार मिलने की आशा हो तो वह तन-मन से रचना मे प्रवृत्त हो सकता है, और प्रकाशक को यदि अच्छी बिक्री की आशा हो तो वह रुपये लगाने को भी तैयार है। लेकिन सारा दारमदार पुस्तको की बिक्री पर है और जब तक हिन्दी-पाठक पुस्तकें खरीदना अपना कर्तव्य न समझने लगेंगे, यह शिथिलता ज्यो-की-त्यो बनी रहेगी। कितने खेद की बात

है, कि बड़ी बड़ी आमदनी रखनेवाले सज्जन भी हिन्दी की पुस्तके मॉगकर पढने मे सकोच नहीं करते। शायद वह हिन्दी-पुस्तके पढना ही हिन्दी पर कोई एहसान समझते हैं। इस विषय मे उर्दूवाले क्या कर रहे है, उसकी चर्चा हम यहाँ कर देना चाहते है। लाहौर मे, जो उर्दू का केंद्र है, कुछ लोगो ने एक समिति बना ली है और उनका काम है शहर-शहर और कस्बे-कस्बे घूमकर पाठको से अपनी आय का शताश उर्दू पुस्तके खरीदने मे खर्च करने का अनुरोध करना। पाठक जो पुस्तक चाहे अपनी रुचि के अनुसार खरीदे, पर ख़रीदे जरूर। पाठको से एक प्रतिज्ञा कराई जाती है और सुनते है कि समिति को इस सदुद्योग मे खासी सफलता हो रही है। बहुत से पाठक तो केवल इसलिए पुस्तकें नहीं खरीदते कि उन्हे खबर नही कौन कौन सी अच्छी पुस्तके निकलती हैं। उनका इस तरफ़ ध्यान ही नहीं जाता। जरूरत की चीजे तो उन्हें झक मारकर लेनी पड़ती हैं। स्त्री लडके सभी आग्रह करते है; लेकिन पुस्तको के लिए ऐसा आग्रह अभी नही होता। केवल पाठ्य पुस्तके तो खरीद ली जाती है, अन्य पुस्तको का ख़रीदना अनावश्यक या फ़िज़ूल-खर्ची समझी जाती है। मगर जब समिति ने पबलिक का ध्यान इस ओर खींचा, तो लोग बडे हर्ष से उसके साथ सहयोग करने को तैयार हो गये। कितने ही सज्जनो ने तो पुस्तको के चुनाव का भार भी समिति के सिर रख दिया। जिसकी वार्षिक आय बारह सौ रुपये है, वह साल-भर मे बारह रुपये की पुस्तकें खरीदने का यदि प्रण कर ले, तो हमे विश्वास है, कि थोडे ही दिनों मे हिन्दी-साहित्य का बड़ा कल्याण हो सकता है। ऐसे सज्जनो की कमी नहीं है, केवल साहित्य-प्रेमियों को उनके कर्तव्य की याद दिलाने की ज़रूरत है। अगर उर्दू मे ऐसी समिति बन सकती है, तो हिन्दी मे भी अवश्य बन सकती है। अगर हमारी हिन्दी सभाएँ इस तरफ ध्यान दे, तो साहित्य का बहुत उपकार हो सकता है।

लेखक संघ

लेखक सघ के विषय मे 'हस' मे विज्ञप्ति निकल चुकी है और साहित्य-सेवियो तथा पाठको को यह जानकर हर्ष होगा कि लेखको ने सघ का खुले दिल से स्वागत किया है। और लगभग साठ सज्जन उसके सदस्य बन चुके हैं। चारो तरफ से आशाजनक पत्र आ रहे है मगर अभी तक यह निश्चित नही किया जा सका कि संघ का मुख्य काम क्या होगा? सयोजक महोदय ने अपने प्रारम्भिक पत्र मे सघ के उद्देश्यो का कुछ जिक्र किया है, और जो लोग सघ मे शामिल हुए है, वे उन उद्देश्यो से सहमत हैं, इसमे सन्देह नही; लेकिन वह उसूल कार्य बनकर क्या रूप धारण करेंगे, इस विषय मे कुछ नही कहा जा सकता। सघ लेखको के स्वत्वो की रक्षा करेगा। लेकिन कैसे? कुछ सज्जनो का विचार है कि लेखक संघ उसी तरह लेखको के हितों और अधिकारो की रक्षा करे, जैसे अन्य मजूर सघ अपने सदस्यो की रक्षा करते है, क्योकि लेखक भी मजूर ही है, यद्यपि वे हथौडे और बसुले से काम न करके कलम से काम करते हैं। और लेखक मजूर हुए तो प्रकाशक पूजीपति हुए। इस तरह यह संघ लेखकों को प्रकाशको की लूट से बचाये, और यही उसका मुख्य काम हो। कुछ अन्य सज्जनो का मत है कि लेखक सघ को पूंजी खड़ी करके एक विशाल सहकारी प्रकाशन सस्था बनाना चाहिए जिससे वह लेखक को उसकी मजदूरी की ज्यादा से ज्यादा उजरत दे सके। खुद केवल नाम मात्र का नफा ले ले, वह भी केवल कार्यालय के कर्मचारियो के वेतन और कार्यालय के दूसरे कामो के लिए। सम्भव है इसी तरह के और

प्रस्ताव भी लोगों के मन मे हो। ऐसी दशा मे यही उचित जान पड़ता है कि सघ के कार्यक्रम को निश्चय करने के लिए सभी सदस्यों को किसी केन्द्र मे निमन्त्रित किया जाये और वहा सब पक्षों की तजवीजे सुनने और उन पर विचार करने के बाद कोई राय कायम की जाये। और तब इस निश्चय को कार्य रूप मे लाने के लिए एक कार्यकारिणी समिति बनाई जाय। उस सम्मेलन में प्रत्येक सदस्य को अपने प्रस्ताव पेश करने और उसका समर्थन कराने का अधिकार होगा और जो कुछ होगा बहुमत से होगा, इसलिए किसी को शिकायत का मौका न होगा। हम इतना अवश्य निवेदन कर देना चाहते हैं कि मौजूदा हालत ऐसी नहीं है कि प्रकाशकों को लेखकों के साथ ज्यादा न्यायसगत व्यवहार करने पर मजबूर किया जा सके। साहित्य का प्रकाशन करने वाले प्रकाशकों की वास्तविक दशा का जिन्हे अनुभव है, वह यह स्वीकार करेंगे कि इस समय एक भी ऐसा साहित्य ग्रन्थ प्रकाशक नहीं है जो नफे से काम कर रहा हो। जो प्रकाशक धर्मग्रन्थों या पाठ्यपुस्तको का व्यापार करते है उनकी दशा इतनी बुरी नहीं है; कुछ तो खासा लाभ उठा रहे हैं। लेकिन जो लोग मुख्यतः साहित्य ग्रन्थ ही निकाल रहे हैं, वे प्रायः बड़ी मुश्किल से अपनी लागत निकाल पाते हैं। कारण है साधारण जनता की साहित्यिक अरुचि। जब प्रकाशक को यही विश्वास नही कि किसी पुस्तक के कागज़ और छपाई की लागत भी निकलेगी या नहीं, तो वह लेखकों को पुरस्कार या रायल्टी कहाँ से दे सकता है। नतीजा यह होगा कि प्रकाशको को अपना कारोबार चलाने के लिए सड़ियल पुस्तके निकालनी पड़ेंगी और अच्छे लेखको की पुस्तकें कोई प्रकाशक न मिलने के कारण पड़ी रह जायँगी। साहित्यिक रचनाओ का प्रकाशन प्रायः बन्द सा है। प्रकाशक नई पुस्तकें छापते डरते है, और नये लेखको के लिए तो द्वार ही बन्द हैं। इसलिए पहले ऐसी परिस्थिति तो पैदा हो कि प्रकाशक को प्रकाशन से नफे की आशा हो। हिन्दी बीस करोड़ व्यक्तियो की भाषा होकर भी गुजराती, मराठी या बगला के बराबर पुस्तकों का

प्रचार नहीं कर सकती। अगर नफे की आशा हो तो प्रकाशक बड़ी खुशी से रुपये लगायेगा और तभी लेखको के लिए कुछ किया जा सकता है। इसलिए अभी तो सघ को यही सोचना पडेगा कि जनता मे साहित्य की रुचि कैसे बढ़ाई जाये और किस ढग की पुस्तके तैयार की जायें जो जनता को अपनी ओर खीच सके। अतएव सघ को साहित्यिक प्रगति पर नियन्त्रण रखने की चेष्टा करनी पडेगी। इस समय जो सस्थाएँ है जैसे नागरी प्रचारिणी सभा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन या हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उनके काम मे सघ को हस्तक्षेप करने की जरूरत नहीं। नागरी प्रचारिणी सभा अब विशेषकर पुराने कवियो की ओर उनकी रचनाओ की खोज कर रही है। वह साहित्यिक पुरातत्व से मिलती जुलती चीज़ है। सम्मेलन को परीक्षाओ से विशेष दिलचस्पी है और हिन्दुस्तानी एकेडेमी एक सरकारी सस्था है, जहाँ प्रोफेसरो का राज है और जहाँ साधारण साहित्य-सेवियो के लिए स्थान नहीं। सघ का कार्य क्षेत्र इनसे अलग और ऐसा होना चाहिए जिससे साहित्य और उसके पुजारी दोनो की सेवा हो सके।

———

एक प्रसिद्ध गल्पकार के विचार

मि० जेम्स ओपेनहाइम अँग्रेज़ी के अच्छे कहानी-लेखक है। हाल मे एक अँग्रेजी पत्रिका के सम्पादक ने कहानी-कला पर मि० ओपेनहाइम से कुछ बातचीत की थी। उनमे जो प्रश्नोत्तर हुआ, उसका साराश हम पाठको के मनोरजन के लिए यहाँ देते है। पत्रिकाओं मे जितनी कहानियाँ आती है, उतने और किसी विषय के लेख नही आते। यहाँ तक कि उन सबो को पढना मुश्किल हो जाता है। अधिकाश तो युवको की लिखी होती है, जिनके कथानक, भाव, भाषा, शैली मे कोई मौलिकता नही होती और ऐसा प्रतीत होता है कि कहानी लिखने के पहले उन्होने कहानी कला के मूल तत्वो को समझने की चेष्टा नही की। यह बिलकुल सच है कि सिद्धान्तो को पढ़ लेने से ही कोई अच्छा कहानी-लेखक नही हो जाता, उसी तरह जैसे छन्द-शास्त्र पढ लेने से कोई अच्छा कवि नहीं हो जाता। साहित्य-रचना के लिए कुछ-न कुछ प्रतिभा अवश्य होनी चाहिए। फिर भी सिद्धान्तो को जान लेने से अपने मे विश्वास आ जाता है और हम जान जाते है, कि हमे किस ओर जाना चाहिए। हमे विश्वास है, इस कहानी-लेखक के विचारों से उन पाठको को विशेष लाभ होगा, जो कहानी लिखना और कहानी के गुण-दोष समझना चाहते है—

प्रश्न—पहले आपके मन मे किसी कहानी का विचार कैसे उत्पन्न होता है?

उत्तर—तीन प्रकार से। पहला, किसी चरित्र को देखकर। किसी व्यक्ति मे कोई असाधारणता पाकर मै उस पर एक कहानी की कल्पना

कर लेता हूँ। दूसरे, किसी नाटकीय घटना-द्वारा। जब कोई रोचक और विचित्र घटना हो जाती है, तो उसमे कुछ उलझाव और नवीनता लाकर एक प्लाट बना लेता हूँ। तीसरे, किसी समस्या या सामाजिक प्रश्न द्वारा। समाचार-पत्रो मे तरह-तरह के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक प्रश्नो पर आलोचनाएँ होती रहती है। उनमे से कोई प्रश्न लेकर, जैसे बालको के परिश्रम और मजूरी का प्रश्न, उन पर कहानी का ढॉचा खडा कर लेता हूँ।

प्रश्न—जब आप किसी चरित्र का चित्रण करने लगते है, तो क्या उसमे वास्तविक जीवन की बाते लिखते है?

उत्तर—कभी नही। वास्तविक जीवन की बातो और कृत्यों से कहानी नही बनती। वह तो केवल कहानी के लिये ईट-मसाले का काम दे सकते है। वास्तविक जीवन की नीरसताओ और बाधाओ से कुछ देर तक मुक्ति पाने के लिये तो लोग कहानियाँ पढते है। जब तक कहानी मे मनोरजकता न रहेगी, तो उससे पाठको का क्या आनन्द मिलेगा? जीवन मे बहुत-सी बाते इतनी मनोरजक और विस्मयकारी होती है, जिनकी कोई बडे से बड़ा कलाकार भी कल्पना नही कर सकता। पुरानी कहावत है—सत्य कथा से कही विचित्र होता है। कलाकार जो कुछ करता है, वह यही है कि उन अनुभूतियो पर अपने मनोभावो का, अपने दृष्टि-कोण का रग चढा दे।

प्रश्न—क्या एक कल्पित चरित्र की सृष्टि करने की अपेक्षा ऐसे चरित्र का निर्माण करना ज्यादा महत्वपूर्ण नही है, जो सजीव प्राणी की भॉति हॅसता-बोलता, जीता-जागता दिखाई दे?

उत्तर—हॉ, यह बिलकुल ठीक है। इसलिए जब तक मै चरित्र-नायक को अच्छी तरह जान नहीं लेता, उसके विषय मे एक शब्द भी नहीं लिखता। इससे मुझे बड़ी मदद मिलती है। मै हीरो के विषय मे पहले यह जानना चाहता हूँ कि उसके मॉ-बाप कौन है? वह कहॉ पैदा हुआ था? उसकी बाल्यावस्था किन लोगो की सगत मे गुजरी? उसने

कितनी और कैसी शिक्षा पाई ? उसके भाई-बहन हैं या नहीं ? उसके मित्र किस तरह के लोग है ? सम्भव है, मै इन गौण बातो को अपनी कहानी मे न लिखू ; लेकिन इनका परिचय होना आवश्यक है। इन ब्योरो से चरित्र-चित्रण सजीव हो जाता है। जब तक लेखक को ये बाते न मालूम हों, वह चरित्र के विषय मे कोई दृढ़ कल्पना नही कर सकता, न उसको भिन्न भिन्न परिस्थितियों मे रखकर स्वाभाविक रूप से उसका सचालन कर सकता है। वह हमेशा दुबधे मे पडा रहेगा।

प्रश्न—चरित्रों के वर्णन मे आप किस तरह की बाते लिखना अनुकूल समझते है ?

उत्तर—मै उसकी वेश-भूषा, रग-रूप, आकार-प्रकार आदि गौण बातो का लिखना अनावश्यक समझता हूँ। मै केवल ऐसी स्पष्ट और प्रत्यक्ष बाते लिखता हुँ, जिनसे पाठक के सामने एक चित्र खड़ा हो सके। बहुत-सी गौण बातें लिखने से चित्र स्पष्ट होने की जगह और धुँधला हो जाता है। मुझे खूब याद है कि बालजक ने अपने एक उपन्यास मे एक चचल रमणी के विषय मे लिखा था, कि 'वह तीतरी की भाँति कमरे मे आई। उसके साँवले रग पर लाल कपडे खूब खिलते थे।' इस वाक्य से उस स्त्री का चित्र मेरी आँखों के सामने फिरने लगा; लेकिन बालजक को इतने ही से सन्तोष न हुआ। उसने डेढ़ पृष्ठ उस चरित्र के विषय मे छोटी-छोटी बाते लिखने मे रँग दिये। फल यह हुआ कि जो चित्र मेरी कल्पना मे खडा हुआ था, वह धुँधला होते-होते बिलकुल गायब हो गया। वास्तव मे किसी चरित्र का परिचय कराने के लिए केवल एक विशेष लक्षण काफी है। दूसरी बाते अवसर पड़ने पर आगे चलकर बयान की जा सकती हैं।

प्रश्न—एक बात और। क्या आप अपनी गल्पो मे दृष्टिकोण का परिवर्तन भी कभी करते हैं ? अर्थात्—कथा के विकास और प्रगति पर कभी एक चरित्र की दृष्टि से और कभी दूसरे चरित्र की दृष्टि से नजर डालते हैं या नहीं ?

उत्तर—नहीं, मुझे यह पसन्द नहीं है। मै फ्रासीसी शैली को अच्छा समझता हूँ। किसी एक चरित्र को अपना मुख-पात्र बना कर लिखता हूँ और जो कुछ सोचता या अनुभव करता हूँ सब उसी के मुख से कहला देता हूँ। इससे कहानी मे यथार्थता आ जाती है।

प्रश्न—लेखको के विषय मे, अन्त:प्रेरणा के विपय मे आपका क्या विचार है ?

उत्तर—मै तो अन्तःप्रेरणा को मानसिक दशा समझता हूँ। प्रत्येक कहानी, लेखक के मन का ही प्रतिबिम्ब होती है। भावो मे तीव्रता और गहराई पैदा करने के लिए प्रबल भावावेश होना चाहिए। यदि ऐसा आवेश न हो, तो भी गल्प के विषय को बार-बार सोचकर मन मे उन्हीं बातों की निरन्तर कल्पना करके हम अपने भावो मे तीव्रता उत्पन्न कर सकते है। मुझे किसी कहानी का शुरू करना बहुत कठिन मालूम होता है; लेकिन एक बार शुरू कर देने के बाद उसे अधूरा नहीं छोड़ता।

इसके बाद और भी कुछ सवाल-जवाब हुए, जिनमे मि० ओपेन-हाइम ने बताया कि वह कहानी लिखने के पहले उसका कोई खाका नहीं तैयार करते, केवल उसका अन्त और उसका उद्देश्य सोच लेते है। गल्प के प्रारभ मे आप ने बताया कि उसे चाहे जिस रूप मे रखिए—वाक्य हो या सभाषण, कोई घटना हो या कल्पना, चाहे कोई अनुभूति या विचार हो—जो कुछ हो, ससमे मौलिकता, नवीनता और अनोखापन हो। वह सामान्य, लचर, सौ बार की दुहराई हुई बात न हो। अन्त मे आपने कहा कि गल्प-रचना मे भी अन्य कलाओं की भाँति अभ्यास से सिद्धि प्राप्त हो सकती है।

समाचारपत्रों के मुफ्तखोर पाठक

जहाँ विदेश से निकलनेवाले पत्रों के लाखों ग्राहक होते हैं वहाँ हमारे अच्छे से अच्छे भारतीय पत्र के ग्राहको की संख्या कुछ हजारों से अधिक नहीं होती। यह एक विचारणीय बात है। जापान का ही एक उदाहरण लीजिये। यह तो सबको मालूम है कि जापान भारतवर्ष का षष्टमाश ही है, फिर भी जहाँ भारत से कुल २५०० पत्र प्रकाशित होते हैं, वहाँ जापान से ४५००, और यह ४५०० भी ऐसे पत्र है जिनके प्रकाशन की संख्या हजारो नहीं लाखों की है। 'ओसाका मेनीची' नाम का एक दैनिक पत्र है। उसके कार्यालय की इमारत ही तैतीस लाख रुपये की है। 'ओसाका ओसाही' और 'टोकियो नीची' नामक दो पत्र भी इसी कोटि के हैं। एक-एक पत्र के कार्यालय मे दो तीन हजार तक आदमी काम करते हैं और उनका जाल संसार भर मे फैला हुआ है। जिस पत्र के कार्यालय मे चार छः सौ आदमी काम करते है, उसकी तो वहाँ कोई गणना ही नहीं होती। कई पत्र तो वहाँ ऐसे हैं जो पचास लाख तक छापे जाते है और दिन मे जिनके आठ-आठ संस्करण निकलते है और जिनको वितरण करने के लिए हवाई जहाजो से काम लिया जाता है। यह है जापानी पत्रो का वैभव। और इस वैभव का कारण है वहाँ की शिक्षित जनता का पठन प्रेम और सहयोग। वहाँ के प्रत्येक पाँच आदमियो मे आपको एक आदमी अखबार पढ़ने वाला अवश्य मिलेगा। पूंजीपति से लेकर मजदूर तक, बूढे से लेकर छोटे बच्चे तक, पत्रों को स्वयं खरीद कर पढ़ते हैं। फुरसत के समय को वे लोग

बेकार के हसी-मजाक, खिलवाड़ या गाली-गलौज मे नहीं, अखबारों के पढ़ने मे बिताते है। जिस प्रकार वे अपनी शारीरिक भूख के लिए अन्न को आवश्यक समझते है, उसी प्रकार वे अपनी आत्मा की भूख के लिए पत्रों को खरीदकर पढना जरूरी समझते है। उन्होने पत्रो का पढना अपना एक अटल नियम बना रखा है। जो मनुष्य जिस रुचि का होता है, अपनी रुचि के पत्र का ग्राहक बन जाता है और उस पत्र से अपना ज्ञान-वर्द्धन और मनोरजन करता है। वहाँ के लोग पत्रो को खरीद कर पढ़ते है। कहीं से मागकर नहीं लाते। वे दूसरो के अखबार को जूठन समझते हैं। यही कारण है कि वहाँ के पत्रो के ग्राहको की संख्या पचास लाख तक है। जब हम यह समाचार पढ़ते हैं और भारतीय पत्रो की ओर दृष्टिपात करते हैं तो दाँतों तले उँगली दबाने लगते हैं। कहते हैं विदेश के लोग पत्र निकालना जानते है। वे लोग शिक्षा मे और सभी बातो मे हमसे आगे बढ़े हुए है। उनके पास पैसा है। यह सभी बातें सही हो सकती है। किन्तु भारतीय पत्रों की प्रकाशन सख्या न बढ़ने का केवल यही कारण नहीं है कि भारतीय विद्वान पत्र निकालना नही जानते, वे शिक्षा मे पिछडे हुए है और पत्रो को खरीदने के लिए भारतीय जनता के पास पैसा नहीं है। यह दलीलें कुछ अशो में ठीक हो भी सकती है; पर भारतीय पत्रो के न पनपने का एक और भी प्रबल कारण है।

हमारे यहाँ ऐसे लाखों मनुष्य हैं, जो पैसे वाले है, जिनकी आर्थिक स्थिति अच्छी है, जो शिक्षित है, और जिन्हे पत्रो को पढते रहने का शौक भी है। पर वे लोग मुफ्तखोर हैं। पत्रो के लिए पैसा खर्च करना वे पाप समझते है। या तो पत्रो को खोज-खाजकर अपने मित्रो और परिचित लोगों के यहाँ से ले आयेंगे, या लाइब्रेरियो मे जाकर देख आयेंगे। लेकिन उनके लिए पैसा कभी न खर्च करेंगे। सोचते है जब तिकड़मबाजी से ही काम चल जाता है तो व्यर्थ पैसा कौन खर्च करे। यह दशा ऐसे लोगों की है जो हजारो का व्यवसाय करते हैं और व्याह

शादी या ओसर मोसर मे अधे बनकर धन व्यय करते रहते है। ये लोग बीड़ी और सिगरेट मे, पान और तम्बाकू मे, नाटक और सिनेमा मे, लाटरी और जुए मे, चाय और काफी मे और विविध प्रकार के दुर्व्यसनो मे अपनी आमदनी का बहुत बडा हिस्सा फूक सकते है, किन्तु पत्रो के लिए एक पाई भी खर्च नही कर सकते। जीभ के स्वाद के लिए बाजारो मे मीठी और नमकीन चीजो पर ये लोग रुपये खर्च कर सकते है पर पत्रो को भूलकर भी नही खरीद सकते। इसके विपरीत, खरीदनेवालो को मूर्ख समझते है, यद्यपि उन्हीं की जूठन से इनका काम चलता है। अगर बहुत हिम्मत की तो किसी लाइब्रेरी के मेम्बर बन गये और लाइब्रेरियन को अपनी मीठी बातो मे फंसाकर नियम के विरुद्ध अनेक पुस्तके और पत्र पढने के लिए ले गये। और भाग्यवश यदि किसी लेखक से परिचय हो गया, या अपनी तिकडम से किसी पत्र सम्पादक को साध लिया तो कहना ही क्या, कारूं का खजाना उन्हे मिल गया। इस प्रकार ये लोग अपना मतलब निकाल लेते है। इससे आगे बढ़ना ये लोग मूर्खता समझते है। भारतीय पत्रों के प्रति इन लोगो के प्रेम, कर्त्तव्य पालन और सहानुभूति का कितना सुन्दर उदाहरण है! क्या ऐसा सुन्दर उदाहरण आपको ससार के किसी भी देश मे मिल सकेगा? धन्य हैं ये लोग और धन्य है अपनी भाषा के प्रति इनका अनुराग!

इन लोगो की यही दुर्वृत्ति भारतीय पत्रो के जीवन को सदैव सकट मे डाले रहती है। यह लोग जरा भी नहीं सोचते कि यह प्रवृत्ति समाचार पत्रो के लिए कितनी भयानक और हानिकर सिद्ध हो सकती है। इनकी इस प्रवृत्ति के कारण ही भारतीय पत्र पनपने नहीं पाते। जहाँ विदेशी पत्रो की निजी इमारतें लाखो रुपयो की होती हैं और उनके कार्यालयों मे हजारो आदमी काम करते हैं, वहाँ हमारे भारतीय पत्रों के कार्यालय किराये के, साधारण, या टूटे-फूटे मकानों मे होते हैं और कहीं कहीं तो उनमे काम करने वाले मनुष्यो की सख्या एक दर्जन भी नहीं होती। नाम मात्र के लिए कुछ इने गिने पत्र ही ऐसे है जिनके कार्यालय

मे काम करने वाले दो सौ के लगभग या कुछ ही अधिक हो। ऐसे लोगो की कृपा के कारण ही भारतीय पत्रो का यह हाल है। कही-कहीं तो बेचारा एक ही आदमी सम्पादक, मुद्रक, व्यवस्थापक, प्रकाशक और प्रूफरीडर है। ससार के लिए यह बात नयी और आश्चर्यजनक है। यह सब इन भारतीय मुफ्तखोर पाठको की कुवृत्ति का ही परिणाम है, लेकिन अब इन मुफ्तखोर तथा अपनी भाषा के साथ अन्याय करने वालों को कुछ लज्जा आनी चाहिए। उन्हें मालूम होना चाहिए कि वे लोग भारतीय पत्रो का गला घोट रहे है और उन्हे ससार के उपहास और व्यग की एक वस्तु बना रहे है। जब कि ये लोग बडी-बड़ी रकमे व्यर्थ के कामो मे फूँक सकते है तो कोई कारण नहीं कि ये अपने देशीय पत्रो के लिए एक छोटी सी रक़म खर्च करके उनके प्राणो की रक्षा न कर सके।

———

जापान में पुस्तकों का प्रचार

मि० गिलन शा ने जापानी साहित्य के अनक ग्रन्थ अंग्रेजी भाषा मे अनुवाद किये हैं। आपने हिसाब लगाया है कि जापान इस समय संसार में सबसे अधिक पुस्तकें प्रकाशित करने वाला देश है। जापान के बाद सोवियट रूस, जर्मनी, फ्रान्स, इंगलैंड, पोलैण्ड और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का क्रम से नम्बर आता है। जापान की आबादी अमेरिका की आधी से ज्यादा नहीं पर हर साल वह अमेरिका से दुगुनी किताबें छापता है।

इस समय जापानी साहित्य की रुचि राष्ट्रीयता की ओर विशेष रूप से हो रही है। इतिहास, साहित्य, धर्म, युद्धनीति आदि सभी अंगों मे यही प्रवृत्ति दिखाई देती है। विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि बौद्ध धर्म विषय की ओर यकायक लोगों मे बड़ी दिलचस्पी हो गई है। हालाकि यह किसी धार्मिक अनुराग का नतीजा नहीं, केवल राष्ट्र आन्दोलन का ही एक भाग है।

गत वर्ष जापान मे दस हजार से ज्यादा पुस्तकें निकलीं। इनमें से २७०० शिक्षा विषयक, २५०० साहित्य, १६०० अर्थनीति, २०० पाठ्य, और १००० गृह प्रबन्ध विषय की थीं। शिक्षा विषयक पुस्तकों की संख्या ही सबसे ज़्यादा थी। इससे मालूम होता है जापान अपने राष्ट्र के निर्माण मे कितना उद्योगशील है; क्योंकि शिक्षा ही राष्ट्र की जड़ है। गृह प्रबन्ध की ओर भी उनका ध्यान कितना ज्यादा है। भारत मे तो इस विषय की पुस्तकें निकलती ही नहीं, और निकलती भी हैं, तो बिकती नहीं। इस विषय मे भी कुछ नई बात कही जा सकती है, कुछ नई अनुभूतियाँ संग्रह की जा सकती हैं—यह शायद हम सम्भव नहीं समझते। जो घर सम्पन्न कहलाते

हैं, उनमे भी पहुँच जाइए तो आपको मालूम होगा कि एक हजार माह-वार खर्च करके भी यह लोग रहना नही जानते। न कोई बजट है, न कोई व्यवस्था। अललटप्पू खर्च हो रहा है। जरूरी चीजो की ओर किसी का ध्यान नहीं है, बिना जरूरत की चीजे ढेरो पड़ी हुई हैं। कपड़े कीड़े खा रहे है, फर्नीचर मे दीमक लग रही है, किताबो मे नमी के कारण फफूंदी लग गई है। किसी की निगाह इन बातो की तरफ नहीं जाती। नौकरो का वेतन नहीं दिया जाता। मगर कपडे बेजरूरत खरीद लिये जाते है। यह कुव्यवस्था इसीलिए है कि इस विषय मे हम उदासीन है।

जापान के अधिकाश साहित्यकार टोकियो में रहते है। उसमे छः सौ से अधिक ऐसे है जिनके नाम जापान भर मे प्रसिद्ध हैं। मगर जापान मे लेखकों को ज्यादा पुरस्कार नहीं मिलता।

जापान मे साहित्य रचना के भिन्न-भिन्न आदर्श हैं। कोई स्कूल जन-साधारण की रुचि की पूर्ति करना ही अपना ध्येय मानता है। तीशू बंगी स्कूल सबसे प्रसिद्ध है। ये लोग पुरानी कथाओ को नई शैली मे लिख रहे हैं, यहाँ तक कि विश्वविद्यालयो मे भी इसी रंग के अनुयायी अधिक हैं।

एक दूसरा स्कूल है जो कहता है, हम जन साधारण के लिए पुस्तकें नहीं लिखते, हमारा ध्येय साहित्य की सेवा है। इनका आदर्श है कला कला के लिए।

एक तीसरा दल है जो केवल दार्शनिक विषयो का ही भवन है। यह लोग अपनी गल्पों के प्लाट भी दर्शन और विज्ञान के तत्वो से बनाते हैं। उनके चरित्र भी प्रायः वास्तविक जीवन से लिये जाते है।

रुचि की विभिन्नता

इस विषय मे पुस्तक-विक्रेताओ ने बडे महत्व की बाते कही है। जिससे भिन्न-भिन्न श्रेणियों और जातियो की साहित्यिक प्रवृत्ति का ठीक पता चल जाता है। उनका कहना है कि स्त्रियों को सरस साहित्य से विशेष प्रेम है, और मर्दो को गम्भीर साहित्य से। नये पुस्त-कालयो मे नये-से-नये उपन्यासो ही की प्रधानता होती है और ये पुस्तकालय स्त्रियो की ही कृपा दृष्टि पर चलते है। पुराने ढग के पुस्तकालयो के ग्राहक अधिकतर पुरुष होते हैं, और उनमे भिन्न-भिन्न विषयों की पुस्तके सग्रह की जाती हैं। हिन्दुस्तानी और युरोपियन महिलाओं की रुचि मे भी बड़ा अन्तर है। यहाँ की देवियाँ उपयोगी विषयों की पुस्तके पढ़ती हैं, जैसे पाकशास्त्र या गृह विज्ञान या शिशु-पालन आदि। इसके खिलाफ यूरोपियन स्त्रिया कथा कहानी, शृंगार और फैशन की पुस्तकों से ज्यादा प्रेम रखती है। दोनो जातियों के मनुष्यो की रुचि मे भी अतर है। युरोपियनो को मामूली तौर से कथा अधिक प्रिय है, हिन्दुस्तानियो को अर्थशास्त्र, जीवन-चरित्र, नीति विज्ञान आदि विषयो से ज्यादा प्रेम है। कुछ नवीनता के परम भक्त युवको को छोड़कर हिन्दुस्तानियो मे शायद ही कोई उपन्यास मोल लेता हो।

युरोपियन स्त्री पुरुषों का किस्से कहानी से प्रेम होना इसका प्रमाण है कि वह सम्पन्न हैं और उन्हे अब उपयोगी विषयों की आवश्यकता नहीं रही। जिसके सामने जीवन का प्रश्न इतना चिन्ताजनक नहीं है, वह क्यों न प्रेम और विलास की कथाएँ पढ़कर मन बहलाये। यह देख-

कर कि हिन्दुस्तानियो को गम्भीर विषयो से अधिक रुचि है, यह कहा जा सकता है कि हमारी रुचि अब प्रौढ हो रही है। लेकिन हिन्दी के प्रकाशकों से पूछा जाय, तो शायद वे कुछ और ही कहे। हिन्दी मे गम्भीर साहित्य की पुस्तके बहुत कम बिकती है। इसका कारण यही हो सकता है कि जिन्हे गम्भीर साहित्य से प्रेम है, वे अंग्रेजी पुस्तके खरीदते हैं। कथा-कहानियाँ कुछ ज्यादा बिक जाती है शायद इसलिए कि भारतीय जीवन का चित्रण हमे अंग्रेजी पुस्तको मे नही मिलता, नही शायद कोई हमारे हिन्दी उपन्यास और कहानियो को भी न पूछता। एक कारण यह भी हो सकता है कि उपन्यास और कहानियो के लिए किसी विशेष योग्यता की जरूरत नही समझी जाती। जिसके हाथ मे कलम है वही उपन्यास लिख सकता है। लेकिन दर्शन या अर्थशास्त्र या ऐतिहासिक विवेचन पर कलम उठाने के लिए विद्वत्ता चाहिए। और जो लोग विद्वान हैं, वे अंग्रेजी मे लिखना ज्यादा पसन्द करते है, क्योकि अंग्रेजी का क्षेत्र विस्तृत है। वहा यश भी अधिक मिलता है और धन भी।

———

प्रेम-विषयक गल्पों से अरुचि

जनता की साहित्यिक रुचि के विषय मे बुकसेलरो से अच्छी जानकारी शायद ही किसी को होती हो। और लोग अकलीगद्दा लगाते हैं, बुकसेलर को इसका प्रत्यक्ष अनुभव होता है। अभी थोडे दिन हुए एक समाचार पत्र ने कई बडे-बड़े बुकसेलरों से पूछा था कि आजकल आप लोगों के यहाँ किस विषय की पुस्तकों की ज्यादा माँग है। इसका बुकसेलरों ने जो उत्तर दिया, उसका साराश यों है :

'जहाँ तक पुस्तकों की बिक्री का सम्बन्ध है, कल्पना साहित्य बड़ी आसानी से प्रथम स्थान ले लेता है। कहानियों के सग्रह, उपन्यास, नाटक और कई विख्यात लेखको के निबन्ध—यह सब इसी श्रेणी मे आ जाते हैं। लेकिन प्रेम-विषयक और शृङ्गारपूर्ण रचनाओं की अब उतनी खपत नहीं रही, जितनी कई साल पहले थी। क्या इसका मतलब यह है कि प्रेम-कथाओं और कामोत्तेजक विषयों मे लोगों की दिलचस्पी कम होती जा रही है? नहीं। प्रेम और काम सम्बन्धी साहित्य मे लोगों की रुचि बढ़ रही है। हाँ, अब जनता को केवल भावुकता और विकलता से सन्तोष नहीं होता, प्रेम और विवाह आदि का वह वास्तविक और तात्विक ज्ञान प्राप्त करना चाहती है, और इस तरह के साहित्य की माँग बढ़ रही है। उपन्यासों में भी 'सेक्स' सम्बन्धी समस्याओं की चर्चा केवल विरह और मिलन तक नहीं रहती, गृहस्थी और विवाह पर एक नवीन और विचार-पूर्ण ढंग से विचार किया जाने लगा है। प्रेम की मधुर कल्पनाओं से हटकर जन-रुचि विवाह और घर और नर-नारी के

असली जीवन की ओर अधिक झुका हुआ है। जनता केवल कविता नहीं चाहती, गम्भीर-विचार और वैज्ञानिक प्रकाश चाहती है। विनोद-पूर्ण साहित्य और रोमाञ्चकारी जासूसी कहानियों की ओर जनता का प्रेम ज्यो-का-त्यो बना हुआ है। पी० जी० वुडहाउस और थार्न स्मिथ की हास्य कथाओ का बहुत अच्छा प्रचार है। आम तौर पर जो यह ख्याल है कि ऊँची श्रेणी के लोगो मे घासलेटी साहित्य और रक्त और हत्या से भरी हुई कथाओं का विशेष प्रचार है—कम-से-कम हिन्दुस्तान मे उसकी पुष्टि नहीं होती।'

———

साहित्य में ऊंचे विचार की आवश्यकता

रूस मे हाल मे साहित्यकारो मे एक बडे मजे की बहस छिड़ी थी। विषय था—साहित्य का उद्देश्य क्या है? लोग अपनी अपनी गा रहे थे। कोई कहता था—साहित्य सत्य की खोज का नाम है। कोई साहित्य को सुन्दर की खोज कहता था। कोई कहता था--वह जीवन की आलोचना है। कोई उसे जीवन का चित्रण मात्र बतलाता था। आखिर जब यह झगड़ा न तय हुआ तो सलाह हुई कि किसी गंवार से पूछा जाय कि वह साहित्य को क्या समझता है। आखिर यह जत्था मजदूर की खोज मे निकला। दूर न जाना पड़ा। चन्द ही कदम पर एक मजदूर कन्धे पर फावडा रखे, पसीने मे तर आता हुआ दिखाई दिया। एक साहित्य महारथी ने उससे पूछा—क्यो भाई तुम साहित्य किस लिए पढते हो? मजदूर ने उन विद्वज्जनो की ओर विस्मय दृष्टि से देखा। ऐसी मोटी-सी बात भी इन लोगो को नहीं मालूम। देखने मे तो सभी पढे-लिखे से लगते हैं। समझा, शायद यह लोग उसका मजाक उड़ा रहे है। बिना कुछ जवाब दिये आगे बढा। तुरन्त फिर वही प्रश्न हुआ—क्यो भाई, तुम साहित्य किस लिए पढ़ते हो?

मजदूर ने अबकी कुछ जवाब देना आवश्यक समझा। कहीं यह लोग उसकी परीक्षा न ले रहे हो। तैयार छात्र की भाति तत्परता से बोला—जीवन की सच्ची विधि जानने के लिए। इस उत्तर ने विवाद को समाप्त कर दिया। साहित्य का उद्देश्य जीवन के आदर्श को उपस्थित करना है, जिसे पढ़कर हम जीवन मे क़दम-क़दम पर आने

वाली कठिनाइयो का सामना कर सके। अगर साहित्य से जीवन का सही रास्ता न मिले, तो ऐसे साहित्य से लाभ ही क्या। जीवन की आलोचना कीजिए चाहे चित्र खींचिए आर्ट के लिए लिखिए चाहे ईश्वर के लिए, मनोरहस्य दिखाइए चाहे विश्वव्यापी सत्य की तलाश कीजिए—अगर उससे हमे जीवन का अच्छा मार्ग नहीं मिलता, तो उस रचना से हमारा कोई फायदा नही। साहित्य न चित्रण का नाम है, न अच्छे शब्दो को चुनकर सजा देने का, अलंकारो से वाणी को शोभायमान बना देने का। ऊँचे और पवित्र विचार ही साहित्य की जान है।

रूसी साहित्य और हिन्दी

उपन्यास और गल्प के क्षेत्र मे, जो गद्य-साहित्य के मुख्य अग हैं, समस्त ससार ने रूस का लोहा मान लिया है, और फ्रान्स के सिवा और कोई ऐसा राष्ट्र नहीं है, जो इस विषय मे रूस का मुकाबला कर सके। फ्रान्स में बालजाक, अनातोल फ्रान्स, रोमा रोलाॅ, मोपासाॅ आदि संसार प्रसिद्ध नाम हैं, तो रूस मे टालस्टाय, मैक्सिम गोर्की, तुर्गनीव, चेखाव, डास्टावेस्की आदि भी उतने ही प्रसिद्ध हैं, और संसार के किसी भी साहित्य मे इतने उज्ज्वल नक्षत्रों का समूह मुशकिल से मिलेगा। एक समय था कि हिन्दी मे रेनाल्ड के उपन्यासों की धूम थी। हिन्दी और उर्दू दोनो ही रेनाल्ड की पुस्तकों का अनुवाद करके अपने को धन्य समझ रहे थे। डिकेंस, थैकरे, लैम्ब, रस्किन आदि को किसी ने पूछा तक नहीं। पर अब जनता की रुचि बदल गई, और यद्यपि अब भी ऐसे लोगों की कमी नहीं है, जो चोरी, जिना और डाके आदि के वृत्तान्तो मे आनन्द पाते हैं लेकिन साहित्य की रुचि में कुछ परिष्कार अवश्य हुआ है और रूसी साहित्य से लोगो को कुछ रुचि हो गई है। आज चेखाव की कहानियाॅ पत्रों मे बड़े आदर से स्थान पाती हैं और कई बड़े-बड़े रूसी उपन्यासों का अनुवाद हो चुका है। टालस्टाय का तो शायद कोई बड़ा उपन्यास ऐसा नहीं रहा, जिसका अनुवाद न हो गया हो। गोर्की की कम से कम दो पुस्तको का अनुवाद निकल चुका है। तुर्गनीव के Father & Son का 'पिता और पुत्र' के नाम से अभी हाल मे दिल्ली से अनुवाद प्रकाशित हुआ है। टालस्टाय की 'अन्ना' का अनुवाद काशी

से प्रकाशित हुआ है। डास्टावेस्की की एक पुस्तक का अनुवाद निकल चुका है। इस बीच मे अंग्रेजी या फ्रेंच साहित्य की कदाचित् एक भी पुस्तक का अनुवाद नहीं हुआ। जिन लेखको ने रूस को उस मार्ग पर लगाया, जिस पर चलकर आज वह दुखी संसार के लिए आदर्श बना हुआ है, उनकी रचनाएँ क्यों न आदर पाये ?

शिरोरेखा क्यों हटानी चाहिए ?

नागरी लिपि समिति ने जितने उत्साह और योग्यता के अपनी कठिन जिम्मेदारियो को पूरा करना शुरू किया है. उससे आशा होती है कि निकट भविष्य मे ही शायद हम अपना लक्ष्य प्राप्त कर लें। और हर्ष की बात है, कि समिति के प्रस्तावो और आदेशो का उतना विरोध नही हुआ, जितनी कि शका थी। राष्ट्रीय एकीकरण हमे इतना प्रिय हो गया है कि उसके लिए हमसे जो कोई भी माकूल बात कही जाय, उसे मानने के लिए हम तैयार हैं। शिरोरेखा के प्रश्न को भी समिति ने जिस खूबसूरती से हल किया है, उसे प्रायः स्वीकार कर लिया गया है। शिरोरेखा नागरी अक्षरो का कोई आवश्यक अग नही। जिन ब्राह्मी अक्षरो से नागरी का विकास हुआ है, उन्हीं से बंगला, तामिल, गुजराती आदि का भी विकास हुआ है; मगर शिरोरेखा नागरी के सिवा और किसी लिपि मे नहीं। हम बचपन से शिरोरेखा के आदी हो गये हैं और हमारी कलम जबर्दस्ती, अनिवार्य रूप से ऊपर की लकीर खींच देती है, लेकिन अभ्यास से यह कलम काबू मे की जा सकती है। इसमे तो कोई सन्देह नहीं कि शिरोरेखा का परित्याग करके हम अपने लेखक की चाल बहुत तेज कर सकेंगे और उसकी मन्द गति की शिकायत बहुत कुछ मिट जायगी और छपाई में तो कहीं ज्यादा सहूलियत हो जायगी। रही यह बात कि बिना शिरोरेखा के अक्षर मुंडे और सिर-कटे से लगेंगे, तो यह केवल भावुकता है। जब आखें बेरेखा के अक्षरों की आदी हो जायॅगी, तो वही अक्षर सुन्दर लगेंगे और हमे आश्चर्य होगा कि हमने इतनी सदियों तक क्यो अपनी लिपि के सिर पर इतना बड़ा व्यर्थ का बोझ लादे रखा।